अष्टाध्यायी में प्रयुक्त सञ्ज्ञासूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

दिग्दर्शक

प्रो० चन्द्रभूषण मिश्र

आचार्यचर

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

गवेषिका

अम्बेश्वरी देवी

एम० ए०

मकर-सङ्क्रान्ति

संवत् २०५६ वैक्रमीय

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

समर्पणम्

अनारकलिकागर्भाज्ञातः सर्वगुणान्वितः।
रामराजसुतो धीमान् श्रीहरिहरसञ्ज्ञकः।।
अस्मान् त्यक्त्वा गतोऽकाले यो परत्र परमपदम्।
तस्मै च भ्रातृवर्य्याय प्रबन्धोऽयं समर्प्यते।।

— अम्बेश्वरी

प्राक्कथन

किसी भी भाषा का प्राणतत्त्व है–उसका व्याकरण। विश्व की सर्वाधिक प्राचीन सस्कृत भाषा मे व्याकरणशास्त्र की गणना वेदाङ्गो के मध्य की गयी है। षड्विध वेदाङ्गो में व्याकरण को मुखस्थानीय अर्थात् प्रधान कहा गया है। ''प्रधान के प्रति किया गया प्रयत्न फलवान् होता है'', इस न्याय के अनुसार सस्कृत भाषा के किसी भी जिज्ञासु के लिए व्याकरण के प्रति प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। किन्तु व्याकरण वाङ्मय जहा अत्यन्त सुव्यवस्थित एव सयत है, वही उसकी विशालता और जटिलता सामान्य जन के लिए दुराराध्य हो जाती है। आचार्य पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी व्याकरण जगत् का वह प्रकाश-स्तम्भ है, जिसके आलोक मे सस्कृत वाड्मय के बिखरे हुए शब्दरत्न आसानी से ढूँढे जा सकते हैं। प्रकृत शोध-प्रबन्ध अष्टाध्यायी के सज्ञा सूत्रो पर समाधृत है। सज्ञाओं का महत्त्व जैसे लोक-व्यवहार मे है, वैसे ही शास्त्र व्यवहार मे भी। अष्टाध्यायी में आचार्य पाणिनि ने सज्ञा-सूत्रों द्वारा जिन संज्ञाओं का प्रतिपादन किया है, वे आचार्य पाणिनि की अपनी कल्पना है अथवा पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत है। उनका प्रयोजन क्या है? और पाणिनि के पश्चवर्ती व्याकरण जगत् पर उनका प्रभाव क्या है? इन समस्त प्रश्नो को उत्तरित करने का प्रयास प्रकृत शोध प्रबन्ध मे किया गया है।

अध्ययन के उष· काल से लेकर शोध कार्य पर्यन्त मेरी अध्ययन यात्रा प्रत्येक स्तर पर अवरुद्ध सी होकर आगे बढ़ती रही। सर्वप्रथम इसे आगे बढ़ाने का श्रेय गुरुदेव (स्व०) श्री राम आधार शर्मा को जाता है, जिनके दबाव के कारण घरवालों ने मेरा प्रवेश हाईस्कूल में कराया। प्रवेश के पश्चात् अध्ययन क्रम तो आगे बढ़ता गया किन्तु इण्टरमीडिएट परीक्षा के समय अनभ्रवज्रपात हो गया और मेरे अग्रज श्री हरिहर प्रकाश मिश्र, जो मेरी पढ़ाई के प्रेरणा-स्त्रोत थे, वे कराल-काल के क्रूर आघात को सह न सके और भरे-पूरे परिवार को छोड़कर परमपद को प्राप्त हो गये। मै गुरुदेव (स्व०) श्री शर्मा और अग्रज (स्व०) श्री मिश्र का स्मरण किन शब्दों मे करूँ? यह मेरे लिए अत्यन्त दु·साध्य है। मेरे शोध प्रबन्ध को देखकर इन दिवङ्गत

आत्माओं की प्रसन्नता ही मेरी सबसे बडी उपलब्धि है। इण्टरमीडिएट की परीक्षा किसी प्रकार सर्वश्री ठाकुर प्रसादवर्मा प० अवधनारायण मिश्र, महावीर सिंह, हरिपाल सिह, अमरनाथ सिंह, मौलवी साहब और प्राचार्य श्री वशराज सिंह के प्रोत्साहन से ही दे सकी, इन गुरुजनो के प्रति आभार व्यक्त करना तो महज औपचारिकता है, सच तो यह है कि यदि इन गुरुजनो का सम्बल न प्राप्त होता, तो मेरी माध्यमिक शिक्षा सम्भवत अपूर्ण ही रह जाती।

माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् परिस्थितिया जब बाधक बनकर खडी हो गयी तो उसे कुलपूज्य प० श्री रामदुलार शुक्ल की प्रेरणा से परमश्रद्धास्पदा माता श्रीमती अनारकली एव पितृपाद प० रामराज मिश्र ने दूर किया, जिसके प्रति मै सर्वथा सर्वदा श्रद्धावनत हूँ। क्योकि यदि इन सबका सहज वात्सल्य मुझे प्राप्त न होता तो शोधकार्य तो दूर मेरी उच्चशिक्षा प्राप्त करने की अदम्य आकाङ्क्षा भी अधूरी ही रह जाती। ग्राम्य-परिवेश की जटिल बन्धन-श्रृङ्खलाओं को तोडते हुए मुझे उच्च शिक्षा के लिये घर से दूर भेजना, माता-पिता के शिक्षा के प्रति अतिशयित समर्पण को ही अभिव्यक्त करता है, ऐसी परिस्थिति मे उनके प्रति अनृण कामना ही वस्तुत. मेरा अक्षम्य अपराध होगा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे प्रवेश के साथ मुझे सस्कृत साहित्य के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शनै शनै मेरी प्रवृत्ति सस्कृत भाषा के प्रति बढती गयी, जिसके परिणामस्वरूप मैने स्नातकोत्तर कक्षा मे सस्कृत विषय पढ़ने का निश्चय किया। अध्ययन काल मे व्याकरण के प्रति मेरी अभिरुचि देखकर सस्कृत विभाग के तात्कालिक विभागाध्यक्ष प्रो० हरिशङ्कर त्रिपाठी ने मुझे व्याकरण मे शोधकार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। उन्ही की कृपा से मुझे ''अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त सज्ञा सूत्रो का समीक्षात्मक अध्ययन'' विषय भी आवण्टित हुआ। विषय की दुरूहता को देखते हुए प्रोफेसर त्रिपाठी ने विभाग के वरिष्ठ आचार्य प्रोफेसर चन्द्रभूषण मिश्र के निर्देशन मे शोध करने का अवसर प्रदान किया, जिसे प्रोफेसर मिश्र ने अपने सहज-सरल स्वभावानुरूप स्वीकार कर लिया। छात्र जीवन से ही प्रोफेसर त्रिपाठी जी का जो अतुलनीय स्नेह मुझे मिला, उसके लिए मै हृदय से श्रद्धावनत हूँ।

मेरे शोध-निर्देशक प्रोफेसर चन्द्रभूषण मिश्र ने जिस तन्मयता और पितृतुल्य स्नेह से शोधकार्य मे मार्गदर्शन प्रदान किया, वह अपने आप मे सर्वथा अनुपम है। जिसके लिए किसी

भी प्रकार का औपचारिक आभार-प्रदर्शन उनके सहज-स्नेह के गौरव का विघातक होगा। सस्कृत-विभाग के विभागाध्यक्षचर प्रोफेसर सुरेशचन्द्र पाण्डे को मै हार्दिक नमन करती हूँ, जिनका सहज-स्नेह इस दुरूह कार्य को पूरा करने मे सर्वदा सम्बल रहा। विभाग की वर्तमान विभागाध्यक्षा प्रोफेसर मृदुला त्रिपाठी, वरिष्ठ आचार्या प्रोफेसर राजलक्ष्मी वर्मा एव डा० रञ्जना के प्रति मै कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होने समय-समय पर मेरा उत्साह-वर्धन किया।

सस्कृत विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ० रामकिशोर शास्त्री के लिए कोई भी औपचारिकता व्यक्त करना मेरे द्वारा सम्भव नही है, क्योकि उनका अजस्र मार्गदर्शन और अमूल्य सन्निधि मेरे लिए सर्वदा साधिका रही है। महाकवि माघ की यह उक्ति –

''बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।

सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।।''

उनके और मेरे प्रति सर्वथा चरितार्थ है। डॉ०शास्त्री का अभिभावक के रूप मे मेरे शिर पर दिये गये वरदहस्त का ही परिणाम है—यह शोध प्रबन्ध, जिसके लिए कृतज्ञता प्रकाशन हेतु मेरे पास शब्दो का अत्यन्ताभाव है। विभाग की ही प्राध्यापिका डा० के०जे०नसरीन, डा० मञ्जुला जायसवाल एव प्राध्यापक (स्व०) डा० वीरेन्द्र कुमार सिंह और डा० उमाकान्त यादव के प्रति मै सहज श्रद्धावनत हूँ, जो मेरे लिए सदैव प्रेरणादायक रहे है।

विभागीय शोधच्छात्र सर्वश्री अरविन्द कुमार शुक्ल, कमल देव शर्मा, सरवरे आलम, नीरज कुमार शुक्ल और पवन कुमार द्विवेदी तथा शोधच्छात्रा सुश्री विनीतारानी, मनीषा त्रिपाठी एव कविता पाण्डेय और शुभ चिन्तक गण शशाङ्कशेखर पाण्डेय, राजीव गुप्ता, अमरेश कुमार पाण्डेय, दिनेश दीक्षित, अजीत और भगवानदास ने शोधकार्य सम्पादन मे जो उत्साहवर्धन किया, उसके लिए मैं इन सबको कोटिश धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। मेरे छात्रावास जीवन की अभिन्न सङ्गिनी प्रियङ्का वर्मा, मोनिका गोयल, रूबीरानी सिंह, नीलम सिंह, नीलम यादव, रेखा वर्मा तथा निहारिका को अनन्य सहयोग के लिए मै आभार प्रकट करती हूँ। विभागीय शोधच्छात्र अनुजकल्प चिरञ्जीव लक्ष्मीकान्त पाण्डेय एव धर्मानुज वेद प्रकाश, प्रदीप कुमार, श्याम, एव बहन कुसुम त्रिपाठी को भी मै साधुवाद देती हूँ, जिन्होंने शोधकार्य मे विधिवत् सहयोग प्रदान करके अपने दायित्व का यथार्थ निर्वाह किया है। इसी प्रसङ्ग मे भाई अशोक मिश्र और बहन पुष्पा मिश्रा

को मै कैसे भूल सकती हूँ, जिनके पुत्र सङ्कल्प ने शोधकार्यजनित मानसिक श्रम को अपनी बालसुलभ चञ्चलताओं से सदैव दूर किया।

मेरे अध्ययन को सदैव अग्रजद्वय श्री हरिओम प्रकाश मिश्र और श्री दुर्गा प्रकाश मिश्र तथा प्रजावतीत्रयी श्रीमती कृष्णा मिश्रा, श्रीमती शिवकुमारी और श्रीमती माधुरी ने अपनी असीम वात्सल्य से सर्वविध सरल बनाया, जिसके लिए मै मनसा नमन करती हूँ। मेरी अग्रजाओं श्रीमती रामकुमारी, श्रीमती रामलली एव श्रीमती इन्दुमती द्वारा दिये गये प्रेमाशीष से ही मेरा शोध कार्य पूरा हुआ है, एतदर्थ इन सबके प्रति नमन करना मै अपना कर्तव्य समझती हूँ। मै अपनी भ्रातृजा मुक्तेश्वरी को हृदय से साधुवाद देती हूँ, जिसने साथ रहकर मेरे प्रति अपने कर्तव्य का सदैव ध्यान रखा। चिरञ्जीव शैलेन्द्र, अखिलेश्वरी, कमलेश्वरी, जिज्ञासा, उमा, पवन, राममूर्ति, शिवमूर्ति, सन्ध्या, सुधा, विपिन, विनय, विभव, शिवम्, ललित, जयप्रकाश, ममता, अरविन्द, विमल, आकाश आदि समस्त परिवार जनो को भी मै यथोचित साधुवाद देती हू।

शोध प्रबन्ध के टङ्कणकर्ता राजेश कुमार शर्मा ''प्रभा कम्प्यूटर्स'' और उनके सहयोगियो को भी मै भूरि-भूरि साधुवाद देती हूँ जिन्होने अपने अथक श्रम के द्वारा टङ्कण कार्य को यथा सम्भव शुद्ध रूप मे सम्पन्न करने का प्रयास किया है।

गुरुकृपा और स्वाध्याय जनित श्रम के बल पर विषय को समझने और उसको यथावत् निबद्ध करने का मैने भरपूर प्रयास किया है। मेरी लेखनी ने विषय के साथ कितना न्याय किया है? इसका निर्णय तो वे सुधीजन करेगे, जिनके समक्ष यह शोध प्रबन्ध सादर प्रस्तुत है। अन्त मे, अन्य समस्त ज्ञाताज्ञात शुभचिन्तको को यथोचित साधुवाद प्रदान करती हुई मैं प्रकृत शोध-प्रबन्ध को नीर-क्षीर विवेक हेतु प्रस्तुत करने का कर्तव्य-निर्वाह कर रही हूँ।

मकर सङ्क्रान्ति

सम्वत् २०५६ वैक्रमीय

विदुषाम् वशवदा

अम्बेश्वरी देवी

(अम्बेश्वरी देवी)

विषयानुक्रमणिका

सङ्केतानुक्रमणिका

१	अष्टाध्यायी	अष्टा०
२	अथर्ववेद प्रातिशाख्य	अ० प्रा०
३	अग्नि पुराण	अ० पु०
४	ऋक्प्रातिसाख्य	ऋ० प्रा०
५	ऋक्तन्त्र	ऋ० त०
६	काशकृत्स्न व्याकरण	का० कृ० व्या०
७	काशिका वृत्ति	का० वृ०
८	कातन्त्र व्याकरण	का० व्या०
९	काशकृत्स्न धातुवृत्ति	का० धा० वृ०
१०	गोपथ ब्राह्मण	गो० ब्रा०
११	गोभिल गृह्य सूत्र	गो० गृ० सू०
१२	चान्द्र व्याकरण	चा० व्या०
१३	जैनेन्द्र व्याकरण	जै० व्या०
१४	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	तै० प्रा०
१५	नारद पुराण	ना० पु०
१६.	नाट्य शास्त्र	ना० शा०
१७.	निरुक्त	नि०
१८	प्रयोगरत्नमाला	प्र० र० मा०
१९	प्रौढमनोरमा	प्रौ० म०
२०	बालमनोरमा	बा० म०
२१	बृहद्देवता	बृ० दे०

२२	महाभाष्य-प्रदीप-उद्योत	महा० प्र० उ०
२३	महाभाष्य-प्रदीप	महा० प्र०
२४	मुग्धबोध व्याकरण	मु० बो० व्या०
२५	लघुशब्देन्दुशेखर	लघु० श० शे०
२६	वाजसनेयिप्रातिशाख्य	वा० प्रा०
२७.	वाक्यपदीय	वा० प०
२८	वार्त्तिक	वा०
२९	शौनकीय चतुराध्यायिका	शौ० च० आ०
३०	शब्दानुशासन	शब्दा०
३१	शाकटायन व्याकरण	शा० व्या०
३२	सिद्धान्तकौमुदी	सि० कौ०
३३	सरस्वतीकण्ठाभरण	स० क० भ०
३४.	सिद्धहेमशब्दानुशासन	सि० हे० शब्दा०
३५.	सारस्वतव्याकरण	सा० व्या०
३६.	सुपद्मव्याकरण	सु० व्या०
३७	स्वोपज्ञवृत्ति	स्वो० वृ०
३८	सूत्रसख्या	सू० स०
३९.	संक्षिप्तसार	स० सा०
४०	हरिनामामृतव्याकरण	ह० ना० व्या०

प्रथम अध्याय

व्याकरणपरम्परा एवम् आचार्य पाणिनि

विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद है। भारतीय मनीषियों ने वदो की सुरक्षा के लिए वेदाङ्गों की रचना की। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, इन षड्विध वेदाङ्गो मे व्याकरण को प्रधान माना गया है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार वेद पुरुष के चरण छन्दशास्त्र, हस्त कल्पशास्त्र, नेत्र ज्योतिष-शास्त्र, कर्ण निरुक्त-शास्त्र, नासिका शिक्षाशास्त्र तथा मुख व्याकरण-शास्त्र है।[1] वेदाङ्गो की वेद पुरुष के अवयवरूप की एवविध कल्पना शौनकीयचरणव्यूह, कात्यायनचरणव्यूह, शैशीरीय शिक्षा आदि ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होती है।[2] महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनो मे वेदो की रक्षा को सर्वप्रथम स्थान दिया है—वेदाना रक्षार्थमध्येय व्याकरणम्।[3] अर्थात् वेदो की रक्षा हेतु व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।

भारतीय चिन्तन की अधिकाश विधा के समान व्याकरण शास्त्र का भी उत्स वेद ही है। विद्वानो ने ऋग्वेद के ''चत्वारि वाक्परिमितापदानि '' को व्याकरण शास्त्र का उत्स माना है। अनेक वैदिक मन्त्रो मे अनेक पदो की व्युत्पत्तियॉ उपलब्ध होती है जिनसे व्याकरण की वेदमूलकता के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। ऋग्वेद मे ''यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः[4]'', ''ये सहॉन्सि सहसा सहन्ते[5]'' और ''स्तोत्रभ्यो महते मघम्''[6]; यजुर्वेद मे ''धान्यमसि धिनुहि देवान्''[7], ''केतपू. केत न पुनातु''[8], सामवेद मे ''येन देवा पवित्रेणात्मान पुनते सदा''[9] और अथर्ववेद मे ''तीर्थैंग्नरन्ति''[10] इत्यादि स्थल इसी तथ्य के प्रतिपादक है। आचार्य यास्क ने भी ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् .'[11] इत्यादि मन्त्र की व्याकरणशास्त्रपरक व्याख्या लिखकर उक्त तथ्य का ही समर्थन किया है। शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनो के वर्णन-प्रसङ्ग मे 'चत्वारि श्रृङ्गा'[12], 'चत्वारि वाक्'[13], 'उत् त्व '[14], 'सक्तुमिव'[15] और 'सुदेवोऽसि'[16] इन पॉच मन्त्रो को उद्धृत करके इनकी व्याख्या व्याकरणशास्त्रपरक की है। जिससे स्पष्ट होता है कि अन्य शास्त्रो की तरह व्याकरण शास्त्र का भी मूल स्रोत वेद ही है।

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति कब हुई? इसे इदमित्थ रूप से कह पाना सर्वथा असम्भव है किन्तु

ब्राह्मण ग्रन्थो मे शब्द के निर्वचन का प्रारम्भ दृष्टिगोचर होता है। गोपथ ब्राह्मण मे तो पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों—धातु, प्रातिपदिक, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग और निपात आदि—का प्रयोग उपलब्ध होता है।[१७] इसके अतिरिक्त रामायण[१८], मुण्डकोपनिषद्[१९], महाभारत[२०] और निरुक्त[२१] आदि अनेक ग्रन्थो मे शब्दशास्त्र के लिए व्याकरण शब्द का प्रयोग मिलता है। महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि के अनुसार भी अत्यन्त पुराकाल मे व्याकरण-शास्त्र का पठन-पाठन प्रचलित था।[२२]

व्याकरण-शास्त्र का प्रथम प्रवक्ता कौन है? इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए ऋक्ततन्त्रकार ने ब्रह्मा को व्याकरण का आदि प्रवक्ता माना है। उनके अनुसार ब्रह्मा ने व्याकरण-शास्त्र का उपदेश देवगुरु वृहस्पति को प्रदान किया था, वृहस्पति से इन्द्र, इन्द्र से भरद्वाज, भरद्वाज से ऋषिगण और ऋषियो से ब्राह्मणो ने व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया।[२३] चीनी यात्री ह्वेनसॉग ने भी अपने भारतभ्रमण वृत्तान्त मे ब्रह्मदेवकृत व्याकरण का निर्देश किया है।[२४] आचार्य पतञ्जलि के महाभाष्य से भी ज्ञात होता है कि वृहस्पति ने इन्द्र के लिए प्रतिपद पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था।[२५] इन्द्र ने ही प्रतिपदपाठ रूपी प्रक्रिया की दुरूहता को समझकर पदो के प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्दोपदेश प्रक्रिया की प्रकल्पना की, जिसके साक्ष्य हमे तैत्तिरीय सहिता मे उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार पुराकाल मे वाणीअव्याकृत बोली जाती थी। देवो ने इन्द्र से कहा कि इस वाणी को व्याकृत करो। इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोडकर व्याकृत किया।[२५] तैत्तिरीय संहिता के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने स्पष्ट रूप से प्रकृति-प्रत्यय विभाग का उल्लेख किया।[२६]

सस्कृत-वाड्मय मे ब्रह्मा के अतिरिक्त भगवान् शिव को भी व्याकरण का आदि प्रवक्ता माना गया है। महाभारत के शान्ति-पर्व मे शिव को षडङ्ग का प्रवर्तक कहा गया है।[२७] पाणिनीय शिक्षा मे भी भगवान् महेश्वर (शिव) से चतुर्दश प्रत्याहार सूत्रो को पाणिनि द्वारा प्राप्त करने की बात कही गयी है।[२८] इसीलिए प्रत्याहार-सूत्र माहेश्वर-सूत्र (शिव-सूत्र) कहलाते है। हैम वृहद्वृत्यवचूर्णि[२९] और ऋग्वेदकल्पद्रुम के कर्त्ता आचार्य केशव[३०] ने भी शिव प्रोक्त व्याकरण का स्पष्ट उल्लेख किया है। सारस्वत-भाष्य[३१] मे तो भगवान् शङ्कर मे व्याकरण की स्थिति समुद्र के समान कही गयी है। सम्भवत परवर्ती-काल मे व्याकरण-शास्त्र दो सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था, जिसमें एक सम्प्रदाय माहेश्वर

था और दूसरा ऐन्द्र। युधिष्ठिर मीमासक जैसे विद्वान् आचार्य पाणिनि को माहेश्वर सम्प्रदाय का मानते है और कातन्त्र व्याकरण को ऐन्द्र-सम्प्रदाय का।[३२]

सस्कृत-भाषा के अनेक व्याकरणो का उल्लेख उपलब्ध होता है। हेमवृहद्वृत्यवचूर्णि मे आठ व्याकरण गिनाये गये है। जिनके नाम है–ब्राह्म, ऐशान, ऐन्द्र, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, त्वाष्ट्र, आपिशल और पाणिनीय।[३३] ऋग्वेदकल्पद्रुम मे यामलाष्टकतन्त्रनिर्दिष्ट निम्न आठ व्याकरण उद्धृत है[३४]– ब्राह्म, चान्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सौम्य और वैष्णव। आचार्य बोपदेव ने इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र के रूप मे आठ आदि वैयाकरणो का उल्लेख किया है।[३५] निरुक्त-वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने भी 'व्याकरणमष्टप्रभेद' कहकर आठ व्याकरणो के अस्तित्व को अङ्गीकार किया है।[३६] रामायण[३७], गीतासार[३८] और श्रीतत्त्वविधि मे नौ व्याकरणो का उल्लेख हुआ है। श्रीतत्त्वविधि मे तो इन नौ व्याकरणो का नाम्ना उल्लेख किया गया है।[३९] काशिकावृत्ति मे पाँच व्याकरणो का उल्लेख तो मिलता है किन्तु उनका नाम्ना निर्देश नही है।[४०]

सम्प्रति सस्कृत-भाषा के व्याकरण के रूप मे सर्वाधिक समादृत पाणिनीय-व्याकरण ही है, तो भी उपर्युक्त विवरण से यह तो सुस्पष्ट ही है कि सस्कृत-भाषा मे व्याकरण-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणो ने अपनी प्रतिभा का उपयोग व्याकरण-शास्त्र को सजाने-सँवारने मे किया है। इनमें कुछ का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने स्वय किया है और कुछ का उल्लेख पाणिनीयेतर ग्रन्थो में मिलता है। पाणिनि द्वारा अनुल्लिखित किन्तु उनसे प्राचीन षोडश वैयाकरणो का उल्लेख युधिष्ठिर मीमासक ने किया है। जिनके नाम निम्न है– माहेश्वर (शिव) वृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न, शान्तनव, वैय्याघ्रपद्य, माध्यन्दिनि, रौढ, शौनकि, गौतम और व्याडि।[४१]

आचार्य पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे दस आचार्यों का नाम्ना उल्लेख किया है जो या तो पाणिनि के पूर्ववर्ती रहे होगे अथवा समकालिक। जिन आचार्यो का पाणिनि ने उल्लेख किया है, उनके नाम है–१. **काश्यप**–आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे इनका तीन बार उल्लेख किया गया है।[४२] २. **सेनक**– आचार्य पाणिनि ने आचार्य सेनक का नाम अष्टाध्यायी मे एक बार प्रयुक्त किया है।[४३] ३. **आपिशलि**– पाणिनि द्वारा आचार्य आपिशलि का एक बार ही उल्लेख किया गया है[४४] किन्तु

पतञ्जलि, वामन, हरदत्त, न्यासकार, कैय्यट तथा मैत्रेयरक्षित आदि ने भी इनका उल्लेख किया है। ४ **स्फोटायन**– आचार्य स्फोटायन का भी नाम पाणिनीय सूत्रो मे एक बार ही आया है।[४५] पदमञ्जरीकार हरदत्त ने भी इनका उल्लेख किया है।[४६] सम्भवत से स्फोटवाद के प्रवर्तक है। ५. **चाक्रवर्मण**–आचार्य पाणिनि ने चाक्रवर्मण का उल्लेख एकधा ही किया है।[४७] उणादि सूत्रो मे भी इनका नामोल्लेख प्राप्त होता है।[४८] ६. **भारद्वाज**–अष्टाध्यायी मे भारद्वाज का स्मरण आचार्य पाणिनि ने दो बार किया है।[४९] भारद्वाज का व्याकरण सम्बन्धी मत तैत्तिरीयप्रतिशाख्य मे भी उपलब्ध होता है। ७. **गार्ग्य**–आचार्य पाणिनि द्वारा महर्षि गार्ग्य का उल्लेख तीन बार किया गया है।[५०] प्रातिशाख्यो मे उद्धृत मतो के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था। ८. **शाकल्य**–अष्टाध्यायी मे आचार्य शाकल्य का स्मरण महर्षि पाणिनि द्वारा चार बार किया गया है।[५१] शाकल्य के व्याकरण मे लौकिक, वैदिक-उभयविध शब्दो का अन्वाख्यान था। संस्कृत-वाङ्मय मे शाकल्य, स्थविरशाकल्य, विदग्ध शाकल्य और वेदमित्र शाकल्य, ये चार नाम उपलब्ध है। जिनमे पाणिनि द्वारा स्मृत शाकल्य और ऋग्वेद के पदकार वेदमित्र शाकल्य को युधिष्ठिर मीमासक एक ही मानते है।[५२] ९. शाकटायन–आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे शाकटायन का तीन बार उल्लेख किया है।[५३] ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेयि प्रातिशाख्य मे भी इनका नाम नैकधा प्राप्त होता है। निरुक्तकार ने भी शाकटायन के मत को उद्धृत किया है।[५४] शाकटायन सभी नाम शब्दो को धातुज मानते है। काशिका मे प्रदत्त ''अनुशाकटायन वैयाकरणा '' और ''उपशाकटायन वैय्याकरणा '' उदाहरणो से ज्ञात होता है कि शाकटायन वैयाकरणो मे प्रमुख थे। नागेशभट्ट शाकटायनप्रणीत व्याकरण को केवल लौकिक पदो का अन्वाख्यान मानते है। किन्तु निरुक्त, महाभाष्य और प्रातिशाख्यो मे उद्धृत शाकटायन के मतो की विवेचना के आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शाकटायन व्याकरण मे लौकिक, वैदिक-उभयविध पदो का अन्वाख्यान था। १०. **गालव**–अष्टाध्यायी मे आचार्य गालव का नाम चार बार प्रयुक्त हुआ है।[५५] निरुक्त[५६], बृहद्देवता[५७], ऐतरेय आरण्यक[५८], वायुपुराण[५९], चरक सहिता[६०] आदि ग्रन्थो में भी आचार्य गालव के मतो को उद्धृत किया गया है।

उपर्युक्त आचार्यो के अतिरिक्त कुछ आचार्यो के मतो का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने सर्वनाम शब्दो द्वारा किया है। जैसे–उदीचाम्[६१], एकेषाम्[६२], आचार्याणाम्[६३] और प्राचाम्[६४]। पाणिनि के इन

पतञ्जलि, वामन, हरदत्त, न्यासकार, कैय्यट तथा मैत्रेयरक्षित आदि ने भी इनका उल्लेख किया है। ४. **स्फोटायन**– आचार्य स्फोटायन का भी नाम पाणिनीय सूत्रों मे एक बार ही आया है।[४५] पदमञ्जरीकार हरदत्त ने भी इनका उल्लेख किया है।[४६] सम्भवत से स्फोटवाद के प्रवर्तक है। ५. **चाक्रवर्मण**–आचार्य पाणिनि ने चाक्रवर्मण का उल्लेख एकधा ही किया है।[४७] उणादि सूत्रो मे भी इनका नामोल्लेख प्राप्त होता है।[४८] ६. **भारद्वाज**–अष्टाध्यायी मे भारद्वाज का स्मरण आचार्य पाणिनि ने दो बार किया है।[४९] भारद्वाज का व्याकरण सम्बन्धी मत तैत्तिरीयप्रतिशाख्य मे भी उपलब्ध होता है। ७. **गार्ग्य**–आचार्य पाणिनि द्वारा महर्षि गार्ग्य का उल्लेख तीन बार किया गया है।[५०] प्रातिशाख्यो मे उद्धृत मतो के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था। ८. **शाकल्य**–अष्टाध्यायी मे आचार्य शाकल्य का स्मरण महर्षि पाणिनि द्वारा चार बार किया गया है।[५१] शाकल्य के व्याकरण मे लौकिक, वैदिक-उभयविध शब्दो का अन्वाख्यान था। सस्कृत-वाङ्मय मे शाकल्य, स्थविरशाकल्य, विदग्ध शाकल्य और वेदमित्र शाकल्य, ये चार नाम उपलब्ध है। जिनमे पाणिनि द्वारा स्मृत शाकल्य और ऋग्वेद के पदकार वेदमित्र शाकल्य को युधिष्ठिर मीमासक एक ही मानते है।[५२] ९ शाकटायन–आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे शाकटायन का तीन बार उल्लेख किया है।[५३] ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेयि प्रातिशाख्य मे भी इनका नाम नैकधा प्राप्त होता है। निरुक्तकार ने भी शाकटायन के मत को उद्धृत किया है।[५४] शाकटायन सभी नाम शब्दो को धातुज मानते हैं। काशिका मे प्रदत्त ''अनुशाकटायन वैयाकरणा.'' और ''उपशाकटायन वैय्याकरणा.'' उदाहरणो से ज्ञात होता है कि शाकटायन वैयाकरणो मे प्रमुख थे। नागेशभट्ट शाकटायनप्रणीत व्याकरण को केवल लौकिक पदो का अन्वाख्यान मानते है। किन्तु निरुक्त, महाभाष्य और प्रातिशाख्यो मे उद्धृत शाकटायन के मतो की विवेचना के आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शाकटायन व्याकरण मे लौकिक, वैदिक-उभयविध पदो का अन्वाख्यान था। १०. गालव–अष्टाध्यायी मे आचार्य गालव का नाम चार बार प्रयुक्त हुआ है।[५५] निरुक्त[५६], बृहद्देवता[५७], ऐतरेय आरण्यक[५८], वायुपुराण[५९], चरक सहिता[६०] आदि ग्रन्थो मे भी आचार्य गालव के मतो को उद्धृत किया गया है।

उपर्युक्त आचार्यो के अतिरिक्त कुछ आचार्यो के मतो का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने सर्वनाम शब्दों द्वारा किया है। जैसे–उदीचाम्[६१], एकेषाम्[६२], आचार्याणाम्[६३] और प्राचाम्[६४]। पाणिनि के इन

उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि के आविर्भाव के पूर्व सस्कृत-व्याकरण की अत्यन्त समृद्ध परम्परा विद्यमान थी। किन्तु आचार्य पाणिनि के सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण के समक्ष लगभग सभी आचार्यो के व्याकरण प्रभाहीन होते गये और अपना अस्तित्व भी काल के कराल प्रवाह मे विलीन करते गये।

भारतीय मनीषियो की यह अलिखित-सी परम्परा रही है कि उन्होने अपने विषय मे कही कुछ नही लिखा। आचार्य पाणिनि भी इसके अपवाद नही है। पश्चवर्ती ग्रन्थो और जनश्रुतियो के आधार पर पाणिनि के विषय मे जो तथ्य उपलब्ध होते है, उन्ही के आधार पर हम पाणिनि के विषय मे कुछ जानने का प्रयास करेगे। त्रिकाण्डशेष के रचयिता आचार्य पुरुषोत्तम देव ने पाणिनि के छह नामो की चर्चा की है।[६५] वैजयन्ती कोश मे भी ''शालातुरीयको दाक्षीपुत्र· पाणिनिराहिक '' के द्वारा पाणिनि के चार नामो की चर्चा की गई है। कोशो मे उपलब्ध इन्ही नामो के आधार पर पण्डित शिवदत्त शर्मा ने पाणिनि के विषय मे यत्किञ्चित् जानने का प्रयास किया है—**१. पाणिन**—इस नाम का उल्लेख काशिकावृत्ति[६६] तथा चान्द्रवृत्ति[६७] मे उपलब्ध होता है। नकारान्त पाणिन् शब्द से अपत्यार्थ मे अण् प्रत्यय होकर पाणिन शब्द को निष्पत्ति होती है[६८] **२. पाणिनि**—यह अष्टाध्यायीकार का लोक विश्रुत नाम है। इसकी व्युत्पत्ति के सन्दर्भ मे वैयाकरणो मे दो मत हे। प्रथम मतानुसार नकारान्त पाणिन् शब्द से अपत्यार्थ मे अण् होकर पाणिन और उससे पुन· अपत्यार्थ मे इञ् होकर पाणिनि शब्द निष्पन्न होता है। दूसरे मत के अनुसार अकारान्त पणिन शब्द से इञ् प्रत्यय होकर पाणिनि शब्द उपपन्न होता है। पाणिनि के लिए प्रयुक्त पणिपुत्र शब्द भी इसी शब्द का ज्ञापक है। वैसे नकारान्त पणिन् शब्द से भी बह्वादि आकृतिगण के आधार पर इञ् प्रत्यय सम्भव है। प० शिवदत्त शर्मा के अनुसार पणिन् और पाणिनि दोनो ही नाम अष्टाध्यायीकार के गोत्र के आधार पर विहित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पाणिनि का आविर्भाव पणिन् गोत्र मे हुआ था जो गोत्रावली के अनुसार ब्राह्मणो का गोत्र है। **३. दाक्षीपुत्र**— अष्टाध्यायीकार के इस नाम का उल्लेख महाभाष्य[६९], समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित[७०] और पाणिनीय शिक्षा[७१] आदि ग्रन्थों मे हुआ है। आचार्य पाणिनि के इस नाम से सुस्पष्ट है कि उनकी माता का नाम दाक्षी था। **४. शालङ्कि**—पण्डित शिवदत्त शर्मा के अनुसार यह पाणिनि का पितृव्यपदेशज नाम है। पैलादिगण (अष्टा०, २।४।५९) में शालङ्कि पाठ के सामर्थ्य से शलङ्कु को शलङ्क आदेश और इञ् प्रत्यय होकर इस शब्द की निष्पत्ति होती है।[७२] इसके अनुसार आचार्य पाणिनि के पिता का नाम शलङ्कु था। **५. शालातुरीय**—

आचार्य पाणिनि के लिए इस नाम का निर्देश वलभी के ध्रुवसेन द्वितीय के ताम्रपत्र[७३], भामह के काव्यालङ्कार[७४], न्यास[७५] तथा गणरत्न महोदधि[७६] मे प्राप्त होता है। यह पाणिनि का देशव्यपदेशज नाम है। अर्थात् पाणिनि शलातुर (सलातुर) के रहने वाले थे। इतिहासकारो के अनुसार यह स्थान पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के अटक जिले का लाहुर है जो शलातुर का अपभ्रन्श रूप है। ६. **आहिक**– पण्डित शिवदत्त शर्मा[७७] के अनुसार यह पाणिनि का मूल नाम था जो उनके अन्य नामो की तुलना मे अप्रसिद्ध हो गया। इन नामो के अतिरिक्त महर्षि पाणिनि के लिए 'यशस-तिलकचम्पू' मे पणिपुत्र[७८] और पाणिनीय शिक्षा के याजुष् पाठ में पाणिनेय[७९] नाम भी उपलब्ध होता है।

आचार्य पाणिनि का आविर्भाव कब हुआ था? इस विषय मे भी इदमित्थ रूप से कुछ नही कहा जा सकता। विद्वानो द्वारा निर्धारित काल के सम्बन्ध मे यदि हम समीक्षा करे तो इनकी उपरितम सीमा २६०० वि०पू० है, जिसे युधिष्ठिर मीमासक मानते है। इनके आविर्भाव की निम्नतम कालावधि को कीथ आदि विद्वान् ३०० ई०पू० स्वीकार करते है। अन्य सभी इतिवृत्तवेत्ता विद्वान् इन्हीं दोनो कालावधियो के मध्य पाणिनि का आविर्भाव मानते हैं। श्री सत्यव्रत सामश्रमी इनका समय २४०० ई०पू०, राजवाड़े एव वैद्य ६००-८०० ई०पू०; वेलवलकर ७००-६०० ई०पू०; भण्डारकर ७०० ई०पू०, बलदेव उपाध्याय५०० ई०पू०; मैक्डॉनल ५०० ई०पू० और मैक्समूलर ३५० ई०पू० स्वीकार करते है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल इनकी तिथि ई०पू० पाँचवी शताब्दी के मध्य निर्धारित करते है। इन सभी विद्वानो के अपने-अपने तर्क है, किन्तु यदि पाणिनि की अष्टाध्यायी का गहन अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि पाणिनि जिस भाषा का व्याकरण लिख रहे थे, वह उनके काल की लोकभाषा थी। तभी तो आचार्य पाणिनि ने शूद्रो के अभिवादन-प्रत्यभिवादन के नियम का उल्लेख किया है[८०] पाणिनि ने सामान्य लोगो के लिए भी वैदिक भाषा के समान उदात्त-अनुदात्त और स्वरित के प्रयोग की बात कही है।[८१] यही नही 'निर्वाणोऽवाते'[८२] सूत्र मे निर्वाण का अर्थ शान्त होना, बुझ जाना अथवा मर जाना वैयाकरणो ने किया है।[८३] जबकि बौद्ध-साहित्य मे निर्वाण शब्द का प्रसिद्ध अर्थ मोक्ष है। इससे स्पष्ट होता है कि यदि पाणिनि बुद्ध के पश्चवर्ती होते तो पाणिनि निर्वाण के इस प्रसिद्ध अर्थ का उल्लेख अवश्य करते। गौतम बुद्ध के समय मे जनभाषा पालि-प्राकृत थी। लोकसभा सस्कृत को पालि और प्राकृत तक परिवर्तित होने मे सैकड़ो वर्षो की समय सीमा अपेक्षित है। इन तथ्यो से

यह सुस्पष्ट है कि पाणिनि का आविर्भाव चाहे जब हुआ हो किन्तु वह समय होगा बुद्धपूर्व, जब सस्कृत लोकभाषा थी।

पारम्परिक जनश्रुतियो और पश्चवर्ती ग्रन्थो के आधार पर कहा जाता है कि आचार्य पाणिनि अपने विद्यार्थी जीवन मे अत्यन्त मन्दबुद्धि छात्र थे। गुरु की डाँट और सहपाठियो के मध्य प्रतिदिन होने वाली अपनी अवमानना से क्षुब्ध पाणिनि भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करने के लिए गुरुकुल छोडकर चले गये। भयावह कान्तार मे जाकर पाणिनि ने भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करने हेतु उग्र तपस्या की। पाणिनि की उग्र तपश्चर्या से प्रसन्न भगवान् शङ्कर ने उनसे वरदान माँगने को कहा तो पाणिनि ने तीव्र बुद्धि का वरदान माँगा। वर-प्रदान के पश्चात् भगवान् शङ्कर ने चौदह बार डमरू बजाया। डमरू की ध्वनि से निःसृत वर्ण-समूह को पाणिनि ने प्रत्याहार सूत्रो के रूप मे उपनिबद्ध कर लिया।[८४] भगवान् शिव (महेश्वर) से प्राप्त होने के कारण ही चतुर्दश प्रत्याहार-सूत्र माहेश्वर-सूत्र कहलाते है। उन्ही माहेश्वर-सूत्रो के आधाराश्म पर महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायीरूपी महाप्रासाद की रचना की, जिसकी चकाचौध से आज भी समस्त विद्वन्मण्डल चमत्कृत है।

जनश्रुतियो के अनुसार आचार्य पाणिनि अपनी कृति को लेकर जब पुन गुरुकुल पहुँचे तो उनकी इस उपलब्धि पर सभी आश्चर्यचकित हो गये। किन्तु पाणिनि को सहपाठी, प्रखर-मेधावी कात्यायन को पाणिनि का यह उत्कर्ष सह्य नही हो सका। एकश्रुत कात्यायन ने समस्त अष्टाध्यायी के सूत्रो को कण्ठस्थ कर उनकी समीक्षा कर डाली। अपने सूत्रो की समीक्षा देखकर महर्षि पाणिनि क्रुद्ध हो गये और सूर्योदय के पूर्व कात्यायन की मृत्यु का शाप दे डाला। कात्यायन ने भी मृत्यु का शाप पाणिनि को दिया। फलत· दोनो आचार्यो की उसी दिन मृत्यु हो गयी। पारम्परिक सूत्रो के अनुसार उस दिन त्रयोदशी थी। उक्त घटना कितनी सच है? इस विषय मे कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु आज भी प्राचीन परम्परा से व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन करने वाले त्रयोदशी को व्याकरण का अनध्याय रखते है। पाणिनि की मृत्यु कब हुई? यह तथ्य भले विवाद का विषय हो, किन्तु कैसे हुई? इस पर पञ्चतन्त्र मे स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि पाणिनि की मृत्यु सिह द्वारा खा लेने से हुई।[८५]

आयार्य पाणिनि की अक्षयकीर्ति का एकमात्र आधार है–उनकी अमर कृति ''अष्टाध्यायी''। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह आठ अध्यायो वाला ग्रन्थ है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद है और

प्रत्येक पाद मे अनियत सङ्ख्या मे सूत्र। समस्त अष्टाध्यायी मे सूत्रो की सङ्ख्या के विषय मे भी विवाद है। सिद्धान्तकौमुदी और काशिका के अनुसार माहेश्वर-सूत्रो के साथ समस्त सूत्रो की सङ्ख्या ३९६२ है। स्वरसिद्धान्तचन्द्रिकाकार के अनुसार समस्त सूत्रो की सङ्ख्या ३९६५ है।[८६] आचार्य बोपदेव ने सूत्रो की सङ्ख्या ३९९६ बतायी है।[८७] चीनी यात्री ह्वेनसाँग के अनुसार पाणिनि ने चतुष्पादात्मक एक हजार श्लोको वाले ग्रन्थ की रचना की। वस्तुत. ह्वेनसाँग का यह कथन ग्रन्थपरिमाण की दृष्टि से है। सूत्रो की सङ्ख्या मे यह वैषम्य वस्तुत. सूत्रो के योग-विभाग के कारण है क्योकि आचार्य पाणिनि ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी सहिता-पाठ मे रची थी।[८८] इसीलिए महाभाष्यकार ने भी कई स्थानो पर प्राचीन वृत्तिकार के सूत्र-विच्छेद को प्रामाणिक न मानकर नये-नये सूत्र-विच्छेद किये है। जैसे–नैव विज्ञायते–कञ्क्वरपो-यञश्चेति[८९]। कथ तर्हि? कञ् क्वरपोऽयञश्चेति।

व्याकरणीय प्रक्रिया की दृष्टि से 'अष्टाध्यायी' को त्रिधा विभाजित किया जा सकता है–

१ वाक्य से पदो का सकलन (अध्याय १–२),

२. पदो का प्रकृति-प्रत्यय विभाग (अध्याय ३–५),

३ प्रकृति-प्रत्ययो के साथ आगम-आदेश आदि के सयोजन से पद-निष्पत्ति (अध्याय ६–८)

इस विभाजन के अनुसार अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय मे शास्त्रीय व्यवहारोपयोगी सज्ञाओं को सकलित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रकरण-गत उपपद आदि सज्ञाओं का अन्यत्र तत्तत्प्रकरणो मे भी सकलन है। सज्ञाओं के साथ परिभाषाओं का सादृश्य होने से उनका समावेश भी इन्हीं के साथ हुआ है। अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय मे समास तथा कारक प्रकरण को रखा गया है। तृतीय अध्याय मे तिङन्त, सन्धि तथा स्वरो से सम्बन्धित नियम है। सप्तम अध्याय अङ्गाधिकार (सुबन्त एव तिङन्त) के नाम से जाना जाता है। अष्टम अध्याय मे द्वित्व-विधान, स्वर वैदिक प्रक्रिया, सन्धि प्रकरण, षत्व तथा णत्व विधायक सूत्रो को समाविष्ट किया गया है। इस अतिम अध्याय के अन्तिम तीनपाद 'त्रिपादी' नाम से प्रसिद्ध है, जो पूर्ववर्णित सवा सात अध्यायो की दृष्टि मे असिद्ध है और इन पादो मे ऐसे विधान समाकलित किये गये है।

आचार्य पाणिनि ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त गणपाठ, धातुपाठ, लिङ्गानुशासन और शिक्षा की भी रचना की थी।[९०] युधिष्ठिर मीमासक तो उणादि-सूत्रो को भी पाणिनीय कृति मानते है।[९१] लन्दन

की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी मे द्विरूपकोश का एक हस्तलेख है, जिसके अन्त मे ''इतिपाणिनिमुनिना कृतद्विरूपकोश सम्पूर्णम्'' लिखा है। हस्तलेख की सख्या ७८६० है। यह ग्रन्थ सचमुच पाणिनि कृत है अथवा नही? इस विषय मे इर्दमित्थरूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। व्याकरण के इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य पाणिनि ने 'जाम्बवती जय' नामक महाकाव्य की भी रचना की थी। इसका दूसरा नाम 'पातालविजय' भी है। यद्यपि ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है किन्तु इसके उद्धरण अनेक लक्षण ग्रन्थो मे प्राप्त होते है। यद्यपि कुछ पाश्चात्य प्रभामण्डित लेखको ने इसे पाणिनि की कृति मानने मे सन्देह व्यक्त किया है तो भी युधिष्ठिर मीमासक जैसे विद्वानों ने प्रतिपक्षी तर्को की धज्जियॉ उड़ाते हुए इसे पाणिनि की रचना सिद्ध किया है।[६२]

उद्धरणानुक्रमणिका

१ छन्द पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।

ज्योतिषामयन चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्र उच्यते।

शिक्षा घ्राण तु वेदस्य, मुख व्याकरण स्मृतम्।

– पाणिनीय शिक्षा– ४१, ४२।

२ छन्द पादौ शब्दशास्त्र च वक्त्र कल्प पाणी ज्योतिष चक्षुषी च।

शिक्षा घ्राण श्रोत्रमुक्त निरुक्त वेदस्याङ्गान्याहुरेतानि षड् हि।।

–ऋक्सर्वा०

३. महाभाष्य, पश्यशाह्निक।

४. ऋग्वेद– १।१६४।५०।

५ वही– ६।६६।६।

६. वही– १।११।३।

७. यजुर्वेद– १।२०।

८. वही– ११।७।

९. साम० उ०– ५।२।८।५।

१० अथर्ववेद– १८।४।७।

११. ऋग्वेद– १।६४।५४५।

१२. वही– ४।५८।३।

१३ वही– १०।७१।४।

१४ वही– १०।७१।२।

१५ वही– ८।६६।१२।

१६ ''ओङ्कार पृच्छाम· – को धातु·? कि प्रतिपदिकम्? कि नामाख्यातम्? कि लिङ्गम्? किं वचनम्? का विभक्तिः? क· प्रत्यय·? कः स्वर उपसर्गो निपात·? कि वै व्याकरणम्·? को विकार·? को विकारी? कति मात्रा ? कतिवर्ण·? कत्यक्षर·? कति पद·? क सयोगः? किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम् .. . . ?

–गोपथ-ब्राह्मणम्– पू० १ २४।

१७ नूनं व्याकरण कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।

बहु व्यारतानेन न किञ्चिदपभाषितम्।। – वा०रा०, कि०– ३।२६।

१८ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डकोपनिषद्– १।५।

१६. सर्वार्थाना व्याकरणाद् वैय्याकरण उच्यते।

तन्मूलतो व्याकरण व्याकरोतीति तत्तथा।। –महा०, उ०प०– ४३।६१।

२०. नामाख्याते चोपसर्ग– निपाताश्चेति वैय्याकरणाः। –निरूक्त– १३।२।

२१. पुराकल्पे एतदासीत्-सस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरण स्माधीयते। – म ा ह ा ० , पश्पशाह्निक।

२२. ब्रह्मा वृहस्पतये प्रोवाच, वृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषीभ्य , ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः।–ऋक्तन्त्र– १।४।

२३. ह्वेनसाँग का भारत-भ्रमण वृत्तान्त–पृ० १०६, प०-१४, १५, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सन् १६२६ ई०।

२४. महाभाष्य, पश्पशाह्निक।

२५ वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमा नो वाच व्याकुर्विति .. .. . तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। –तैत्ति० स०– ६।४।७।

२६ तामखण्डा वाच मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभाग सर्वत्राकरोत्। तैत्ति० स०, सा० भा० – ६।४।७।

२७. वेदात् षड्ङ्गान्युद्धृत्य। –महा०, शान्तिपर्व, २८४।१६२।

२८ येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्न व्याकरण प्रोक्त तस्मै पाणिनये नम ।– पा० शि०, श्लोक स०-५७।

२६ ब्राह्मैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्य वृहस्पतिम्।

त्वाष्ट्रमापिशलञ्चेति पाणिनीयमथाष्टमम्।। – हैमवृहद्०, पृ० स०-३।

३०. तत्राद्य ब्राह्ममुदित द्वितीय चान्द्रमुच्यते।

तृतीय याम्यमाख्यातं चतुर्थ रौद्रमुच्यते।। – ऋग्वेदकल्पद्रुम।

३१. समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे, तदर्धकुम्भोद्धरण वृहस्पतौ।

तद्भागभागाच्च शत पुरन्दरे, कुशाग्रबिन्दूत्पतित हि पाणिनौ।। –सारस्वत-भाष्य।

३२. सस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ०-७१।

३३. ब्राह्मैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्य वृहस्पतिम्।

त्वाष्ट्रमापिशलञ्चेति पाणिनीयमथाष्टमम्।। हेमवृहद्०, पृ०स०३।

३४. यस्मिन् व्याकरणान्यष्टौ निरूप्यन्ते महान्ति च।।१०।।

तत्राद्य ब्राह्ममुदित द्वितीय चान्द्रमुच्यते।

तृतीय याम्यमाख्यातं चतुर्थ रौद्रमुच्यते।।११।।

वायव्य पञ्चम प्रोक्त षष्ठं वारुणमुच्यते।

सप्तम सौम्यमाख्यातमष्टम वैष्णव तथा।।१२।। –ऋग्वेदकल्पद्रुम।

३५ इन्द्रश्चन्द्र काशकृत्स्नापिशली शाकटायन·।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिका ।। –कविकल्पद्रुम

३६ आनन्दाश्रम सस्करण, पृष्ठ-७४।

३७. सोऽय नवव्याकरणार्थवेत्ता। –रामायण, उ०का०– ३६।४७।

३८ अष्टादशपुराणानि नव व्याकरणानि च,।

निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारत कृत।। गीतासार, हस्तलेख, न०– १६४। सन्-१८८३-८४ ई०

३९ ऐन्द्र चान्द्र काशकृत्स्न कौमार शाकटायनम्।

सारस्वत चापिशल शाकल्य पाणिनीयकम्।।

४०. पञ्च व्याकरण ।–काशिकावृत्ति, ४।२।६०।

४१ सस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, तृतीय अध्याय।

४२ तृषिमृषिकृषे काश्यपस्य। अष्टा० – १।२।२५।

'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। –वही, ८।४।६७।

विकर्णकुषीतकात् काश्यपे' वही, ४।१।१२४।

४३ 'गिरेश्च सेनकस्य। –वही, ५।४।११२।

४४ 'वा सुप्यापिशले । –वही, ६।१।६२।

४५ 'अवङ् स्फोटायनस्य। –वही, ६।१।६२।

४६ पदमञ्जरी - ३।१।।१२३।

४७. ईश्चाक्रवर्मणस्य। अष्टा०– ६।१।१२३।

४८. कपश्चाक्रवर्मणस्य। –उणादि सूत्र, ३।१४४।

४९ क्रीकणपर्णाद् भारद्वाजे। अष्टा०, ४।२।१४५।

ऋतो भारद्वाजस्य। वही, ७।२।६३।

५० अड्गार्ग्यगालवयो । वही, ७।३।९९।

ओतो गार्ग्यस्य। वही, ८।३।२०।

नोदात्त स्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। ८।४।६७।

५१. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टा०, १।१।१६।

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। अष्टा०, ६।१।१२७।

लोप शाकल्यस्य। वही, ८।३।१९।

सर्वत्र शाकल्यस्य। वही, ८।४।५१।

५२ सस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग।

५३ लङः शाकटायनस्यैव।, अष्टा०, ३।४।१११।

व्योर्लघुप्रयलतर शाकटायनस्य। वही, ८।३।१८।

त्रिप्रभृतिपु शाकटायनस्य। वही, ८।४।५०।

५४. तत्र नामाख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरुक्त, १।१२।

५५ इको ह्रस्वोऽड्यो गालवस्य। अष्टा०, ६।३।६१।

तृतीयादिपु भाषितपुस्क पुम्वद् गालवस्य। वही, ७.१ ७४।

अड् गार्ग्यगालवयोः। वही, ७।३।९९।

नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्य काश्यपगालवानाम्। वही, ८।४।६७।

५६. निरुक्त, ४।३।

५७. बृहद्देवता, १।२४, ५।३९, ६।४३, ७।६८।

५८. ऐतरेय–आरण्यक, ५।३।३।

५६ वायुपुराण, ३४।६३।

६०. चरक सहिता, सूत्रस्थान, १।१७।

६१. उदीचामात स्थाने यक्पूर्वाया·। अष्टा०, ७।३।४६।

उदीचामिञ्। वही, ४।१।१५३।

उदीचा वृद्धादगोत्रात्। वही, ४।१।१५७।

उदीचा माङो व्यतीहारे। वही, ३।४।१६।

६२ अष्टा०– ८।३।१०४

६३ दीर्घादाचार्याणाम्। अष्टा०, ८।४।५२।

६४. प्राचाष्फ तद्धित । वही, ४।१।१७।

६५. पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्र शालङ्किपाणिनौ। शालातुरीय –त्रिकाण्ड शेष।

६६ पाणिनोपज्ञमकालक व्याकरणम्। –काशिकावृत्ति, ६।२।१४।

६७ गाथि विदथिकेशिगणिपाणिनश्च। – चान्द्रवृत्ति, २।२।६८।

६८. महाभाष्यप्रदीप, १।१।७३।

६९ सर्वे सर्वपदादेशादाक्षीपुत्रस्य पाणिने । –महाभाष्य, १।१।२०।

७०. दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमासकाग्रणी । –कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन, श्लोक-१६।

७१. शङ्कर· शाङ्करी प्रादाद् दाक्षीपुत्राय धीमते। पाणिनीय शिक्षा, श्लोक-५६।

७२. पैलादिपाठ एव ज्ञापक इञो भावस्य।–काशिकावृत्ति, ४।१।६६।

७३. राज्यशालातुरीयतन्त्रयोरूभयोरपि निष्णात । –ध्रुवसेन द्वितीय का ताम्रपत्र।

७४. शालातुरीय पदमेतदनुक्रमेण। –काव्यालङ्कार, ६।६२।

७५ शालातुरीयेण प्राक् खञश्छ इति नोक्तम्। – न्यास, ५।१।१।

७६ शालातुरीयस्तत्रभुवान् पाणिनि ।–गणरत्नमहोदधि, पृ०-१।

७७ महाभाष्य भूमिका।–सम्पादित प० शिवदत्त शर्मा

७८. पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु। यशस्तिलकचम्पू, आश्वास-२,पृष्ठ-२३६।

७६ दाक्षीपुत्रः पाणिनेयो येनेद व्याहृतं भुवि। पा०शि०, याजुषपाठ, पृष्ठ– ३८

८०. अष्टाध्यायी, ८।२।८२।

८१ विभाषाभाषायाम्। अष्टा०, ६।२।८१।

उदक्चविपाश । अष्टा०, ४।२।७४।

८२ अष्टा० - ८।२।५०।

८३ निर्वाणोऽग्नि , निर्वाण प्रदीप , निर्वाणो भिक्षु ।

८४ नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्का नवपञ्चबारम्।

उद्धर्तुकाम सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।। –नन्दिकेश्वर कारिका

८५. सिहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिने ।

मीमासाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिम् जैमिनिम्।

छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल–

मज्ञानावृत्तचेतसामतिरुषा कोऽर्थ तिरश्चा गुणैः।।

–पञ्चतन्त्र, मित्र-सम्प्राप्ति, श्लोक-३६।

८६. चतुसहस्त्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता।

अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैस्सह।। –स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका।

८७. सूत्राणा त्रिसहस्त्र तथा नवशतानि च।

षण्णवतिञ्च सूत्राणा पाणिनिः कृतवान् स्वयम्। –बोपदेव।

८८ महाभाष्य, १।१।५०।

८९ महाभाष्य, ४।१।१६।

९० अष्टक गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च।

लिङ्गानुशासन शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्।।

–आड्यार पुस्तकालय के व्याकरण-शास्त्र विभाग के सूची-पत्र सख्या ३८४ पर निर्दिष्ट गणपाठ के हस्तलेख के आदि मे।

९१. सस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, अध्याय-२४।

९२ संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग।

द्वितीय अध्याय

सञ्ज्ञा सूत्र : परिभाषा, प्रयोजन एवं प्रकार

समस्त अष्टाध्यायी सूत्रात्मिका है। सूत्र किसे कहते है? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर तो यही होगा कि सूत्र अर्थात् तन्तु के अवयवो के समान अनेक अर्थो को वेष्टित करने वाला अर्थात् अपने मे गुम्फित करने वाला, सूत्र होता है।[१] यह विस्तृत अर्थो की सूचना देने वाला, थोडे अक्षरो वाला, सारभूत होता है। इसीलिए भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भामती मे सूत्र का लक्षण करते हुए कहा है–

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।

सर्वत सारभूतानि सूत्राण्याहु· मनीषिण·[२]।।

इसका अभिप्राय है कि छोटे रूप मे अर्थ को सूचित करने वाले, थोडे अक्षरो से युक्त पदो वाले, सबसे सारभूत को विद्वद्गण सूत्र कहते हैं।

सूत्र का एक अन्य लक्षण विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे भी उल्लिखित है–

अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद् विश्वतोमुखम्।

अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु ।।

अर्थात् थोडे अक्षरो वाले, सन्देहरहित, सारभूत, सर्वतोमुखी, अप्रतिहत और दोषत्रयशून्य को सूत्र जानने वाले, सूत्र कहते है। तात्पर्य यह है कि जिनमे ये छहो वैशिष्ट्य विद्यमान हो, उन्ही को सूत्र कहा जा सकता है। इसी भाव को महर्षि वररुचि ने भी सूत्र के लक्षण के रूप मे उपनिबद्ध किया है–

अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद् गूढनिर्णयम्।

निर्दोष हेतुमत्तथ्य सूत्रमित्युच्यते बुधै ।।[३]

वस्तुत· आचार्य पाणिनी प्रणीत अष्टाध्यायी मे इन समस्त वैशिष्ट्यो से युक्त सूत्रो द्वारा ही व्याकरण के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये है।

इस पर पुन· प्रश्न उठता है कि सूत्र कितने प्रकार के होते है? इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए कहा गया है कि–

सञ्ज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विध सूत्रलक्षणम्।।[४]

अर्थात् सूत्र छ प्रकार के होते है–१ सञ्ज्ञा, २ परिभाषा, ३ विधि, ४ नियम, ५ अतिदेश और ६ अधिकार। इनमे सञ्ज्ञासूत्र से अभिप्राय है कि जो सूत्र सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी दोनो का बोध कराये, वह सञ्ज्ञासूत्र है[५] जैसे– अदर्शन लोप.।[६] अनियम मे नियम की व्यवस्था करने वाली परिभाषा है[७] और परिभाषा का विधान करने वाला परिभाषा सूत्र है। जैसे–''तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य''[८] अनेक स्थलो पर प्राप्ति के सकोच को नियम कहते है।[९] जिन सूत्रो मे नियम-विधान हो, उन्हे नियम सूत्र कहते है। जैसे– ''रात्सस्य''।[१०] आदेशादि का विधान करने वाले सूत्रो को विधिसूत्र कहते है।[११] जैसे–'इको यणचि'।[१२] दूसरे के सदृश विधान को अतिदेश कहते है।[१३] जिन सूत्रो मे अतिदेश की व्यवस्था हो, उन्हे अतिदेश-सूत्र कहा जाता है। जैसे–तृज्वत्क्रोष्टु.।''[१४] अधिकार का अभिप्राय है–''स्वदेशे वाक्यार्थबोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वम् अधिकारत्वम्'' अर्थात् अपने स्थान पर वाक्यार्थबोध शून्य होने पर (भी) दूसरे स्थानो पर वाक्यार्थबोध कराना अधिकार है, जिसका विधान करने वाले सूत्र को अधिकारसूत्र कहते हैं। जैसे–''सहितायाम्''।[१५]

इस षड्विध सूत्रो मे अधिकतम सञ्ज्ञा-सूत्रो का विन्यास आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रथम एव द्वितीय अध्याय मे किया है। सञ्ज्ञा-सञ्ज्ञि का बोध कराने वाले सूत्रो की समीक्षा के पूर्व यह प्रश्न उठना नितान्त स्वाभाविक है कि सञ्ज्ञा किसे कहते है? सञ्ज्ञा शब्द की विविध व्युत्पत्ति वैयाकरणो मे मान्य है। 'सम्' पूर्वक √ज्ञा अवबोधने धातु से भाव अर्थ मे ''आतश्चोपसर्गे''[१६] सूत्र से 'अङ्' प्रत्यय होकर सञ्ज्ञा शब्द की सिद्धि होती है। जिसका अभिप्राय होगा–'सम्यक् ज्ञानम् इति सञ्ज्ञा'। महाभाष्यकार के शब्दो मे–'सञ्ज्ञान सञ्ज्ञा'[१७]। इसका व्याख्यान करते हुए आचार्य नागेशभट्ट कहते है– ''भावेऽडतो यौगिक सञ्ज्ञा शब्द इत्यर्थ.।''[१८] यथा– नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थ तान् ब्रवीमि ते''।[१९] गीता के इस श्लोक मे सञ्ज्ञा शब्द सम्यग्ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

कर्म अर्थ मे भी 'अङ्' प्रत्यय होकर सञ्ज्ञा शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसकी व्युत्पत्ति है– 'सञ्ज्ञायते इति सञ्ज्ञेति कर्मसाधनोऽत्र सञ्ज्ञा शब्द ''।[२०] किन्तु नाम, नामधेय, अभिधा के पर्यायभूत

सञ्ज्ञा शब्द की व्युत्पत्ति करण अर्थ मे 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से 'अङ्' प्रत्यय होकर होती है। जिसकी व्युत्पत्ति है–'सञ्ज्ञायते अनया इति सञ्ज्ञा'। आचार्य नागेश भट्ट के शब्दो मे–'नामधेयवाची सञ्ज्ञाशब्दस्तु करणव्युत्पन्न इति बोध्यम्'।[२१] आचार्य कैय्यट भी निपातनात् ल्युट् का अभाव मानकर करण अर्थ मे 'अङ्' प्रत्यय द्वारा सञ्ज्ञा शब्द की निष्पत्ति स्वीकार करते है। उन्ही के शब्दो मे–''सञ्ज्ञायते अनया इति सञ्ज्ञा'–निपातनात् ल्युडभाव ततः शब्द एव सञ्ज्ञा शब्देनोच्यते। सञ्ज्ञाया विषये कार्य भवतीत्यर्थ ।[२२]'' शास्त्रीय सञ्ज्ञाओं के विषय मे सञ्ज्ञा शब्द की यही व्युत्पत्ति वैयाकरणो को अभीष्ट है। जैसे-व्याकरणशास्त्र मे वृद्धि शब्द के उच्चारण से आकारादि वर्णो का बोध वृद्धिसञ्ज्ञक होने के कारण होता है।

सञ्ज्ञा के विषय मे यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि क्या सञ्ज्ञा के अभाव में शास्त्रीय या लौकिक व्यवहार सम्भव है? वस्तुत· 'प्रमेयसिद्धि; प्रमाणात्, मानाधीना मेयसिद्धि ' इस सिद्धान्त के आधार पर इस दृश्यमान प्रपञ्च मे कोई भी दृष्ट या अनुमित वस्तु सञ्ज्ञा अर्थात् नामकरण के अभाव मे नही जानी जा सकती। लोक मे किसी नाम से अपरिचित वस्तु को देखने पर भी व्यक्ति यह क्या है? ऐसा पूँछा जाने पर भी व्यक्ति यह कहता है कि मै इसे नही जानता अर्थात् लोकव्यवहार मे सञ्ज्ञा के अभाव मे किसी वस्तु का ज्ञान सम्भव नही है। नाम (सञ्ज्ञा) के इसी महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शौनक कहते है–

अवश्य वेदितव्यो हि नाम्ना सर्वस्य विस्तर ।

न हि नामान्यविज्ञाय मन्त्रा· शक्या· हि वेदितुम्।।[२३]

व्याकरण-शास्त्र मे प्रतिपादित पद-पदार्थ प्रभृति के बुद्धिगत होने के कारण नाम-व्यवस्था भी बुद्धिगम्य होती है। इसीलिए आचार्य भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अन्त करणस्थ पदार्थ ही बाहर अवस्थित होते है। उन्ही के शब्दो मे–

द्यौ क्षमावायुरादित्य सागरा· सरितो दिश ।

अन्त·करणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिता·।।[२४]

इस तथ्य को 'योगवाशिष्ठ' मे अत्यन्त विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गाया है, तदनुसार

आकाशादि की सत्ता बाहर नही अपितु चित्त मे ही अङ्कुर मे पत्र समूह के समान होती है। जैसे अङ्कुर से फलादि प्रकट होते हैं वैसे ही चित्त से पृथिव्यादि प्रकट होते है। योग-वाशिष्ठ के अनुसार, पृथ्वी आदि चित्तस्थ है। चित्त से बाहर उनकी सत्ता कदापि नही है। इसे सभी लोग अनुभव करते है।[२५] इसीलिए महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने भी किसी भी पदार्थ के निर्माण से पहले उसकी बौद्ध सञ्ज्ञा को करना आवश्यक माना है। भावि-सञ्ज्ञा के प्रसङ्ग मे उन्होने स्पष्ट कहा है–''कश्चित् कञ्चित् तन्तुवायमाह– अस्य सूत्रस्य शाटक वय''। अय भाव.– यदि सूत्रम्, शाटक कथम्? यदि शाटक तर्हि सूत्रन्न भवितुमर्हतीति नानातर्कावगाहनानन्तर तेन तन्तुवायेनान्ततोगत्वा निर्णीतम्–''यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवति स वातव्य''[२६] इति। इसका तात्पर्य यह है कि यदि शाटक निर्माण के पूर्व उसका नाम न होता तो बुने जाने के बाद ''यह शाटक है'' ऐसा ज्ञान कैसे सम्भव होता? भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी बौद्ध-सञ्ज्ञा का समर्थन करते हुए कहा है–''चेतनो हि नामरूपे बुद्धावालिख्य ''घट'' इति नाम्ना कम्बुग्रीवादिना च रूपेण बाह्य घट निष्पादयति''[२७] इति।

भारतीय परम्परानुसार नाम (सञ्ज्ञा) का प्रथम विधान परमात्मा द्वारा किया जाता है जो दूसरी सृष्टि मे भी अपरिवर्तित रहता है। इस सन्दर्भ मे ऐतरेयोपनिषद् का कथन है कि सभी नाम और रूप अद्वितीय ब्रह्म के ही है।[२८] छान्दोग्योपनिषद् मे भी सृष्टि-वर्णन के अवसर पर परमात्मा द्वारा नाम और रूपके निर्धारण की बात कही गई है।

उपनिषत्कार के ही शब्दो मे–''सेय दैवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि''[२९] इति। भगवान् मनु ने भी नाम (सञ्ज्ञा) और रूप के ईश्वर-सृष्ट होने का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है। उन्ही की ही पदावली मे–

''नामरूपञ्च भूताना कर्मणाञ्च प्रवर्तनम्,

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे परमेश्वर ।''[३०]

लोक मे शक्ति ग्राहक वृद्धव्यवहारादि[३१] उपायो के द्वारा सभी लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते है। नामकरण (सञ्ज्ञा) के अभाव मे लोक-व्यवहार का सम्पादन सुकर नहीं है। निरुक्तकार ने ''शब्देन सञ्ज्ञाकरण व्यवहारार्थ लोके''[३२] के द्वारा इसी तथ्य का समर्थन किया है। वेद और लोक, उभयत्र सभी

सञ्ज्ञाओं का विधान शब्द के द्वारा ही किया जाता है क्योकि शब्द व्यापक है और व्यवहार का साधक है। लोक मे पुत्र पैदा होने पर माता-पिता उसका नाम राम या श्याम रखते है, बाद मे नाम और व्यक्ति के अभेदोपचार से अन्य व्यक्ति भी जानते है कि इसकी यही सञ्ज्ञा है। महाभाष्यकार के ही शब्दों मे– ''लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य सवृतेऽवकाशे नाम कुर्वति देवदत्तो यज्ञदत्त इति। तयोरूपचारादन्येऽपि जानन्ति–इयमस्य सञ्ज्ञेति''।[३३] व्यक्ति के नाम का उपयोग यज्ञ, अभिवादन आदि वैदिक विधियो और पारस्परिक व्यवहार मे होता है। नामकरण (सञ्ज्ञा) के इसी महत्त्व के कारण स्मृतिकारो ने षोडश सस्कारो मे इसे स्थान दिया है। इसका विधान करते हुए मनु ने कहा है–''नामधेय दशम्या तु द्वादश्या वास्य कारयेत्''[३४]। धर्मशास्त्रविदो ने नामकरण-विधि के चार प्रकार बतलाये है–पहला, नक्षत्र देवता वाचक पद से बना हुआ नाम, जैसे–कृत्तिका नक्षत्र मे उत्पन्न पुत्र का कृतिका नक्षत्र के अधिष्ठातृ देवता अग्नि के आधार पर रखा हुआ अग्निदत्त नाम। दूसरा, नक्षत्र के चरणों के ज्ञापक अक्षरो से प्रारम्भ होने वाले नाम, जैसे–पुष्य नक्षत्र के द्वितीय पाद में उत्पन्न होने के कारण हेमचन्द, रोहिणी नक्षत्र के द्वितीय पाद मे उत्पन्न पुत्र का वासुदेव और रेवती नक्षत्र के प्रथम पादोत्पन्न जातक का देवदत्त नाम। इन सभी नामो के आद्यक्षर (हे, वा, दे) अपने-अपने नक्षत्र के चरणो के ज्ञापक है। इस प्रकार के नाम को उपनयन-सस्कार पर्यन्त केवल माता-पिता को जानना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र मे स्पष्ट लिखा है– ''अभिवादनीयञ्च समीक्षेत् तन्मातापितरौ विद्यातामो-पनयनात्''।[३५] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र मे भी ''नक्षत्रनाम च निर्दिशति तद् रहस्य भवति''[३६] के द्वारा इसी तथ्य का समर्थन किया गया है। तीसरा, उत्पन्न होने के अर्थ मे होने वाले प्रत्ययो से निष्पन्न नक्षत्रवाची नाम, जैसे–रोहिणी नक्षत्र मे उत्पन्न जातक का 'रौहिण' नाम। 'रोहिण्यां जात ' इस व्युत्पत्ति मे रोहिणी पद से जातार्थ मे 'अण्' प्रत्यय होकर 'रौहिण' पद की निष्पत्ति होती है। नामकरण की चतुर्थ विधा है–घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमवृद्ध त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठित द्वयक्षर चतुरक्षर वा, कृतमेव न तु तद्धितम्''। इसका अभिप्राय है कि नाम के आदि मे घोष वर्ण होने चाहिए, मध्य मे अन्तस्थ वर्ण होने चाहिये, उसका आदि वर्ण वृद्धिसञ्ज्ञक नही होना चाहिये, पिता, पितामह और प्रतितामह के नाम से सम्बद्ध होना चाहिए जो शत्रु वर्ग मे प्रसिद्ध न हो, ऐसे दो अक्षरो वाले अथवा चार अक्षरो वाले कृदन्त नाम रखने चाहिये तद्धितान्त नही। जैसे–राम, जयदेव आदि।

यद्यपि धर्मशास्त्रकारो ने लोक मे जातक (व्यक्ति) के नामकरण के उपर्युक्त प्रकार ही बताये

है किन्तु उनके अतिरिक्त भी देशादि के आधार पर व्यवहृत सञ्ज्ञाओं का प्रयोग लोक मे प्राय देखा जाता है, जैसे–पिता के नाम के आधार पर दाशरथि, पाण्डव और वासुदेव आदि, माता के नाम के आधार पर वैनतेय, कौन्तेय और सौमित्र आदि, गोत्र के नाम पर गार्ग्य, वात्स्य और औपमन्यव आदि, जन्मस्थान के नाम के आधार पर शालातुरीय, गोनर्दीय आदि, देश के नाम पर कैकेयी, माद्री, गान्धारी आदि नाम लोक मे प्रयुक्त होते है। इसी प्रकार कभी-कभी घटनाये भी नामकरण की कारिका होती है, जैसे–इन्द्र को वृत्रासुर को मारने के कारण वृत्रहा कहा जाता है। कभी-कभी विषय-विशेष का प्रतिपादन भी नामकरण मे निमित्त हो जाता है जैसे–'स्फोट' विषय के प्रतिपादन के कारण स्फोटायन नाम। पुरुषगत गुणो के द्योतक उपाधि भी कभी-कभी नाम का कारण बनती है, जैसे–पात्रेसमिता, अथवा गेहेनर्दी। इसी प्रकार अतीत मे घटित क्रिया के आधार पर भी सञ्ज्ञाओं का व्यवहार लोक मे देखा जाता है, जैसे– सोमयाजी अथवा घृतविक्रयी आदि।

जिस प्रकार व्यक्तियो के नाम के विषय मे उपर्युक्त नियम लागू होते है, उसी प्रकार अन्य पदार्थो की सञ्ज्ञा के विषय मे भी व्यवहृत होते है। लोक मे कभी-कभी प्रसिद्ध वस्तु के सम्बन्ध से गाँव का नाम भी प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे–वरण वृक्ष के सम्बन्ध से 'वरणा' और कटुक बदरी के सम्बन्ध से गाँव की सञ्ज्ञा 'कटुकबदरी' हो जाती है। कभी-कभी वृक्ष के नाम पर भी उसके फल को भी वही सञ्ज्ञा प्रदान कर दी जाती है, जैसे–आम्र के वृक्ष के नाम पर फल की भी 'आम्र' सञ्ज्ञा। इसी प्रकार काव्यादि मे जिस पात्र या विषय का मुख्य रूप से वर्णन किया जाता है, वही उसके नाम का आधार बन जाता है, जैसे–रघुवश मे उत्पन्न राजाओं के वर्णन के कारण काव्य की रघुवश सञ्ज्ञा। यही नही, जो ग्रन्थ जिस ऋषि के द्वारा कहा जाता है वह ग्रन्थ उसी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे– कठ, चरक। कभी-कभी जिस जाति के लोग जहाँ रहते है, उसी के आधार पर उस देश का नामकरण हो जाता है, जैसे– अफगान जाति के लोगों के कारण अफगानिस्तान और उजबेक जाति के कारण उजबेकिस्तान। इस प्रकार हम देखते है कि लोक मे भाषादि अनेक आधार है जिनके आधार पर व्यक्ति या तादितर पदार्थो की सञ्ज्ञा की जाती है।

जिस प्रकार लोक मे लौकिक सञ्ज्ञा के विना कोई ज्ञान नही हो सकता और परस्पर व्यवहार भी बाधित होता है, अतएव व्यवहार सौकर्य के सम्पादनार्थ विभिन्न सञ्ज्ञाओं का व्यवहार किया जाता

है। उसी प्रकार शास्त्र मे भी सर्वत्र कार्य यथावत् सम्पन्न हो जाय और लाघव भी अक्षुण्ण रहे, इसलिए सञ्ज्ञाओं का विधान किया जाता है। महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से कहा है–'सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीय , कुत एतत्? लघ्वर्थ हि सञ्ज्ञाकरणम्'।[३७] कैय्यट ने भी इसी तथ्य को "शब्दव्यवहारो लघुस्ततोऽपि लघीयो नाम"[३८] कहकर प्रतिपादित किया है। कैय्यट के अनुसार अत्यन्त लाघव के लिए एक अक्षरो वाली अथवा दो अक्षरो वाली सञ्ज्ञाओं का विधान शास्त्रकारो को करना चाहिए।[३९] इस पर प्रश्न उठता है कि व्याकरण-शास्त्र मे आचार्य पाणिनि ने अनेक महासञ्ज्ञाओं का विधान किया है। क्या महासञ्ज्ञा-विधान से लाघव बाधित नही होता? इस पर वैयाकरणो का मत है कि लाघव भी दो प्रकार का होता है–१ शब्द कृत, २ अर्थ कृत। इसीलिए कही-कही शब्दरूप लाघव के निमित्त आचार्यो ने बीजगणितीय साङ्केतिक अक्षरो के समान एक अक्षरो वाली सञ्ज्ञाओं का विधान किया है। पाणिनि से भिन्न व्याकरणो मे भी एकाक्षरीय सञ्ज्ञाये देखी जा सकती है। मुक्तबोध व्याकरण मे आचार्य बोपदेव ने एकाक्षरी सञ्ज्ञाओं का बहुतायत प्रयोग किया है।

अर्थकृत लाघव के लिए शब्दकृत लाघव की अपेक्षा नही है। आचार्य पाणिनि ने जहॉ-जहॉ महासञ्ज्ञा का विधान किया है वहॉ-वहाँ पूर्वाचार्यो द्वारा विहित सञ्ज्ञाओं को स्वीकार करने और अन्वर्थता प्रदर्शित करने की दृष्टि से किया है।

व्याकरण-शास्त्र से भिन्न शास्त्रो मे भी साङ्केतिक सञ्ज्ञाओं का व्यवहार उपलब्ध होता है, जैसे–छन्द:शास्त्र मे आचार्य पिङ्गल ने दीर्घ रूप अक्षरत्रय के लिए 'म' सञ्ज्ञा का विधान किया है। उसी 'म' सञ्ज्ञा मे गण शब्द जोडकर 'मगण' ऐसा व्यवहार प्राप्त होता है। लघु के लिए 'ल' सञ्ज्ञा और गुरू के लिए 'ग' सञ्ज्ञा तथा अष्टगणो के लिए 'म य र स त ज भ न' आदि सञ्ज्ञाएँ छन्द शास्त्र में सर्वथा स्वीकृत है।

व्याकरण-शास्त्र मे प्रयुक्त सञ्ज्ञाओं को त्रिधा विभक्त कियाजा सकता है–

१ अकृत्रिम, २ कृत्रिम, ३ उभयविध।

१. अकृत्रिम सञ्ज्ञा–

जिन सञ्ज्ञाओं का व्यवहार लोक और शास्त्र मे सर्वत्र अनादि काल से अद्यावधि एक ही रूप

मे होता आया है, उन्हे अकृत्रिम-सञ्ज्ञा कहते है। जैसे–गौ, अश्व, हस्ती, शकुनि, मृग, ब्राह्मण आदि।

२. कृत्रिम सञ्ज्ञा–

किसी शास्त्रकार द्वारा किसी अर्थ को स्वतन्त्र रूप से बतलाने के लिए जिस सञ्ज्ञा की कल्पना की जाती है उसे कृत्रिम-सञ्ज्ञा कहते है। यह शास्त्रकार की स्वकल्पना विजृम्भित होती है। इसके भी दो भेद होते है–(क) पारिभाषिकी सञ्ज्ञा। (ख) व्यक्तिबोधिका सञ्ज्ञा।

जिन सञ्ज्ञाओं के द्वारा पारिभाषिक पदार्थो का बोध होता है, उन्हे पारिभाषिकी सञ्ज्ञा कहा जाता है। जैसे–व्याकरणशास्त्र मे वृद्धि, गुण, टि, घु और भ आदि सञ्ज्ञाएँ।

व्यवहार के लिए किसी व्यक्ति का आह्वान जिन शब्दो द्वारा किया जाता है, व्यक्ति के बोधक होने के कारण उन शब्दो के समुदाय रूप सञ्ज्ञा को व्यक्तिबोधिका सञ्ज्ञा कहते है, जैसे–देवदत्त, यज्ञदत्त आदि।

३. उभयविध सञ्ज्ञा–

जो सञ्ज्ञाएँ कृत्रिम, अकृत्रिम दोनो होती है, उन्हे उभयविध सञ्ज्ञा कहते है। जैसे–कर्म, करण, अधिकरण, सङ्ख्या आदि। 'कर्मणि द्वितीया[४०]' सूत्र मे कर्मसञ्ज्ञा कृत्रिम-सञ्ज्ञा है और 'कर्तरि कर्म व्यतिहारे[४१]' सूत्र मे अकृत्रिम। 'कर्तृकरणयोस्तृतीया[४२]' सूत्र मे कर्तृ सञ्ज्ञा कृत्रिम सञ्ज्ञा है और 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमघेभ्य·करणे'[४३] इत्यादि सूत्र मे अकृत्रिम। इसी प्रकार 'सप्तम्यधिकरणे च'[४४] सूत्र मे अधिकरण सञ्ज्ञा कृत्रिम है और 'विप्रतिसिद्धञ्च नधिकरणवाचि[४५]' मे अधिकरण का अकृत्रिम सञ्ज्ञा के रूप मे ग्रहण किया गया। इस तथ्य को आचार्य पतञ्जलि ने विधिना स्पष्ट किया है। सङ्ख्या के विषय मे तो कैय्यट की स्पष्ट उक्ति है–''सङ्ख्या विशेषावगतिस्तु लोकात् सिद्धा''।[४६] अर्थात् सङ्ख्या का उभयविध सञ्ज्ञात्व लोक से ही सिद्ध है।

इन सञ्ज्ञा भेदो मे पारिभाषिक कृत्रिम सञ्ज्ञाओं का प्रयोग शास्त्र के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होता। किस पदार्थ को बोधित करने के लिए किस सञ्ज्ञा का विधान किया जाय, यह शास्त्रकार का अपना विशेषाधिकार है, इस पर किसी भी प्रकार का प्रश्न नही खड़ा किया जा सकता। एक ही शास्त्र के विभिन्न आचार्यो ने एक ही अर्थ को द्योतित करने के लिए विभिन्न सञ्ज्ञाओं का व्यवहार किया है।

जैसे–जिसे पाणिनि 'इत्' कहते है, उसे कातन्त्र-व्याकरण मे अनुबन्ध कहते है।[४७] जिसे आचार्य पाणिनि 'प्रातिपदिक' कहते है, उसे ही निरुक्तकार 'नाम' कहते है।

इस पर शङ्का होती है कि शास्त्रकारो द्वारा स्वेच्छया विहित कृत्रिम सञ्ज्ञाओं से क्या शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता बाधित नही होती? उक्त शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य कैयट कहते है कि समस्त अर्थो को बतलाने योग्य शब्दो की शक्ति को किसी अर्थ विशेष मे नियमित कर देना ही सञ्ज्ञाकरण है। इसलिए शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता से किसी भी प्रकार का विरोध उत्पन्न नही होता।[४८]

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे तीनो प्रकार की सञ्ज्ञाओं का व्यवहार किया है किन्तु पारिभाषिक कृत्रिम सञ्ज्ञाएँ जो महर्षि पाणिनि की स्वकल्पनाप्रसूत है, वे भी अन्वर्थक और अनन्वर्थक के भेद से दो प्रकार की है। अन्वर्थक के अन्तर्गत सर्वनाम, कर्मधारय आदि महासञ्ज्ञाएँ आती है और अनन्वर्थक के अन्तर्गत टि, घु, भ आदि सञ्ज्ञाएँ आती है, जिनका मुख्य उद्देश्य लाघव है। ये द्विविध सञ्ज्ञाएँ भी कुछ वर्णगत है तो कुछ वर्ण समूहगत, कुछ पदगत है तो कुछ वाक्यगत, कुछ सञ्ज्ञाएँ अर्थगत भी है। इन सञ्ज्ञाओं के प्रतिपादक सूत्रो की समीक्षा ही प्रकृत शोध-प्रबन्ध का विषय है जिसे हम उपर्युक्त आधार पर ही अध्यायश विभक्त करके प्रस्तुत करने का प्रयास करेगे।

उद्धरणानुक्रमणिका

१ अर्थान् सूत्रयति सूते सूचयति वा सूत्रम्। कात० वृत्तिटीका १।१।६।

२ ब्रह्म सूत्रे १।१ पर भामती।

३. कविराजटीका १।१।१।

४. श्रीधरानन्द घिल्डियाल द्वारा उद्धृत।

५. तत्र सञ्ज्ञासञ्ज्ञि प्रत्यायकं सूत्रं सञ्ज्ञासूत्रम्।

६ अष्टा०, १।१ ६०।

७. अनियमे नियमकारिणी परिभाषा।

८ अष्टा०, १।२।६६।

६ बहुत्रप्राप्तौ सकोचन नियम·।

१०. अष्टा०, ८।२।२४।

११. आदेशादिविधायक सूत्र विधिसूत्रम्।

१२ अष्टा०, ६।१।७७।

१२. अन्यतुल्यत्वविधानम् अतिदेश ।

१३. अष्टा०, ७।१।६५।

१४. अष्टा०, ६।१।७२।

१५ अष्टा०, ३।३।१०६।

१६ महाभाष्य, १।२ ५३।

१७. महाभाष्य उद्योत, १।२।५३।

१८. गीता, १।७।

१९. महाभाष्य प्रदीप, १।३।११२।

२०. महाभाष्य उद्योत, ३।१।११२।

२१ महाभाष्यप्रदीप, पश्पशाह्निक, पृ०-३८।

२२ बृहद्देवता, १।८०।

२३ वाक्यपदीय, ३।७।४१।

२४ बहिर्न किञ्चिदप्यस्ति खाद्यब्ध्युर्वी दिगादिकम्।
एतत् स्वचित्त एवास्ति पत्रपुञ्जमिवाङ्कुरे।।
फलादि स्फारतामेति यथैव बहिरङ्कुरात्।
बहि प्रकटता याति य तथा पृथ्व्यादिचेतस.।।
सत्य पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठ कदाचन।
आबालमेतत् पुरुषै. सर्वैरेवानुभूयते।।
स्पप्रभ्रममदावेगरागरोगादिदृष्टिषु इति।।

–यो०वा० ५।४८।४९-५३

२५. महाभाष्य, १।१।४५

२६ ब्रह्मसूत्र, भामती, १।१।२

२७. सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेतै सर्वे देवा इमानि च . . . यच्च स्थावरम्''

–ऐतरेयोपनिषद्, ५।२।३

२८. छान्दोग्य, ६।३।२

२९. मनु०, १।२१।।

३०. शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा.।।

–न्यायासिद्धान्तमुक्तावली के शब्दखण्ड प्रकरण मे उद्धृत।

३१. निरुक्त, १।२

३२ महाभाष्य, १।१।१

३३. मनु०, २।३०

३४ आश्वलायन गृह्यसूत्र, १५।६

३५ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १५।२-३

३६. महाभाष्य, १।१।२७

३७ महाभाष्य प्रदीप, १।१।२७

३८ लाघवप्रकर्षाय एकाक्षरा द्व्यक्षरा वा सञ्ज्ञा कार्या।

–महा० प्र०, १।४।८३

३९. अष्टा०, २।३।२

४०. अष्टा०, १।३।१४

४१ वही, २।३।१८

४२. वही, ३।१।१७

४३. वही, २।३।३७

४४. वही, २।४।१३

४५. महा० प्र०, १।४।२१

४६. कातन्त्र व्याकरण, ३।८।४३५

४७. "सर्वार्थाभिधानयोग्यशब्दस्य शक्तिनियमनमात्र सञ्ज्ञाकरणमिति शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वस्यापि न विरोध."।

–म०भा०प्र० १।१।२७।
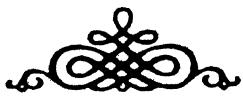
तृतीय अध्याय

वर्ण सम्बन्धी सञ्ज्ञा सूत्र

वृद्धि संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने ''वृद्धिरादैच्''[१] सूत्र द्वारा वृद्धि सञ्ज्ञा का विधान किया है। उक्त सूत्र मे 'वृद्धि' पद सञ्ज्ञा है और 'आदैच्' सञ्ज्ञी। सामान्यतया सञ्ज्ञी का कथन पहले होता है और सञ्ज्ञा का बाद में। यही क्रम आचार्य पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी मे स्वीकार भी किया है, किन्तु प्रकृत सूत्र अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र है इसलिए महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि के अनुसार आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रारम्भ मे मङ्गलाचरण की दृष्टि से 'वृद्धि' पद का उपन्यास पहले किया है।[२] 'वृद्धि' पद 'वृधु वृद्धौ' धातु से 'स्त्रियाम् क्तिन्'[३] सूत्र से भाव अर्थ मे 'क्तिन्' प्रत्यय होकर अनुबन्धलोपादि कार्यों के निष्पन्न होने पर सिद्ध होता है। यह सञ्ज्ञा महती है और साथ मे अन्वर्थ भी। 'आदैच्' पद मे 'आच्च ऐच्च' इस विग्रह के आधार पर समाहार द्वन्द्व समास है, समासान्त विधि के अनित्य होने के कारण ''द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्''[४] सूत्र से समासान्त 'टच्' प्रत्यय नहीं हुआ। इसी प्रकार 'अयस्मयादीनि च्छन्दसि'[५] सूत्र के कारण भ सञ्ज्ञक होने से 'चोः कुः'[६] सूत्र से पदान्त मे प्राप्त कुत्व भी नही होता। कुछ वैय्याकरण 'आदैच्' मे इतरेतर द्वन्द्व समास मानते है। इस स्थिति मे एकवचनत्व सौत्र होगा अथवा ''सुपासुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल ''[७] सूत्र से 'औ' का लुक् मानते है। यही नही, तत्त्वबोधिनीकार 'आद्' और 'ऐच्' के बीच मे समास न मानने का भी विकल्प प्रस्तुत करते है। इस स्थिति मे वृद्धि पद दोनो पदो (आद् और ऐच्) से अन्वित होगा।[८] सूत्र मे तपर होने के कारण सूत्रार्थ होगा द्विमात्रिक 'आ' और द्विमात्रिक 'ऐ' और 'औ' की वृद्धि सञ्ज्ञा होती है।[९]

वृद्धि सञ्ज्ञा का प्रतिपादन आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया था। इस सम्बन्ध मे महाभाष्यकार 'आचार्य पतञ्जलि का यह कथन–''इहापि कृत पूर्वैरभि सम्बन्ध कै ? आचार्यै इति।[१०] द्रष्टव्य है। इस कथन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि 'आ ऐ औ' वर्णो की वृद्धि सञ्ज्ञा, का प्रतिपादन पूर्वाचार्यो के द्वारा भी किया गया था। यद्यपि आचार्य पाणिनि ने पूर्ववर्ती प्रातिशाख्यो मे वृद्धि सञ्ज्ञा का नाम्ना निर्देश नही प्राप्त होता किन्तु वाजसनेयि प्रातिशाख्य के ''तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिहिते''[११]

सूत्र मे तद्धित के कारण वृद्धि की चर्चा की गयी है। भाष्यकार 'उव्वट' ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि–''यत्र तद्धितजनितैवैकाक्षरे पूर्वपदे वृद्धिर्भवति।''[१२] अथर्ववेद प्रातिशाख्य के ''आद्यक्षरस्य वृद्धि ''[१३] इस सूत्र मे 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु इसकी परिभाषा नही दी गयी है। काशकृत्स्न व्याकरण मे दो सूत्रो मे वृद्धि का विधान किया गया है।[१४] किन्तु वहाँ भी 'वृद्धि' की कोई परिभाषा नही दी गयी है। अग्निपुराण मे भी वृद्धि-सज्ञा का प्रयोग किया गया है।[१५]

अष्टाध्यायी के पश्चवर्ती व्याकरणो में 'कातन्त्र व्याकरण मे 'आर्' 'ऐ' एव 'औ' की वृद्धि सज्ञा स्वीकार की गयी है।[१६] जैनेन्द्र व्याकरण मे वृद्धि के स्थान पर 'ऐप्' संज्ञा का विधान किया गया है, किन्तु इसके भी सज्ञी अष्टाध्यायी के समान 'आ' 'ऐ' और 'औ' ही है।[१७] सरस्वतीकण्ठाभरण मे राजा भोज ने भी पाणिनि के समान ही 'आ' 'ऐ' तथा 'औ' की वृद्धि सज्ञा का विधान किया है।[१८]

सिद्धहेमशब्दानुशासन मे 'आ' 'आर्' 'ऐ' एव 'औ' की वृद्धि सज्ञा का विधान किया गया है।[१९] 'सक्षिप्तसार' के अनुसार 'आ' 'आर्' 'आल्' 'ऐ' और 'औ' की वृद्धि सज्ञा होती है।[२०] आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने सारस्वत व्याकरण मे 'आरै औवृद्धि·'[२१] सूत्र द्वारा वृद्धि सज्ञा का विधान किया है। उपर्युक्त सूत्र की 'स्वोपज्ञ वृत्ति' में इसका तात्पर्य इस प्रकार बताया गया है–'आ आर् ऐ तथा औ' की वृद्धि सज्ञा होती है।[२२] मुग्धबोध व्याकरण मे वृद्धि सज्ञा के स्थान पर ''व्रि'' सज्ञा का विधान किया गया है, जिसके सज्ञी है– आ आर, आल् ऐ और औ।[२३] सुपद्म व्याकरण' मे भी 'आ' आर् आल् ऐ और औ' की वृद्धि सज्ञा का विधान किया गया है।[२४] इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य पाणिनि द्वारा प्रतिपादित वृद्धि सज्ञा को पश्चवर्ती आचार्यो मे–कुछ ने यथावत् और कुछ ने किञ्चित् परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है।

अष्टाध्यायी के अनुसार 'वृद्धि-सज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्न है–

क्र०स०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	वृद्धिरेचि	६।१।८८	वृद्धि	कृष्णैकत्वम्, गङ्गौघ देवैश्वर्यम्, कृष्णौत्कण्ठ्यम् आदि
२.	सिचि वृद्धि· परस्मैपदेषु	७।२।१	वृद्धि	अवैषीत्, असौषीत्, अकार्षीत्

३	मृजेर्वृद्धि	७।२।११४	वृद्धि	मार्ष्टि, मार्जन्ति, ममार्ज, मार्ग्य
४	हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च	७।३।१९	वृद्धि	सौहार्द·, सौभागिनेय
५	वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्	१।१।७३	वृद्ध सज्ञा	शालीय , मालीय·
६	इद्वृद्धौ	६।३।२८	इत्वम्	आग्निमारुतम्, आग्निवारुणम्
७	वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे	६।३।३९	पुवद्भाव निषेध	सौघ्नीभार्य माधुरीयते

२. गुण संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने 'अदेङ्गुण '[२५] सूत्र द्वारा गुण सज्ञा का विधान किया है। प्रकृत सूत्र मे गुण सज्ञा है और सज्ञी है 'अदेङ्'। 'अदेङ्' की व्युत्पत्ति है– 'अच्च एङ् च' इति 'अदेङ्'। प्रकृत विग्रह मे समाहार द्वन्द्व समास है। तपर होने के कारण सूत्रार्थ है–ह्रस्व अकार और दीर्घ एकार, ओकार की गुण सज्ञा होती है। तपरत्व के अभाव मे 'तरिता' इत्यादि स्थलो मे द्विमात्रिक ॠकार के स्थान पर द्विमात्रिक आकार तथा 'महेश' इत्यादि स्थलो पर चतुर्मात्रिक एकार और 'गङ्गोकम्' इत्यादि स्थलो पर त्रिमात्रिक 'ओकार' की प्राप्ति होती, जो आचार्य पाणिनि को इष्ट नही थी, इसीलिए तपर का विधान सूत्र द्वारा किया गया है। गुण सज्ञा महती भी है और अन्वर्थ भी है। आचार्य रघुनाथ शर्मा ने 'अ' 'ए' और 'ओ' रूप तीनो वर्णो के गुण सज्ञा के विषय मे एक नवीन उद्भावना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार जगत् के मूल सत्त्व, रजस् और तमस् गुणो की सख्या-साम्य के आधार पर ही 'अदेङ्' की गुण सज्ञा की गयी है। अन्य शास्त्रो मे भी एवविध प्रयोग होता है। जैसे–ज्योतिष मे सख्या, साम्य के आधार पर 'दशमी' तिथि को 'दिक्' सज्ञा और एकादशी को 'रुद्र' सज्ञा प्रदान की गयी है।[२६]

पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे 'गुण' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम निरुक्त मे प्राप्त होता है। किन्तु वहाँ इसके स्वरूप का प्रतिपादन नही किया गया है।[२७] ॠक् प्रातिशाख्य मे भी 'एकार' को गुण के सज्ञीके रूप मे स्वीकार किया गया है।[२८]

काशकृत्स्न व्याकरण मे भी ''नामिनो गुण सार्वधातुकार्धधातुकयोः''[२९] सूत्र मे गुण सज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है। पदमञ्जरीकार हरदत्त ने ''समवप्रविभ्य· स्थ ' सूत्र के व्याख्यान के सदर्भ में

आचार्य आपिशलि के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि आपिशलि के अनुसार एकार की गुण सज्ञा और 'आकार' की वृद्धि सज्ञा होती है।[30] माधवीय धातुवृत्ति के अनुसार भी आचार्य आपिशलि को अकार, एकार और ओकार की गुण सज्ञा अभीष्ट है।[31] अग्निपुराण मे भी गुणसज्ञा का प्रयोग किया गया है।[32]

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो में भी गुण संज्ञा का विधान किया गया है। कातन्त्र व्याकरण मे 'अर्' एवं सन्ध्यक्षर के पूर्व के दो वर्णो अर्थात् 'ए' एवं 'ओ' की गुण सज्ञा का विधान किया गया है।[33] जैनेन्द्र व्याकरण मे गुण के स्थान पर 'एप्' संज्ञा का विधान किया गया है। किन्तु सज्ञी 'अ ए ओ' ही है।[34] सरस्वतीकण्ठाभरण में गुण सज्ञा के सन्दर्भ मे आचार्य पाणिनि के ही सूत्र को यथावत् स्वीकार कर लिया गया है।[35] ''सिद्धहेमशब्दानुशासन मे 'अर्, ए और ओ' को गुण का सज्ञी स्वीकार किया गया है।[36] आचार्य क्रमदीश्वर ने सक्षिप्तसार मे 'अर्' 'अल्' 'ए' और 'ओ' को गुण सज्ञक बताया है जो इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान मे होते है।[37] आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने सारस्वतव्याकरण मे 'अरेदो नामिनो गुण ''[38] सूत्र द्वारा गुण सज्ञा का विधान किया है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि 'अर्' 'ए' और 'ओ' की गुण सज्ञा होती है, तथा यह गुण नामि सज्ञक वर्णो के स्थान पर होता है। 'नामिन', का अभिप्राय इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, वर्णो से है।[39] मुग्धबोध व्याकरण मे गुण सज्ञा के स्थान पर 'गु' संज्ञा का विधान किया गया है, और यह सज्ञा 'अर्', अल्', 'ए' और ओ' की होती है।[40] सुपद्मव्याकरण मे भी गुण सज्ञा का विधान किया गया है और यह गुण इ, उ, ऋ, लृ के स्थान पर होता है।[41]

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य पाणिनि द्वारा अभीष्ट गुण सज्ञाका स्वरूप ही प्राय सभी वैय्याकरणों को यथावत् अथवा किञ्चित् परिवर्तन के साथ स्वीकार्य है। गुण सज्ञा का प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	आद्गुणः	६।१।८७	गुण	उपेन्द्र· रमेश· गङ्गोदकम् इत्या
२.	मिदेर्गुण·	७।३।८२	गुण	मेद्यति, मेद्यते, मेद्यतु

३	गुणोऽपृक्ते	७।३।९१	गुण	और्णोत्, और्णो ।
४	ह्रस्वस्य गुण	७।३।१०८	गुण	हे हरे। हे भानो!
५	गुणो यङ्लुको	७।४।८२	गुण	बोभूयते, बोभवीति।
६.	अतोगुणे	६।१।९७	पररूप	भवन्ति, एधन्ते एधे।

३. संयोग संज्ञा

सूत्रकार पाणिनि स्वरो के मध्य सन्ध्यक्षरो की गुणवृद्धि सज्ञा का विधान करके व्यञ्जनो की सज्ञा के निमित्त कहते है–''हलोऽनन्तरा सयोग.''।[४२] सूत्रार्थ है कि भिन्न जातीय स्वरो से अव्यवहित (मिलकर) उच्चरित होने वाले व्यञ्जनो की सयोग संज्ञा होती है।[४३] सूत्र मे 'अन्तर' शब्द व्यवधान अर्थ मे प्रयुक्त है। व्यवधान विजातीयो से ही होता है। 'हलोऽनन्तरा.' का समास विग्रह होगा–''अविद्यमानम् अन्तर व्यवधान येषाम् इति''। यहा पर ''नञोऽस्त्यर्थानाम् वाच्यो वा चोत्तरपदलोप ''[४४] वार्तिक से समास और विद्यमान पद का लोप हो जायेगा। 'हल्' पद मे जात्यर्थ मे बहुवचन का प्रयोग ''जात्याख्यायाम् एकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम्''[४५] के आधार पर किया गया है। 'हल ' पद मे ''हलौ च हलश्च इति हल.'' विग्रह के आधार पर एकशेष वृत्ति है। सूत्र मे 'हल ' पद का ग्रहण 'तितउभ्याम्' इत्यादि स्थलों पर स्वरो की संयोग सज्ञा के वारणार्थ है अन्यथा उकार का सयोगान्त लोप होने लगेगा। इसी प्रकार 'अनन्तराः' पद का भी ग्रहण 'पनसम्' इत्यादि स्थलो पर सकार और मकार की संयोग संज्ञा न हो, के लिये किया गया है अन्यथा 'स्को सयोगाद्योरन्ते च''[४६] सूत्र से सकार का लोप प्राप्त होगा।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि एक अक्षर वाली सज्ञाओं के हो जाने पर भी 'सयोग' ऐसी महासज्ञा क्यों की गयी? इसका समाधान है कि अन्वर्थ सज्ञा के विधान के लिए महासज्ञा करना आवश्यक था। ''संयुज्यन्ते अस्मिन् समुदाये वर्णाः'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर सयोग सज्ञा समुदाय मे हीं पर्यवसित होती है। अन्यथा 'दृषद्भिर्भर्ति' इत्यादि स्थलो पर 'वकार' के साथ होने के कारण दकार की भी सयोग संज्ञा होने पर उसका संयोगान्त लोप होने लगेगा। यहाँ पर पुन प्रश्न उठता है कि जहाँ पर बहुत से व्यञ्जन मिले हुए हो वहाँ पर सयोग सज्ञा सबकी एक साथ होगी अथवा दो-दो व्यञ्जनो की अलग-अलग। यहाँ पर शब्देन्दुशेखरकार आचार्य नागेश भट्ट का स्पष्ट मत है कि–दो-दो व्यञ्जनो की ही सयोग

सज्ञा होगी न कि अनेक वर्णो की एक साथ[४७] दो व्यञ्जनो की सयोग सज्ञा होने के कारण ''शिक्षा'' इत्यादि स्थलो पर 'गुरोश्च हल '[४८] सूत्र द्वारा अ प्रत्यय की प्राप्ति सुनिश्चित होती है। सयोग सज्ञा अन्वर्थक है। प्रदीपकार आचार्य कैय्यट के शब्दो मे–

''सयोगसज्ञाया अन्वर्थत्वत्। सयुज्यन्तेऽस्मिन् वर्णा इति समुदाय सयोगइत्यर्थाश्रयणात् सहग्रहण न कर्तव्यमित्यर्थ ।[४९] किन्तु उद्योतकार आचार्य नागेशभट्ट सयोग सज्ञा के अन्वर्थता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए कहते है कि महासज्ञा करण पूर्वाचार्यो के अनुरोध से ही आचार्य पाणिनि ने किया है। उन्ही के शब्दो मे–

''तरमान्महासज्ञाकरण प्राचामनुरोधेनेत्येव ज्याय । अतएव भगवता गर्गदण्डनन्यायमाश्रित्य सहग्रहण प्रत्याख्यात न तु महासज्ञयेत्यलम्।''[५०]

पाणिनि के पूर्ववर्ती सस्कृत वाङ्मय मे पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे सयोग शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है।[५१] किन्तु वहॉ इसकी परिभाषा नही दी गयी है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे व्यञ्जन वर्णो का मेल (सन्निपात) सयोग सज्ञक होता है।[५२] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य मे विना परिभाषा किये हुए ही व्यञ्जनो के मेल के अर्थ मे सयोग शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[५३] वाजसनेयिप्रातिशाख्य मे अव्यवहित (व्यञ्जन) की सयोग सज्ञा कही गयी है।[५४]

शौनकीया चतुराध्यायिका के अनुसार स्वरो से अव्यवहित व्यञ्जन सयोग सज्ञक होता है।[५५] ऋक्तन्त्र मे सयुक्त व्यञ्जनो के लिए सयोग के स्थान पर 'सण्' सज्ञा का विधान किया है।[५६] अथर्ववेद प्रातिशाख्य[५७] और नाट्यशास्त्र[५८] मे भी सयोग शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है किन्तु कही पर भी उसे व्याख्यायित नही किया गया है। नारदपुराण मे भी पारिभाषिक रूप मे सयोग सज्ञा का प्रयोग उपलब्ध होता है।[५९]

अष्टाध्यायी के पश्चात् कातन्त्र व्याकरण[६०] और चान्द्रव्याकरण[६१] मे भी यह संज्ञा प्रयुक्त है। आचार्य देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण मे सयोग के स्थान पर 'स्फ' सज्ञा का विधान किया है, किन्तु सज्ञी का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान ही है।[६२] शाकटायन व्याकरण मे सयोग सज्ञा का प्रयोग हुआ है।[६३] भोजदेव ने 'हलो मिथ· श्लिष्टा सयोग·'' कहकर सयोग सज्ञा का उल्लेख किया है।[६४] आचार्य

हेमचन्द्र[६५] और आचार्य मलयगिरि ने[६६] बिना परिभाषा के ही सयोग सज्ञा का प्रयोग किया है। सारस्वत व्याकरण मे सयोग सज्ञा का विधान ''स्वरानन्तरिता हसा सयोग ''[६७] सूत्र द्वारा किया गया है। आचार्य बोपदेव ने स्वरो के व्यवधान से रहित ''हस'' को 'स्य' सज्ञक बताया है।[६८] सुपद्मव्याकरण मे सयुक्त हलो को सयोग सज्ञक कहा गया है।[६९] आचार्य पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने सयोग सज्ञा का केवल प्रयोग किया है।[७०] आचार्य जीवगोस्वामी ने परस्पर मिले हुए 'विष्णुजन' (व्यञ्जन) की 'सत्सङ्ग' सज्ञा का विधान किया है।[७१] किन्तु उन्होने सयोग शब्द का भी प्रयोग किया है।[७१]

सयोगसज्ञा के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	वान्यस्य सयोगादे	६।४।६८	एत्व	ग्लेयात्, म्लेयात्।
२	गुणोऽर्ति सयोगाद्यो	७।४।२९	गुण	अर्यते, स्मर्यात्, ह्वर्यात्।
३	सयोगान्तस्य लोप	८।२।२३	लोप	गोमान्, मघवान्, धीमान्।
४	स्को सयोगाद्योरन्ते च	८।२।२९	लोप	लग्न· तट् तष्टवान्।
५.	सयोगे गुरु	१।४।११	गुरु सज्ञा	देवदत्त
६.	सयोगादेरातोधातोर्यण्वत	८।२।४३	निष्ठाकेतकार को नकार	द्राण स्त्यान ग्लान ।
७	सयोगादिश्च	६।४।१६६	इन का प्रकृतिभाव	चाक्रिण ।

४. अनुनासिक संज्ञा

आचार्य पाणिनि अनुनासिक सज्ञा का विधान करते हुए कहते है कि–''मुखनासिका-वचनोऽनुनासिक ''[७३] काशिकाकार के अनुसार मुखसहित नासिका द्वारा उच्चार्यमाण वर्ण की अनुनासिक सज्ञा होती है।[७४] वैय्याकरणो मे ''मुखनासिकावचन '' पद मे समास कौन सा हो? इस विषय पर पर्याप्त विचार हुआ है। 'मुखनासिका' मे द्वन्द्व समास नही माना जा सकता क्योकि द्वन्द्व समास मानने पर ''द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्''[७५] सूत्र से समाहार द्वन्द्व 'स नपुसकम्''[७६] से नपुसकलिङ्ग' और

''ह्रस्वो नपुसके प्रातिपदिकस्य[७७] से ह्रस्व अन्तादेश होकर 'मुखनासिकम्' शब्द निष्पन्न होगा। जिसके कारण ''मुखनासिकम् वचनमस्य'' विग्रह के आधार पर बहुव्रीहि समास होकर रूप सिद्ध होगा– ''मुखनासिकवचन ,'' जो सर्वथा अनिष्ट होगा। भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इसके कई समाधान[७८] दिये है। उनके अनुसार द्वन्द्व समास मानने पर या तो ककारोत्तरवर्ती अकार को 'निपातनात् दीर्घ मान लेना चाहिए अथवा 'मुखनासिकमावचनमस्य'' ऐसा विग्रह करना चाहिए। आवचन का अभिप्राय है– ''ईषद् वचनम् आवचनम्'' अर्थात् किञ्चिद् मुखवचन, किञ्चिद नासिकावचनम्।'' इसके अतिरिक्त आचार्य पतञ्जलि मुखनासिका पद मे ''मुखद्वितीया नासिका अथवा मुखोपसहिता नासिका अथवा मुखसहिता नासिका'' ऐसा विग्रह मानकर शाकपार्थिवादिवत् समास करते है और फिर मुखनासिका शब्द का वचन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास करके ''मुखनासिकावचन·'' पद निष्पन्न करते है। सूत्र मे मुख का ग्रहण न करने पर 'यम' सज्ञा वाले वर्ण और अनुस्वार की ही अनुनासिक सज्ञा होती है। इसी प्रकार यदि नासिका का ग्रहण न किया जाता तो 'क् च् ट् त् प्' आदि वर्णो की ही अनुनासिक सज्ञा होती। ऐसा अनिष्टप्रसग न हो, इसलिए आचार्य पाणिनि ने मुख और नासिका दोनो पदो का ग्रहण किया है।[७९] ''कृत्यल्युटो बहुलम्''[८०] सूत्र द्वारा कर्म मे ल्युट् प्रत्यय होकर √वच् परिभाषणे धातु से 'उच्यते इति वचन व्युत्पत्ति द्वारा वचन पद निष्पन्न होगा। अनुनासिक सज्ञा अन्वर्थक है। इस सन्दर्भ मे भाष्यकार 'उव्वट'' के ये शब्द द्रष्टव्य है–''इयमन्वर्था सज्ञा नासिकामनुयो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते।''[८१]

आचार्य पाणिनि के पूर्व पारिभाषिक शब्द के रूप मे अनुनासिक शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे प्राप्त होता है। उसके अनुसार प्रत्येक वर्ग का अन्तिम वर्ण अनुनासिक सज्ञक होता है।[८२] इसी प्रातिशाख्य मे अनुनासिक वर्णो की 'रक्त सज्ञा' का विधान किया गया है।[८३] और कहा गया है कि रक्त सज्ञक वर्णो का उच्चारण मुख और नासिका से होता है।[८४] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य मे अनुस्वार और वर्गो के उत्तम (अन्तिम) वर्ण की अनुनासिक सज्ञा का विधान किया गया है।[८५] वाजसनेयिप्रातिशाख्य के अनुसार मुख और नासिका से उच्चरित वर्ण अनुनासिक कहलाता है।[८६] तदनुसार वर्गो के उत्तम (अन्तिम) वर्ण को अनुनासिक समझना चाहिए।[८७] शौनकीया चतुराध्यायिका मे ''उत्तमा· अनुनासिका ''[८८] सूत्र द्वारा अनुनासिक सज्ञा का विधान किया गया है। ऋक्तन्त्र मे

'अन्त्योऽनुनासिक ''[९६] सूत्र द्वारा अनुनासिक सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। इसमे 'हुम्'[९०] और पदान्त मे वर्तमान समानाक्षरो तथा इकार के भी अनुनासिकत्व का प्रतिपादन किया गया है।[९१] काशकृत्स्न व्याकरण मे अनुनासिक शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है किन्तु इसकी परिभाषा प्राप्त नही होती।[९२] नाट्यशास्त्र मे 'ङ् ञ् ण् न् म्'–इन पाँच वर्णो के नासिका से उच्चरित होने की बात कही गयी है।[९३]

पाणिनी के पश्चवर्ती कातन्त्र व्याकरण मे ङकार इत्यादि पॉच वर्णो की अनुनासिक सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[९४] चान्द्र व्याकरण मे बिना परिभाषा के ही अनुनासिक शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[९५] जैनेन्द्र व्याकरण मे आचार्य देवनन्दी ने अनुनासिक के स्थान पर 'ङ' सञ्ज्ञा का विधान किया है।[९६] सरस्वतीकण्ठाभरण मे भोजदेव ने आचार्य पाणिनि के ही सूत्र को यथावत् स्वीकार कर लिया है।[९७] शाकटायन व्याकरण[९८] सिद्धहेमशब्दानुशासन[९९] और शब्दानुशासन[१००] मे विना परिभाषा के ही अनुनासिक शब्द का प्रयोग किया गया है।

सारस्वत व्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने ''मुखनासिकाभ्यामुच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिक.''[१०१] सूत्र द्वारा अनुनासिक सञ्ज्ञा का प्रतिपादन किया है। आचार्य अनुभूतिस्वरूप से परवर्ती कुछ आचार्यो ने अनुनासिक सञ्ज्ञा को तो स्वीकार्य किया है। किन्तु इसकी परिभाषा 'अष्टाध्यायी' की परम्परा से हटकर है। सुपद्म व्याकरण मे ''अ'' और ''ङम्''(ङ म ण न म) को अनुनासिक कहा गया है।[१०२] प्रयोगरत्नमाला मे ङकार आदि पञ्च वर्णो की अनुनासिक सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[१०३] हरिनामामृत व्याकरण मे अनुनासिक के स्थान पर 'ङ' आदि पॉचो वर्णो की 'हरिवेणु'[१०४] सञ्ज्ञा तथा 'अ' की 'विष्णुचाप'[१०५] सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। किन्तु अर्धचन्द्राकृति वर्ण को 'विष्णुचाप' सञ्ज्ञा के साथ ही साथ अनुनासिक सञ्ज्ञक भी कहा गया है।[१०६]

अनुनासिक सञ्ज्ञा के प्रयोगप्रदेश निम्नवत् है–

के त्रिभाष्य-रत्नकार ने कहा है–''इयमन्वर्थ सञ्ज्ञा। सवर्णत्व नाम सादृश्यमुच्यते।''[111] वार्तिककार कात्यायन ने उच्चारण स्थान की भिन्नता होने के बावजूद ऋ और लृ वर्ण को परस्पर सवर्ण सञ्ज्ञक कहा है।[112] आचार्य पाणिनि ने उच्चारण स्थान और प्रयत्नसाम्य के बावजूद स्वर और व्यञ्जन की सवर्ण सञ्ज्ञा का निषेध किया है।[113]

अष्टाध्यायी के पूर्व पारिभाषिक सञ्ज्ञा के रूप मे सवर्ण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद-प्रातिशाख्य मे प्राप्त होता है। तदनुसार स्वर वर्णो के उच्चारण स्थान और प्रश्लिष्ट सन्धि के उपदेश मे जहॉ ह्रस्व स्वरवर्ण का उल्लेख हो, वहा ह्रस्व और दीर्घ दोनो सवर्ण स्वर वर्णो को समझना चाहिए।[114] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के अनुसार समानाक्षरो मे दो-दो ह्रस्व और दीर्घ वर्ण सवर्ण सञ्ज्ञक होते है।[115] वाजसनेयिप्रातिशाख्य मे सवर्ण सञ्ज्ञा का विधान करते हुए तुल्य उच्चारण स्थान, सक्रिय उच्चारणावयव और आभ्यन्तर यत्न वाला वर्ण सवर्ण कहलाता है।[116] शौनकीया चतुराध्यायिका मे भी सवर्ण संज्ञा का प्रयोग उपलब्ध होता है।[117]

महर्षि शालङ्कि से अर्वाचीन व्याकरणो मे से कातन्त्र व्याकरण मे समानाक्षरो में दो-दो ह्रस्व और दीर्घ वर्ण सवर्ण सञ्ज्ञक कहे गये है।[118] चान्द्र व्याकरण मे यद्यपि इस सञ्ज्ञा का विधान तो नही किया गया है किन्तु उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है।[119] जैनेन्द्र व्याकरण[120], शाकटायन व्याकरण[121], सिद्धहेमशब्दानुशासन[122] और शब्दानुशासन[123] मे सवर्ण के स्थान पर 'स्व' संज्ञा का विधान किया गया है किन्तु सञ्ज्ञी का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान ही है। भोजदेव ने सवर्ण सञ्ज्ञा का प्रतिपादन महर्षि पाणिनि के समान ही किया है।[124] सारस्वत व्याकरण मे ''ह्रस्वदीर्घप्लुत भेदा सवर्णा ''[125] सूत्र द्वारा सवर्ण सञ्ज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य बोपदेव ने सवर्ण के स्थान पर उसके एकदेश 'र्ण' सञ्ज्ञा का पतिपादन किया है।[126] उनके अनुसार 'उच्चारण स्थान की समानता रहने पर 'ञप्' की 'ञप्' के साथ 'अक्' की 'अक्' के साथ और ऋ तथा लृ की परस्पर 'र्ण' सञ्ज्ञा होती है। सुपदम् व्याकरण मे अपने समूह वाले स्वरो की सवर्ण सञ्ज्ञा बतलायी गयी है।[127] प्रयोगरत्नमाला मे समान स्थान और प्रयत्न वालो तथा ऋ, लृ वर्ण को सवर्ण सञ्ज्ञक कहा गया है।[128] हरिनामामृत व्याकरण मे विना परिभाषा के ही सवर्ण सञ्ज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है।[129]

सवर्ण सञ्ज्ञा के प्रयोग प्रदेश इस प्रकार है–

क्र०स०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	अक सवर्णे दीर्घ	६।१।१०१	दीर्घ	दैत्यारि श्रीश विष्णूदय ।
२	प्रथमयो पूर्वसवर्ण	६।१।१०२	दीर्घ	हरी, शिशू।
३	अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण	८।४।५८	परसवर्ण	अङ्कित अञ्चित शान्त , गुम्फित , कुण्ठित ।
४	झरो झरि सवर्णे	८।४।६५	लोप	कृष्णर्द्धि , शिष्टि।

६. प्रगृह्य संज्ञा

प्रगृह्य शब्द की व्युत्पत्ति होगी– 'प्रकर्षेण गृह्यते ज्ञायते ईदूदेदन्त द्विवचनशब्दरूप सन्ध्यभावादिति कर्मणि क्यप्'' अथवा प्रकृष्ट इतरेभ्यो गृह्यन्ते ज्ञायन्ते शब्दा स्पष्टरूपेण यत्र सन्ध्यभावात् तत्र प्रगृह्यत्वम्। बाहुलकात् अधिकरणे क्यप्। उपर्युक्त व्युत्पत्तियो के आधार पर स्पष्ट है कि प्रगृह्यसञ्ज्ञक वर्ण सन्धिविरहित रूप मे भाषा मे प्रयुक्त होते है। आचार्य पाणिनि ने नौ सूत्रो द्वारा प्रगृह्य सञ्ज्ञा का विधान किया है। जो निम्नवत् है–

(१) **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्**[१३०]– इस सूत्र मे 'ईदूदेद्' पद मे समाहार द्वन्द्व है–ईच्च ऊच्च ऐच्च इति ईदूदेद्। ईदूदेद् के द्विवचन का विशेषण होने के कारण तदन्तविधि प्रवृत्त होती है। यदि यह कहा जाय कि द्विवचन के भी प्रत्यय होने के कारण 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेतदन्तस्य ग्रहणम्[१३१] परिभाषा के आधार पर तदन्त विधि हो सकती है तो चूँकि यहाँ पर सञ्ज्ञा का विधान किया गया है, इसलिए 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति[१३२] परिभाषा के आधार पर तदन्तविधि नही हो सकती। इस प्रकार सूत्रार्थ हुआ– 'ईदन्त ऊदन्त और एदन्त द्विवचन प्रगृह्यसञ्ज्ञक होता है। इसके उदाहरण 'हरी एतौ' 'विष्णू इमौ' 'गङ्गे अमू' आदि है।

(२) **अदसो मात्**[१३३]– अदस पद मे अवयव षष्ठी है। प्रकृत सूत्र मे ''ईदूद्' और 'प्रगृह्यम्' पद का अनुवर्तन होगा। 'मात्' पद मे दिग् योग मे पञ्चमी है। 'पर' शब्द का अध्याहार किया जाएगा

इस प्रकार सूत्रार्थ होगा– 'अदस्' शब्द के अवयव मकार से परे दीर्घ ईकार, ऊकार की प्रगृह्य सज्ञा होती है। यद्यपि यहाँ पर 'सहैव प्रवृत्ति सहैव निवृत्ति '' के आधार पर 'एत्' का भी अनुवर्तन होना चाहिए। किन्तु 'अदस्' शब्द के रूपो मे 'मकार' से परे एकार के असम्भव होने के कारण उसका अनुवर्तन नही किया गया। इसके उदाहरण है– 'अमी ईशा ' 'रामकृष्णावमू आसाते' आदि है। सूत्र मे 'मात्' पद का ग्रहण सूत्र की प्रवृत्ति ''अमुकेऽत्र' मे न हो, इसलिए किया गया।

(३) **शे**[१३४]– 'शे' इस आदेश की प्रगृह्य' सज्ञा होती है। वेद मे 'सुपा सुलुक्पूर्व सवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल '[१३५] सूत्र से 'अस्मभ्यम्' मे 'भ्यस्' के स्थान पर 'शे' आदेश और अनुबन्धादि लोप होकर ''अस्मे'' इस मकारोत्तरवर्ती एकार की प्रगृह्य सज्ञा होने के कारण ''अस्मे इन्द्रा-वृहस्पती' मे प्रकृतिभाव होता है। 'भ्यस्' स्थानी 'शे' के द्विवचन न होने के कारण प्रकृत सूत्र की आवश्यकता है।

(४) **निपात एकाजनाङ्**[१३६]– 'प्रगृह्यम्' पद का अनुवर्तन होगा और लिङ्गविपरिणाम होकर पुल्लिङ्ग मे 'प्रगृह्य ' हो जाएगा। एकाच् पद मे ''एकपूचासौ अच्च'' विग्रह होकर कर्मधारय समास होगा। सूत्रार्थ होगा– 'आङ्' को छोड़कर एक स्वर वाला 'निपात' प्रगृह्य होता है। इसके उदाहरण है– इ इन्द्र·, उ उमेश· आदि। प्रादिगणपठित 'आङ्' के प्रगृह्य न होने के कारण वाक्य और स्मरण अर्थ मे प्रयुक्त चादिगण पठित 'आ' भी प्रगृह्य सज्ञक होता है। जिसका उदाहरण है– 'आ एव नु मन्यसे' और 'आ एव किल तत्'।

(५) **ओत्**[१३७]– प्रकृत सूत्र मे 'निपात' का अनुवर्तन होता है और 'ओत्' उसका विशेषण होता है। विशेषण होने के कारण ही तदन्त विधि प्रवृत्त होती है। 'प्रगृह्यम् पद का भी अनुवर्तन होता है और लिङ्विपरिणाम होकर पुल्लिङ्ग मे प्रयुक्त होता है। इस प्रकार सूत्रार्थ होता है–ओदन्त निपात प्रगृह्य होता है। यहा पर ओदन्त निपातो के अनेकस्वर वाले होने के कारण प्रगृह्य सज्ञा नही प्राप्त थी, इसलिए इस सूत्र से विशेष विधान किया गया है। इसका उदाहरण है–'अहो ईशा ' आदि।

(६) **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे**[१३८]– प्रकृत सूत्र मे ओत् का अनुवर्तन होता है। 'प्रगृह्यम्' पद का अनुवर्तन होकर लिङ्ग विपरिणाम होता है। आचार्य शाकल्य का मत होने के कारण सूत्र की प्रवृत्ति विकल्पात्मक होती है। सूत्र का अभिप्राय है कि अवैदिक 'इति' के परे रहने पर सम्बुद्धि निमित्तिक

ओकार विकल्प से प्रगृह्य होता है। यहा पर ओदन्त होने पर भी निपात न होने के कारण प्रकृत सूत्र के विधान की आवश्यकता होती है। इसके उदाहरण–विष्णो इति आदि।

(७) **उञः**[१३९]– प्रकृत सूत्र मे ''शाकल्यस्य'' इतौ 'प्रगृह्यम्' पद का अनुवर्तन होता है। अनुवर्तन के पश्चात् सूत्रार्थ होगा–आचार्य शाकल्य के मत मे 'इति' परे रहने पर 'उञ्' प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है। वस्तुत· इसकी प्रगृह्य सञ्ज्ञा निपात एकाजनाङ्[१४०] सूत्र से ही प्राप्त थी किन्तु विकल्प विधान के लिए आचार्य पाणिनि ने उक्त सूत्र का निर्माण किया। इसके उदाहरण है–'उ इति', विति।

(८) **ऊँ**[१४१]– प्रकृत सूत्र मे 'उञ·, इतौ, शाकल्यस्य और प्रगृह्यम्' पद के अनुवर्तन के पश्चात् सूत्रार्थ होगा–'इति' के परे रहने पर आचार्य शाकल्य के मत मे 'उच्' का जो दीर्घ अनुनासिक उसे 'ऊँ' ऐसा आदेश हो और वह भी प्रगृह्य सञ्ज्ञक हो। जैसे–'ऊँ इति', विति।

(९) **इदूतौ च सप्तम्यर्थे**[१४२]– प्रस्तुत सूत्र मे 'प्रगृह्यम्' इस पद का अनुवर्तन होगा और वचन विपरिणाम होकर द्विवचनान्त रूप बनेगा। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा–'सप्तमी अर्थ मे वर्तमान ईदन्त और ऊदन्त शब्द रूप की प्रगृह्य सञ्ज्ञा होती है। जैसे– 'सोमो गौरी अधिश्रित ' यहाँ पर गौरी के पश्चात् आने वाली सप्तमी विभक्ति का 'सुपा सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल [१४३] से लुक् हुआ, इसलिए रेफोत्तरवर्ती इकार की प्रगृह्य सञ्ज्ञा प्रकृत सूत्र से होती है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे भी प्रगृह्य सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। ऋक्प्रातिशाख्यकार प्रगृह्य सञ्ज्ञा बताते हुए कहते है कि–

ओकार आमन्त्रितज प्रगृह्य पद चान्योपूर्वपदान्तगश्च।

षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस् भयो दीर्घा साप्तमिकौ च पूर्वौ।।[१४४]

अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्या उपोत्तम नानुदात्तम् न पद्यम्।

उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघित शाकलेन।।[१४५]

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य मे प्रगृह्य के स्थान पर 'प्रग्रह' सञ्ज्ञा का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ अध्याय मे 'अथ प्रग्रह '[१४६] सूत्र द्वारा प्रग्रह के अधिकार को प्रदर्शित करके पूरे अध्याय मे प्रग्रह सञ्ज्ञा विषयक

सूत्रो का ही उपदेश किया गया है। जिसमे 'अन्त '[१४४] 'इति परोपि'[१४८] 'उकार '[१४९] 'अस्मे'[१५०] समीची[१५१] 'पतीश्रुति [१५२] और 'स्थ पर.'[१५३] इत्यादि प्रमुख है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य मे अधोलिखित सूत्रो द्वारा प्रगृह्य सज्ञा का विधान किया गया है–

''प्रगृह्यम्''[१५४] एकारेकारोकारा द्विवचनान्ता ''[१५५] ''ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रह ''[१५६] 'उकारोऽपृक्त ''[१५७] 'चमू अस्मे त्वे'[१५८] 'मे उदात्तम्',[१५९] 'अमी पदम्'[१६०] अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे भी ''ते प्रगृह्यमध्ये भूतादिभ्य पतिरुत्तरपदमाद्युदात्तम्''[१६१] सूत्र मे प्रगृह्य सज्ञा का उल्लेख किया गया है।

पाणिनि के पश्चवर्ती वैय्याकरणो ने भी प्रगृह्य सज्ञा का विधान किया है। कातन्त्र व्याकरण मे ''एदन्ता अ इ उ आ निपाता स्वरे प्रकृत्या, द्विवचनमनी, बहुवचनममी और अनुपदिष्टाश्च' सूत्रो द्वारा प्रगृह्य सज्ञा का विधान किया गया है।[१६२] चन्द्राचार्य के द्वारा ''मेरे द्वारा सज्ञा विधान नही किया जाएगा'' ऐसी प्रतिज्ञा करने के कारण प्रगृह्य सज्ञा का कथन किये विना ही प्रकृतिभाव का विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य चन्द्र को भी प्रगृह्य संज्ञा का ज्ञान अवश्य था।[१६३]

जैनेन्द्र व्याकरण मे भी ''ईदूदेद् द्वि र्दिः, दम , निरेकाजनाड्, ओत्, कौवेतौ, उञ. और ऊम् सूत्रो द्वारा प्रगृह्य सज्ञा का विधान किया गया है।[१६४]

सिद्धहेमशब्दानुशासन मे 'ईदूदेद् द्विवचन, अदोमुमी, चादि स्वरोऽनाड्, ओदन्त सौ नवेतौ, और ॐ चोञ् सूत्रो द्वारा प्रगृह्य सज्ञा विहित है।[१६५] मुग्धबोध व्याकरण मे आचार्य बोपदेव ने 'नाजाऽन्तोऽनाड् नि प्लुश्च, व्वद्रेऽमीय्वे, स्योद्वेतौ, उञ् णपात्वचि व वा, वेक् स्वश्चार्णेऽसे और ऋक्यक्, सूत्रो द्वारा प्रगृह्य सज्ञा का विधान किया है।[१६६]

प्रगृह्यसज्ञक स्वर प्रकृतिभाव होने के कारण अपने स्वातन्त्र्य को खोते नही। प्रगृह्य पदो की यही स्वतन्त्रता कवियो को भी भा गयी है। महाकवि भट्टि ने अत्यन्त चमत्कार पूर्ण ढग से इस तथ्य को प्रस्तुत किया है–

प्रगृह्यपदवत् साध्वी स्पष्टरूपामविक्रियाम्।

अगृह्या वीतकामत्वाद् देवगृह्यामनिन्दिताम्।।[१६७]

प्रगृह्यसज्ञा का प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है—

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्यम्	उदाहरण
१	प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्	६।१।१२५	प्रकृतिभाव	हरी एतौ, विष्णू इमौ, गङ्गे अमू अमी ईशा॰, रामाकृष्णावमू आसाते, अस्मे इन्द्रावृहस्पती, इ इन्द्र , अहो ईशा , विष्णो इति, उ इति, ऊँ इति, सोमो गौरी अधिश्रित , मामकी तनू।

७. सम्प्रसारण संज्ञा

आचार्य पाणिनि सम्प्रसारण सज्ञा का विधान करते हुए कहते है कि 'यण्' के स्थान पर प्रयुज्यमा। जो इक्, वह सम्प्रसारणसज्ञक होता है।[१६८] किन्तु ऐसी स्थिति मे ''ष्यड सम्प्रसारण पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे''[१६९] इत्यादि विधि प्रदेशो मे अन्योन्याश्रय दोष आपतित होता है। इसलिये ''अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते'' के आधार पर अन्योन्याश्रय कार्य हो नहीं सकते। जैसे जब इक् के स्थान मे यण् का प्रयोग हो तब उसकी सम्प्रसारण सज्ञा हो। और जब सम्प्रसारण सज्ञा हो जाय तब इक् यण् के स्थान मे हो। इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होती है। भाष्यकार ने इस दोष का वारण भावीसज्ञा मानकर किया है। भावी सज्ञा का आश्रय लोक मे भी लिया जाता है। जैसे कोई जुलाहे के पास जाकर कहता है कि ''अस्य सूत्रस्य शाटक वय'' इस सूत की धोती बुनो। यहॉ पर यदि धोती है, तो उसे क्या बुनना? और यदि अभी बुनना है तो उसे धोती कैसे कहा जा सकता है? धोती तो बुने जाने पर कहा जायगा, ऐसी दशा मे इस वाक्य का भावी सज्ञा का सहारा लेकर यही अभिप्राय कहा जाता है कि इस सूत से वह चीज बुनो, जिसे बुन जाने पर धोती कहा जायेगा।[१७०] प्रकृत सूत्र का व्याख्यान वर्ण और वाक्य पक्ष के आधार पर उभयत किया जाता है। सम्, प्र पूर्वक गत्यर्थक √'सृ' धातु से 'णिच्' और 'ल्युट्' प्रत्यय किये जाने पर सम्प्रसारण शब्द की सिद्धि होती है। सम्प्रसारण शब्द के कहने से ही वृद्धि या विस्तार का बोध होता है। प्रकृत सूत्र मे 'य् व्, र् ल्' वर्णो के स्थान पर होने वाले 'इ, उ, ऋ, लृ' वर्णो की सम्प्रसारण सज्ञा का विधान किया गया है।

''व्यञ्जनमर्द्धमात्रिकम्''[१७१] के आधार पर अर्द्धमात्रा वाले यण् ''य् व्, र् ल्' के स्थान पर एक मात्रिक इ, उ, ऋ, लृ स्वर होते है। अर्द्ध मात्रा के एक मात्रा के रूप मे वृद्धि होने के कारण यह सज्ञा अन्वर्थक सिद्ध होती है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाड्मय मे सम्प्रसारण सज्ञा का प्रयोग केवल काशकृत्स्न व्याकरण मे उपलब्ध होता है।[१७२] परवर्ती व्याकरण ग्रन्थो कातन्त्र व्याकरण मे भी अन्तस्थ 'य्, व्, र्' के स्थान पर होने वाले इ, उ ऋ की सम्प्रसारण सज्ञा का विधान किया गया है।[१७३] जैनेन्द्र व्याकरण मे 'यण्' के स्थान मे होने वाले 'इक्' की 'जि' सज्ञा का विधान किया गया है।[१७४] सरस्वतीकण्ठाभरण मे आचार्य पाणिनि के सूत्र को यथावत् स्वीकार कर लिया गया।[१७५] शब्दानुशासन मे आचार्ग मलय गिरि ने 'य् व्, र्' के स्थान पर होने वाले इ, उ, ऋ की सम्प्रसारण सज्ञा का विधान किया है।[१७६] सारस्वतव्याकरण में सम्प्रसारण संज्ञा विधायक कोई सूत्र तो नही है किन्तु 'सम्प्रसारण' सज्ञा का प्रयोग अनेक सूत्रो मे किया गया है।[१७७] मुग्धबोधव्याकरण मे आचार्य बोपदेव ने भी जैनेन्द्र व्याकरण के समान सम्प्रसारण सज्ञा के स्थान पर 'जि' सज्ञा का विधान किया है।[८] किन्तु यहॉ सज्ञी यण् के स्थान पर होने वाला इक् है। प्रयोगरत्नमाला मे स्वर सहित 'य् व् तथा रेफ के स्थान पर होने वाले इ, उ और ऋ की सम्प्रसारण सज्ञा का विधान किया गया है।[१७९] हरिनामामृतव्याकरण मे सर्वेश्वर (स्वर) सहित य व् और रेफ के स्थान मे होने वाले इ, उ एव ऋ की सम्प्रसारण के स्थान पर 'सङ्कर्षण' सज्ञा का विधान किया गया है।[१८०]

सम्प्रसारण सज्ञा विषयक प्रयोग-प्रदेश निम्नवत् है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	ष्यङ् सम्प्रसारण पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे	६।१।१३	सम्प्रसारण	कौमुदगन्धीपुत्र ।।
२.	बन्धुनि बहुव्रीहौ	६।१।१४	सम्प्रसारण	कारीषगन्धीबन्धु ।।
३.	सम्प्रसारणस्य	६।३।१३९	दीर्घ	कौमुदगन्धीपुत्र ।।
४	वसो· सम्प्रसारणम्	६।४।१३१	सम्प्रसारण	विदुष , सेदुषः।
५	द्युतिस्वाप्यो सम्प्रसारणम्	७।४।६७	सम्प्रसारण	दिद्युते।

८. टि संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने लोपादिविधि के साधनार्थ 'टि' सज्ञा का 'अचोऽन्त्यादि टि''[१८१] सूत्र द्वारा विधान किया है। सूत्र मे 'अच ' पद मे निर्धारण अर्थ मे षष्ठी है। निर्धारण के अनेकाश्रित होने के कारण, जाति मे एकवचनत्व का विधान होने से निर्धारण षष्ठी उपपन्न हो जायेगी। सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए काशिकाकार ने कहा कि ''अचा सन्निविष्टाना योऽन्त्योऽच् तदादिशब्दरूपम् टिसज्ञम् भवति''।[१८२] इसका अभिप्राय है कि ''स्वरो के मध्य जो अन्तिम स्वर, वह है आदि मे जिसके, उस शब्दरूप की टि सज्ञा होती है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि यदि अन्तिम स्वर के बाद कोई व्यञ्जन नही है तो अन्तिम स्वर की ही ''देवदत्तस्य एक. पुत्र. स एव ज्येष्ठ. स एव मध्यमः स एव कनिष्ठ.'' न्याय से टि सज्ञा हो जायेगी।

यह टि सज्ञा अन्वर्थक नही है। क्योकि शास्त्रीय कार्यो मे ही इसका व्यवहार प्राप्त है। इसे अपशब्द भी नही कहा जा सकता। इस सन्दर्भ मे पदमञ्जरीकार हरदत्त का कथन ध्यातव्य है–

यास्त्वेता स्वेच्छयासज्ञा क्रियन्ते टिघुभादय.।
कथ नु तासा साधुत्व नैव ता साधवो मताः।।
अनपभ्रशरूपत्वान्नाप्यासामपशब्दता।
हस्तचेष्टा यथा लोके तथा सङ्केतिता इमा ।।[१८३]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्तीप्रातिशाख्यादि ग्रन्थो मे टि सज्ञा नही प्राप्त होती। किन्तु शाकटायन प्रणीत उणादि सूत्रो मे ''अवतेष्टिलोपश्च''[१८४] ''सिवेष्टेर्यू च''[१८५] सूत्रो मे टि सज्ञा का प्रयोग पाणिनि प्रयुक्त अर्थ मे ही किया गया है। इसी प्रकार काशकृत्स्न व्याकरण मे टि सज्ञा के स्थान पर ''अन्त्यस्वरादि''[१८६] शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।

पाणिनि के पश्चवर्ती व्याकरणो मे कातन्त्र व्याकरण मे 'टि' संज्ञा के लिए 'अन्त्यस्वर'[१८७] और चान्द्रव्याकरण मे ''अन्त्याजादि'[१८८] शब्द का प्रयोग किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण[१८९] और सरस्वतीकण्ठाभरण[१९०] मे अष्टाध्यायी के समान ही 'टि' सज्ञा का विधान किया गया है। शब्दानुशासन मे आचार्य मलयगिरि ने 'टि' के स्थान पर 'अन्त्यस्वरादि'' शब्द का प्रयोग किया है।[१९१] सारस्वत

व्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने 'अन्त्यस्वरादिष्टि.''[१६२] सूत्र द्वारा टि सज्ञा का प्रतिपादन किया है। मुग्धबोधकार आचार्य बोपदेव ने ''अन्त्याजादिष्टिः''[१६३] सूत्र द्वारा टि सज्ञा का विधान किया है। आचार्य पद्मनाभदत्त ने सुपद्मव्याकरण मे टि संज्ञा का विधान किया है। प्रयोगरत्नमाला मे टि सज्ञा के स्थान पर ''अन्त्यस्वरादि''[१६४] और हरिनामामृतव्याकरण मे 'ससार'[१६५] सज्ञा का विधान किया गया है किन्तु इनमे संज्ञी का स्वरूप आचार्य पाणिनि के समान ही है।

टि सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्नवत् हैं–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	टित आत्मनेपदानां टेरे	३।४।७९	एत्व	एधते, अधीयते।
२	अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे.	५।३।७१	अकच्	उच्चकै. सर्वकैः।
३	विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये	६।३।९२	अद्र्यादेश	अमुमुयङ्।
४.	टे·	६।४।१४३	भ संज्ञक के टि का लोप	कतरत् अन्यत्।
५	टे	६।४।१५५	भ सज्ञक के टि का लोप	प्रदिमा, प्रथिमा।

६. उपधा संज्ञा

संस्कृत व्याकरण मे लोपादिविधि कहीं कहीं पर उपान्त्य मे भी प्रवृत्त होती है। इसलिए आचार्य पाणिनि ने ''अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा''[१६६] सूत्र द्वारा उपधा संज्ञा का विधान किया है। सूत्र में ''अलः'' पद मे पञ्चमी है। 'अल्' का अभिप्राय वर्णमात्र से है, चाहे वह स्वर हो या व्यञ्जन हो। सूत्र मे 'अलः' पद के ग्रहण करने का प्रयोजन है कि ''शिष्ट'' इत्यादि स्थलो पर 'शास्' धातु मे 'आस्' समुदाय से पूर्व शकार की उपधा सज्ञा न हो। अन्यथा 'शास इदङ् हलोः''[१६७] सूत्र से सकार के स्थान पर इकार होने लगेगा, जो अनिष्ट है। इसी प्रकार ''वर्ण की ही उपधा सज्ञा होती है'' यह कहने का प्रयोजन 'शास्'

धातु मे 'शा' समुदाय की उपधा सज्ञा के निषेधपरक है। अन्यथा 'शा' समुदाय के स्थान पर इकार हो जाता। यहाँ पर अलोऽन्त्य परिभाषा के आधार पर आकार के स्थान पर इकार की प्राप्ति ''नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे''[१९८] परिभाषा के द्वारा निषिद्ध है। काशिकाकार उपधासज्ञक सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते है– ''धात्वादौ वर्णसमुदायेऽन्त्यादल· पूर्वो यो वर्ण· सोऽलेवोपधा सज्ञो भवति''[१९९]। इसका अभिप्राय है कि धात्वादि वर्ण समुदाय मे अन्तिम वर्ण से पूर्व जो वर्ण, वही उपधा सज्ञक होता है। ''उप समीपेऽन्त्यस्य पूर्वस्मिन् समीपे धीयते निधीयते यः वर्णः स उपधासज्ञ '' इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह संज्ञा अन्वर्थक भी है।

आचार्य पाणिनि के पहले सस्कृत वाङ्मय मे पारिभाषिक संज्ञा के रूप मे उपधा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग निरुक्त[२००] मे प्राप्त होता है किन्तु वहाँ इसका कोई लक्षण नही दिया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे उपधा सज्ञा का विधान तो नहीं किया गया है किन्तु अनेक स्थलो पर इसका प्रयोग उपलब्ध होता है।[२०१] ऋग्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार स्वर (वर्ण) और सघोष (व्यञ्जन) परे हो तो अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण के सहित 'अरिफित विसर्जनीय'' वर्ण के समान समझा जाना चाहिए।[२०२] इस कथन के आधार पर यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे उपधा का अर्थ है अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण अथवा पद। ऋक्प्रातिशाख्य मे ही उपधा के लिए उपहित शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[२०३] वाजसनेयिप्रातिशाख्य मे ''अन्त्याद्वर्णात् पूर्व उपधा''[२०४] सूत्र द्वारा और 'शौनकीयाचतुराध्यायिका' मे ''वर्णादन्त्यात् पूर्व उपधा''[२०५] सूत्र द्वारा उपधा सज्ञा का विधान किया गया है। 'सामतन्त्र' में उपधा के स्थान पर 'उपान्त्य'[२०६] शब्द प्राप्त होता है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे उपधा शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है किन्तु वहा इसकी कोई परिभाषा नही दी गयी है।

पाणिनि के पश्चात् उत्पन्न वैय्याकरणों मे आचार्य शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण में 'अन्त्यात् पूर्व उपधा''[२०७] सूत्र के द्वारा उपधा सज्ञा का विधान किया है। चान्द्र व्याकरण मे उपधा के स्थान पर 'उपान्त'[२०८] सज्ञा का प्रयोग किया गया है। जिसका स्वरूप उपधा के समान ही है। जैनेन्द्र व्याकरण मे उपधा के स्थान पर अन्तिम वर्ण मात्र से पूर्व मे वर्तमान वर्ण की 'उङ्' सज्ञा का विधान किया गया है।[२०९] शाकटायन व्याकरण मे विना परिभाषा के ही उपधा के स्थान पर उपान्त्य शब्द का प्रयोग किया है।[२१०]

'सरस्वतीकण्ठाभरण मे राजाभोज ने आचार्यपाणिनि के समान 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा''[२११] सूत्र द्वारा उपधा सज्ञा का विधान किया गया है। 'सिद्धहेमशब्दानुशासन'[२१२] और आचार्य मलयगिरि प्रणीत शब्दानुशासन[२१३] मे भी उपधा के स्थान पर ''उपान्त्य'' शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु सज्ञी का स्वरूप आचार्य पाणिनि के समान ही है। सारस्वतव्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने भी ''अन्त्यात् पूर्व उपधा''[२१४] सूत्र द्वारा उपधा सज्ञा का विधान आचार्य पाणिनि के समान ही किया है। मुग्धबोधव्याकरण मे उपधा के स्थान पर 'उङ्'[२१५] सज्ञा का विधान किया गया है। आचार्य पद्मनाभदत्त ने सुपद्मव्याकरण[२१६] एव पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने 'प्रयोगरत्नमाला'[२१७] मे भी उपधा सज्ञा का विधान किया है। हरिनामामृतव्याकरण में आचार्य जीवगोस्वामी ने ''अन्त्यात् पूर्ववर्णः उद्धव सज्ञ.'' सूत्र द्वारा उपधा के स्थान पर 'उद्धव' सज्ञा का विधान किया है, किन्तु सज्ञी का स्वरूप आचार्य पाणिनि के समान ही है।

उपधा सज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्नवत् हैं–

क्र०सं०	**सूत्र**	**अ०पा०सू०सं०**	**कार्य**	**उदाहरण**
१.	उपधायाश्च	७।१।१०१	इदादेश	कीर्तयति।
२.	अत उपधाया.	७।२।११६	वृद्धि	चखाद।
३	रीगृदुपधस्य च	७।४।९०	रीगागम	वरीवृत्यते।
४	मादुपधायाश्चमतो र्वोऽयवादिभ्य.	८।२।९	मकार का वकार	लक्ष्मीवान् यशस्वान्
५	इदुदुपधस्यचाऽप्रत्ययस्य	८।३।४१	विसर्ग को षत्व	निष्प्रत्यूहम्।
६	पुगन्तलघूपधस्यच	७।३।८६	गुण	कोप·, द्रोहः

१०. प्रत्याहार संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र मे वर्णो के सक्षिप्त ज्ञान के लिए प्रत्याहार सज्ञा का विधान ''आदिरन्त्येन सहेता''[२१८] सूत्र द्वारा किया है। सूत्र का अर्थ है–''अन्त में होने वाले इत्संज्ञक वर्ण के साथ ''आदिम वर्ण बीच मे (पढे हुए) आये हुए वर्णों का तथा अपना भी बोधक होता है।[२१९] यह

प्रत्याहारसाधक सज्ञा सूत्र है। सूत्र मे उच्चरित ''अन्त्येन इता सह आदि·'' अर्थात् अन्त्य इत्सज्ञक वर्ण से युक्त आदि (अण्, अक्, अच् इत्यादि रूप)–यह सज्ञा का स्वरूप है। जिस प्रकार गुण सज्ञा सूत्र मे 'सज्ञी' निर्दिष्ट है, उस तरह इस सूत्र मे सज्ञी का निर्देश नही किया गया है। सज्ञी का बोध सज्ञा कराती है, यह नियम है। सूत्र मे 'आदि' और 'अन्त्य' शब्द अवयवार्थक है। आदि कहने से उसके पहले किसी का न होना किन्तु बाद मे होना सूचित होता है। इसी तरह अन्त्य कहने से उसके पश्चात् किसी का न होना, किन्तु उसके पूर्व किसी के होने का आशय विदित होता है। इस तरह आदि और अन्त्य शब्द मध्य पठित वर्णो के (अवयवी के) अपेक्षी है। और वे अवयवी (मध्य पठित वर्ण) ही सज्ञी होगे। सूत्र मे ''स्व रूप शब्दस्याशब्दसज्ञा''[२२०] सूत्र से 'स्व रूप' की अनुवृत्ति आने के कारण मध्य पठित वर्णो के साथ स्वय आदि वर्ण भी सज्ञी के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। सूत्र मे 'आदि' और 'अन्त्य' शब्द शास्त्रप्रवृत्ति मे उपयोगी बुद्धिपरिकल्पितसमुदाय के आदि 'अन्त्य' के वाचक है। माहेश्वर सूत्रो के आदि' अन्त्य' के नही। अन्यथा 'इक्' और 'र' जैसे प्रत्याहारो की सिद्धि नही होती।

प्रत्याहारसज्ञा वर्ण समाम्नाय स्थित वर्णो के सक्षेपेण ज्ञान के लिए है। आचार्य पाणिनि ने प्रसिद्ध होने के कारण 'प्रत्याहार' शब्द का उच्चारण नही किया। जिससे ज्ञात होता है कि यह सज्ञा पूर्वाचार्यो द्वारा प्रयुक्त है। इस सज्ञा के प्रयोजन को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने–''प्रत्याहारो वृत्यर्थ·[२२१]'' कहकर बताया है। नागेशभट्ट के अनुसार 'वृत्यर्थ' का अभिप्राय लाघवेन शास्त्रप्रवृत्यर्थ है।[२२२] आचार्य कैय्यट के अनुसार–''प्रत्याहार शब्द से अणादि सज्ञाओं का ग्रहण होता है।''[२२३]

ऋक्तन्त्र में ''अथवर्णाः संज्ञाप्रत्याहार समा·'[२२४] कहकर प्रत्याहार पद का प्रयोग किया गया है। अग्निपुराण मे भी अष्टाध्यायी के द्वारा प्रतिपादित अर्थ में ही प्रत्याहार संज्ञा का प्रयोग हुआ है।[२२५] अर्वाचीन व्याकरणो मे प्रत्याहार शब्द का प्रयोग तो नहीं मिलता किन्तु उक्त अर्थ को प्रतिपादित करने वाले सूत्र अवश्य उपलब्ध होते है।[२२६] मुग्धबोध व्याकरण[२२७] मे प्रत्याहार सज्ञा के स्थान पर समाहार सज्ञा का विधान किया गया है।

अष्टाध्यायी मे प्रत्याहार सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अत्यन्त व्यापक है, किन्तु उसका 'दिङ्' मात्र निर्देश किया जा रहा है–

क्रं०सं०	सूत्र	सूत्र संख्या	कार्य	उदाहरण
१	उपदेशेऽजनुनासिक इत्	१।३।२	इत्सज्ञा	अश्नाति, एधते।
२.	इकोयणचि	६।१।७७	यणादेश	सुध्युपास्य·
३.	अक सवर्णे दीर्घः	६।१।१०१	दीर्घ एकादेश	श्रीश· विष्णूदय·
४	इकोऽचि विभक्तौ	७।१।७३	नुमागम	वारिणी, वारिणा
५.	हलि सर्वेषाम्	८।३।२२	यकार का लोप	भो देवाः। भो लक्ष्मि।

११. ह्रस्व संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने 'उकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुत '[२२८] सूत्र द्वारा ह्रस्व सज्ञा का विधान किया है। 'ह्रस्व दीर्घप्लुत·' मे 'ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च' विग्रह के आधार पर समाहार द्वन्द्व की स्थिति मे 'पुस्त्व' सौत्र है अथवा इतरेतरयोग द्वन्द्व मानने पर एकवचनत्व 'आर्ष' मानना होगा। 'उ ऊ ऊ३' इन तीनो का द्वन्द्व समास होने पर सवर्ण दीर्घ होकर 'ऊ' शब्द बनता है। 'वाम् काल· इति ऊकाल ।' यहाँ पर काल शब्द मात्रा का पर्याय है। सूत्र मे प्रयुक्त 'ऊकाल' का विग्रह होगा–'ऊकाल· कालो यस्य इति ऊकाल·'। यहाँ ''सप्तम्युपमानपूर्व पदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः''[२२९] सूत्र से उष्ट्रमुखादि के समान द्विपद बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा–उ ऊ, ऊ३ के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल है जिसका, वह स्वर क्रम से ह्रस्व दीर्घ प्लुत संज्ञक होता है। सूत्र में 'अच्' पद का कथन 'प्रतक्ष्य और प्रक्ष्य' इत्यादि स्थलों पर सयोग की ह्रस्व सज्ञा न होने के लिए है अन्यथा 'क्' और 'ष्' के एकमात्रिक होने के कारण ह्रस्व सज्ञा होने पर 'ह्रस्वस्य पितिकृति तुक्'[२३०] सूत्र से तुगागम होने लगता है। आचार्य पाणिनि ने लाघव की दृष्टि से कुक्कुटध्वनि में एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक होने के कारण साम्य के आधार पर उकार का ग्रहण किया है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती संस्कृत वाड्मय में भी पारिभाषिक सज्ञा के रूप में ह्रस्व शब्द का प्रयोग प्रभूत देखने को मिलता है। 'गोपथ ब्राह्मण' में 'ह्रस्व' शब्द का प्रयोग तो हुआ है किन्तु वहाँ इसकी कोई परिभाषा नही दी गयी है।[२३१] निरुक्त मे स्वर को छोटा करने के अर्थ में ह्रस्व शब्द प्रयुक्त हुआ है।[२३२] ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे ह्रस्व संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि स्वर वर्णो मे प्रथम

सात तक विषम स्वरवर्ण ह्रस्व है।[२३३] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार 'ऋकार' और ऌकार'–ये दोनो वर्ण ह्रस्वसज्ञक है।[२३४] अकार भी ह्रस्व सज्ञक है।[२३५] तथा अकार के समान काल वाला स्वर और अनुस्वार भी ह्रस्व सज्ञक होता है।[२३६] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ह्रस्वसज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि अकार के समान मात्रा वाला स्वर ह्रस्व सज्ञक है।[२३६] शौनकीया चतुराध्यायिका में ह्रस्व सज्ञा का विधान करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि ह्रस्वसज्ञक स्वर एकमात्रा वाला होता है।[२३८] ऋक्तन्त्र के अनुसार भी अकार के समान मात्राकाल वाला स्वर ह्रस्व सज्ञक होता है।[२३९] अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे ह्रस्व शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु कही भी ह्रस्व सज्ञा का विधान नही किया गया है।[२४०] काशकृत्स्न व्याकरण मे भी ह्रस्व का प्रयोग मिलता है किन्तु वहाँ इसकी कोई परिभाषा नही दी गयी है।[२४१] नाट्यशास्त्र मे 'अ इ उ ऋ तथा ऌ की ह्रस्व संज्ञा का विधान किया गया है।[२४२]

पाणिनि के पश्चवर्ती व्याकरणो में भी ह्रस्व सज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। कातन्त्र व्याकरण मे 'अ इ उ ऋ, एव ऌ की ह्रस्व सज्ञा बतायी गई है।[२४३] चान्द्र व्याकरण मे विना परिभाषा के ही 'ह्रस्व आपो नुट्''[२४४] इत्यादि सूत्रो मे ह्रस्व पद का प्रयोग किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण मे ह्रस्व के स्थान पर 'प्र' सज्ञा का विधान किया गया है। तदनुसार 'आकालोच् प्रदीपः''[२४५] सूत्र द्वारा एकमात्रिक अकार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल वाले अच् की 'प्र' संज्ञा होती है। शाकटायन व्याकरण मे भी बिना परिभाषा के ही ह्रस्व पद का प्रयोग मिलता है।[२४६] सरस्वती कण्ठाभरण में 'अण् मात्रिको ह्रस्व.'[२४७] सूत्र द्वारा ह्रस्व सज्ञा का विधान किया गया है। सिद्धहेमशब्दानुशासन मे भी ह्रस्व सज्ञा का विधान किया गया है।[२४८] आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने सारस्वतव्याकरण मे ह्रस्व सज्ञा के स्वरूप का प्रतिपादक कोई सूत्र तो नही लिखा है किन्तु 'ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदा· सवर्णा'[२४९] सूत्र मे ह्रस्व सज्ञा का प्रयोग अवश्य किया है। मुग्धबोध व्याकरण मे ह्रस्व के स्थान पर 'स्व सज्ञा का प्रयोग किया गया है।[२५०] किन्तु इसका स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यो के समान ही है। सुपद्मव्याकरण मे भी विना परिभाषा के ही ह्रस्व शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[२५१] प्रयोगरत्नमाला मे एकमात्रिक स्वर के लिए ह्रस्व सज्ञा का विधान है।[२५२] हरिनामामृत व्याकरण मे 'पूर्वो वामनः'[२५३] सूत्र द्वारा ह्रस्व के स्थान पर 'वामन' सज्ञा का विधान किया गया है किन्तु सज्ञी का स्वरूप एकमात्रिक ही है।

ह्रस्व सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्न है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	ह्रस्वोनपुसके प्रातिपदिकस्य	१।२।४७	ह्रस्व	श्रीपम, अधिगोपम्
२.	मिता ह्रस्व·	६।४।६२	ह्रस्व	ज्ञपयति, बलयति
३	प्वादीना ह्रस्वः	७।३।८०	,,	पुनाति, लुनाति
४	श्रृ दृ प्रा ह्रस्वो वा	७।४।१२	,,	विशश्रतु· विदद्रतु· निपप्रतु·।
५.	ह्रस्वः	७।४।५६	,,	बभूव
६	ह्रस्वस्य गुण	७।३।१०८	गुण	हे हरे। हे भानो।
७	ह्रस्वादङ्गात्	८।२।२७	सिच्लोप	अभृत
८.	ह्रस्वातादौ तद्धिते	८।३।१०१	सस्य षत्वम्	निष्ट्य ।।

१२. दीर्घ संज्ञा

एकमात्रिक उ सदृश स्वरो के ह्रस्व सज्ञा का विधान करने के साथ ही साथ आचार्य पाणिनि ने द्विमात्रिक 'ऊ' सदृश स्वरो के लिए दीर्घ संज्ञा का विधान भी उसी सूत्र द्वारा किया है।[२५४] लोक मे ह्रस्व की अपेक्षा परिमाण मे जिस पदार्थ का विस्तार होता है, वही दीर्घ शब्द द्वारा कहा जाता है। इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र मे भी एकमात्रिक वर्ण की अपेक्षा जिस वर्ण की उच्चारणावधि अधिक होती है, उसी की दीर्घ सज्ञा की जाती है और वह द्विमात्रिक होती है। इस प्रकार यह अन्वर्थ सज्ञा है। निरुक्त मे भी 'दीर्घ द्राघते'[२५५] ऐसा कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया गया है।

सस्कृत वाङ्मय मे यद्यपि ऋग्वेद, तैत्तिरीय सहिता, अथर्ववेद सहिता और ऐतरेय ब्राह्मण मे दीर्घ शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु पारिभाषिक संज्ञा के रूप मे दीर्घ शब्द का प्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण मे उपलब्ध होता है। यद्यपि वहा इसकी कोई परिभाषा नही दी गयी है किन्तु दीर्घ शब्द स्वर के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।[२५६] ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे 'अन्ये दीर्घा.'[२५७] कहकर ह्रस्व भिन्न

स्वरो के लिए दीर्घ सज्ञा का विधान किया गया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार ह्रस्व स्वर से दो गुणा अधिक काल वाला स्वर दीर्घ सज्ञक होता है।[२५८] ऋग्वेद प्रातिशाख्य[२५६] और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरण भाष्य[२६०] मे दीर्घ सज्ञक स्वर को कौए की बोली के समान वाला बताया गया है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य मे ह्रस्व से दुगुने काल वाले स्वर को दीर्घसंज्ञक माना गया है।[२६१] शौनकीया चतुराध्यायिका[२६२] और ऋक्तन्त्र[२६३] मे दो मात्राओं वाले स्वर के लिए दीर्घ सज्ञा का विधान किया गया है। ऋक्तन्त्र मे कही-कहीं दीर्घ के स्थान पर उसके एक देश 'घ' का भी प्रयोग मिलता है।[२६४] सामतन्त्र मे बिना परिभाषा के ही 'दीर्घ'[२६५] तथा उसके एकदेश 'घ'[२६६] का प्रयोग उपलब्ध होता है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे दीर्घ शब्द का प्रयोग तो हुआ है किन्तु कहीं पर भी इस संज्ञा का विधान नही किया गया है।[२६७] काशकृत्स्न व्याकरण मे भी दीर्घ शब्द का प्रयोग तो हुआ है किन्तु वहाँ इसकी कोई परिभाषा नही दी गयी है।[२६८] नाट्यशास्त्र मे भी दीर्घ सज्ञा का विधान किया गया है।[२६६]

अष्टाध्यायी के पश्चवर्ती व्याकरणो मे भी दीर्घसज्ञा का विधान किया गया है। कातन्त्र व्याकरण मे 'परो दीर्घ '[२७०] सूत्र द्वारा आ ई ऊ ॠ तथा ॡ को दीर्घ सज्ञक कहा गया है। चान्द्रव्याकरण मे 'द्विमात्रिको दीर्घः' और 'अत्र चावर्णो ह्रस्वो दीर्घ· प्लुत इति त्रिधा भिन्नः' कहकर दीर्घसंज्ञा का विधान किया गया है।[२७१] जैनेन्द्र व्याकरण में दीर्घ संज्ञा के स्थान पर 'दी' सज्ञा का विधान किया गया है किन्तु सज्ञी द्विमात्रिक आकार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल वाले स्वर ही हैं।[२७२] शाकटायन व्याकरण मे विना परिभाषा के ही दीर्घ शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[२७३] सरस्वतीकण्ठाभरण मे राजाभोज ने ''द्विमात्रो दीर्घ [२७४] कहकर और सिद्धहेमशब्दानुशासन[२७५] और शब्दानुशासन[२७६] मे 'एकद्वित्रिमात्र ह्रस्वदीर्घ प्लुता·'' कहकर दीर्घसज्ञा का विधान किया गया है। सारस्वत व्याकरण मे दीर्घसज्ञा के स्वरूप का प्रतिपादक कोई सूत्र तो नही मिलता किन्तु 'ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदा सवर्णा·''[२७७] कहकर दीर्घ संज्ञा का प्रयोग अवश्य किया गया है। दीर्घ सज्ञा का प्रयोग संक्षिप्तसार में भी विना परिभाषा के ही हुआ है।[२७८] मुग्धबोध व्याकरण मे आचार्य बोपदेव ने दीर्घ के एकदेश 'घ' सज्ञा का विधान किया है। जो सज्ञा के स्वरूप और सज्ञी की दृष्टि से पूर्ववर्ती वैय्याकरणों के समान ही है।[२७६] सुपद्मव्याकरण के 'दीर्घो गुरु ' सूत्र मे बिना परिभाषा के ही दीर्घ पद का प्रयोग किया गया है।[२८०] प्रयोगरत्नमाला मे

''अन्येस्वरा दीर्घ सज्ञा· ज्ञातव्यास्ते द्विमात्रिका·'' द्वारा द्विमात्रिक की दीर्घ सज्ञा बतायी गयी है।[२८१] हरिनामामृतव्याकरण मे ''यङन्तादिटोदीर्घो न'[२८२] सूत्र में यद्यपि दीर्घ शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु अन्यत्र दीर्घ के स्थान पर 'त्रिविक्रम' सज्ञा का विधान किया गया है।[२८३] किन्तु संज्ञी 'आ ई ऊ ॠ तथा ॡ ही हैं। अष्टाध्यायी मे दीर्घ सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदा०
१	शमामष्टाना दीर्घ श्यनि	७।३।७४	दीर्घ	प्रणिशाम्यति
२.	अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः	७।४।२५	''	क्षीयात् जीयात्।
३.	दीर्घ इण· किति	७।४।६६	''	ईयतु· ईयुः।
४	दीर्घोऽकितः	७।४।८३	''	अटाट्यते
५	दीर्घो लघो·	७।४।६४	''	अचीकमत अपीपतत्
६.	र्वोरुपधाया दीर्घ इक	८।२।७६	''	गीः धू पू पिपठी
७	दीर्घादाचार्याणाम्	८।४।५२	द्वित्वनिषेध	दात्रम्, पात्रम्।

१३. प्लुत संज्ञा

त्रिमात्रिक ऊ ३ सदृश स्वरो के प्लुत सज्ञा का विधान आचार्य पाणिनि ने ह्रस्व और दीर्घ के साथ ही किया है।[२८४] इसका अभिप्राय है कि जिस वर्ण के उच्चारण मे द्विमात्रिक वर्णकाल से भी अधिक काल की अपेक्षा होती है, उसकी प्लुत सज्ञा होती है। महाभाष्यकार पतञ्जलि चतुर्मात्रिक प्लुत का प्रतिपादन किया है।[२८५] प्लुत अन्वर्थ संज्ञा है। इसका तात्पर्य है कि ह्रस्व प्लुत होता है, ऐसा कहे जाने पर एकमात्रिक स्वर द्विमात्रिकत्व का अतिक्रमण करके त्रिमात्रत्व को प्राप्त होता है। इसी प्लुति के कारण प्लुत शब्द अन्वर्थक है।[२८६]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे त्रिमात्रिक स्वर के अर्थ में प्लुत शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण मे प्रणव निरूपण के प्रसङ्ग मे किया गया है। किन्तु वहां इसकी कोई परिभाषा प्राप्त नही होती।[२८७] ऋक्प्रातिशाख्य मे तीन मात्रा काल वाले स्वरवर्ण को प्लुत कहा गया है।[२८८]

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य[२६६] और वाजसनेयिप्रातिशाख्य[२६०] मे ह्रस्व से तीन गुणा काल वाले स्वर की प्लुत सज्ञा का विधान किया गया है। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के वैदिकाभारणभाष्य मे प्लुत शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि बाण की भाँति दूरगामी होने के कारण यह प्लुत कहा गया है।[२६१] वैदिकाभरण भाष्य[२६२] और ऋक्प्रातिशाख्य मे[२६३] मयूर की ध्वनि के समान काल वाले स्वर को प्लुत सज्ञक कहा गया है। शौनकीयाचतुराध्यायिका के अनुसार प्लुतस्वर तीन मात्राकाल वाला होता है।[२६४] ऋक्तन्त्र मे प्लुत के स्थान पर 'वृद्ध' सज्ञा का विधान किया गया है। जिसका सज्ञी तीन मात्रा काल वाला स्वर ही होता है।[२६५] सामतन्त्र मे तीन मात्रा वाले स्वर के लिए प्लुत के स्थान पर प्लुत के एकदेश 'त' सज्ञा का विधान किया गया है।[२६६] सामतन्त्र मे ही कही-कहीं पर 'त' के स्थान पर वृद्ध सज्ञा का विधान किया गया है।[२६७] अथर्ववेद प्रातिशाख्य में भी प्लुत शब्द का प्रयोग तो किया गया है किन्तु कही भी प्लुत सज्ञा का विधान नही किया गया है।[२६८] नाट्यशास्त्र मे भी प्लुत शब्द का प्रयोग तीन मात्रा वाले स्वर के लिये किया गया है।[२६९] चान्द्रव्याकरण मे ''त्रिमात्रिक· प्लुत·'' कहकर प्लुत सज्ञा का विधान किया गया है।[३००] जैनेन्द्र व्याकरण मे 'आकालोऽच्प्रदीप '[३०१] सूत्र द्वारा प्लुत सज्ञा के स्थान पर त्रिमात्रिक स्वर के लिए 'प' सज्ञा का विधान किया गया है। शाकटायन व्याकरण मे विना परिभाषा के ही 'न प्लुतस्यानितो'[३०२] इत्यादि सूत्रो मे प्लुत शब्द का बहुश प्रयोग किया गया है। सरस्वती कण्ठाभरण मे ''त्रिमात्र प्लुत·'[३०३] सूत्र द्वारा, सिद्धहेम शब्दानुशासन[३०४] और शब्दानुशासन[३०५] मे 'एकद्वित्रिमात्रा· ह्रस्वदीर्घप्लुता·'' सूत्र द्वारा प्लुत सज्ञा का विधान किया गया है। सारस्वतव्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने प्लुत सज्ञा विधायक कोई सूत्र तो नहीं लिखा है, किन्तु ''ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदा सवर्णाः''[३०६] सूत्र मे प्लुतसज्ञा का प्रयोग अवश्य किया है। मुग्धबोधव्याकरण मे ''आवत् स्वघ प्लु''[३०७] सूत्र द्वारा प्लुत के एक देश प्लु संज्ञा का विधान किया गया है। किन्तु इसका स्वरूप पूर्वाचार्यो के समान ही है। सुपद्मव्याकरण मे भी विना परिभाषा के प्लुत शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। प्रयोग-रत्नमाला मे त्रिमात्रिक स्वर के लिए प्लुत सज्ञा का विधान किया गया है।[३०८] हरिनामामृतव्याकरण मे प्लुत के स्थान पर महापुरुष सज्ञा विहित है किन्तु इसका सज्ञी प्लुत के समान त्रिमात्रिक स्वर ही है।[३०९] प्लुत सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्नवत् है–

क्रं०सं०	सूत्र	अ०पा०सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्	६।१।१२५	प्रकृतिभाव	एहि कृष्ण३ अत्र गौश्चरति।
२.	वाक्यस्य टे प्लुत उदात्त	८।२।८२	अधिकार	अभिवादये देवदत्तोऽहम् भो आयुष्मानेधि देवदत्त३
३	प्रत्यभिवादेऽशूद्रे	८।२।८३	प्लुत	अभिवादयेदेवदत्तोऽहम्, भो आयुष्मानेधि देवदत्त ३
४.	दूराद्धूते च	८।२।८४	प्लुत	सक्तून् पिब देवदत्त३
५	प्लुतावैच इदुतौ	८।२।१०६	प्लुत	ऐ ३तिकायन, ओ ३ पगव

१४. उदात्त संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने उदात्त सज्ञा का विधान 'उच्चैरुदात्त·'[३१०] सूत्र द्वारा किया है। प्रकृत सूत्र मे 'ऊकालोज्झ्रस्वदीर्घप्लुत ' सूत्र से 'अच्' पद का अनुवर्तन होता है। उक्त सूत्र मे 'उच्चै·' पद का अभिप्राय 'उच्चै श्रूयमाण' से नही है। अपितु ताल्वादि उच्चारण स्थानो के ऊर्ध्वभाग से उच्चरित स्वर उदात्त होता है।[३११] यही सूत्रार्थ है। उदात्तादि शब्द लोक और वेद उभयत्र प्रसिद्ध हैं। इसलिए जिस प्रकार उनका प्रयोग लोक और वेद में होता है, उसी प्रकार व्याकरण शास्त्र मे भी हो जाना चाहिए। पृथक् रूप से सज्ञा करने का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न को उत्तरित करते हुए न्यासकार आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखा है–

वर्णधर्माह्येते उदात्तादयो लोकवेदयोः प्रसिद्धास्तेन व्याकरणे प्रदेशेषूदात्तादिशब्दानामुच्चारणेन वर्णधर्म एव गृहीष्यते, न तु उदात्तादिगुणविशिष्टोऽच्। अभीष्टं चैतदेव–''उदात्तादीनामुच्चारणेन तद्विशिष्टोऽजेव गृह्येत, इति सज्ञारभ्यते। यथा– लोकवेदयोरुदात्तादयश्च शब्दा वर्णाना यो धर्म· गुणस्तत्रैव प्रसिद्धा न तु तद्वत्यचि। तस्मादिह व्याकरणे उदात्तादयो धर्मा यस्याचस्तद्गुणेऽचि सज्ञाप्यन्ते परिभाष्यन्ते अन्यथा प्रदेशेषूदात्तादिशब्द श्रवणाद् वर्णधर्म एव गृह्येत, न तद्वानजित्यभिप्राय ''।[३१२]

इस सूत्र के सज्ञासूत्र अथवा परिभाषासूत्र होने के विषय मे वैय्याकरणो मे मतभेद दिखाई पडता

है। कुछ वैय्याकरणो का मत है कि अचो और हलों के विषय मे लोक-प्रसिद्ध उदात्तादिव्यवहार के प्राप्त होने पर उदात्तादिव्यवहार केवल अचो के विषय में हो, इस प्रकारका नियमन होने के कारण यह सूत्र परिभाषा सूत्र है। दूसरे वैय्याकरणों का अभिप्राय है कि धर्मी अचो के विषय मे उदात्तादि व्यवहार के अप्रसिद्ध होने के कारण अचो मे उदात्तादिव्यवहार के लिये अपूर्व विधि निष्पादन के कारण यह सज्ञा सूत्र है। पदमञ्जरीकार आचार्य हरदत्त ने दोनो मतो का उल्लेख किया है।[३१३] किन्तु अधिकतर वैय्याकरण प्रकृत-सूत्र को सज्ञा सूत्र ही मानते है।

सस्कृत वाङ्मय मे आचार्य पाणिनि के पहले भी उदात्त संज्ञा का व्यवहार होता रहा है। गोपथ ब्राह्मण मे उदात्त शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु वहाँ इसके स्वरूप का प्रतिपादन नहीं किया गया है।[३१४] निरुक्त के अनुसार तीव्र अर्थतर को उदात्त कहा गया है।[३१५] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'आयाम' के द्वारा उच्चरित स्वर को उदात्त कहा गया है।[३१६] 'आयाम' पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उव्वट ने कहा है कि वायु के कारण उच्चारणावयो के ऊँचे जाने को आयाम कहते है और उसके द्वारा जिस स्वर का उच्चारण किया जाता है, उसे उदात्त कहा जाता है।[३१७] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य[३१८] और वाजसनेयिप्रातिशाख्य[३१६] मे आचार्य पाणिनि के समान ''उच्चैरुदात्त.'' कहकर उदात्त संज्ञा का विधान किया गया है।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य के अनुसार उदात्तादि तीनो स्वरो को हाथ से प्रदर्शित किया जाता है।[३२०] शौनकीयाचतुराध्यायिका मे भी आचार्य पाणिनि के सदृश उदात्त सज्ञा का विधान किया गया है।[३२१] ऋक्तन्त्र मे उदात्त को उत्सज्ञक बताया गया है।[३२२] सामतन्त्र मे विना परिभाषा के ही उदात्त[३२३] और साथ ही इसके लिए 'उत्'[३२४] शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य'[३१५] काशकृत्स्न व्याकरण[३२६] एवं नाट्यशास्त्र[३२७] में भी विना परिभाषा के ही उदात्त पद प्रयुक्त हुआ है। जैनेन्द्रव्याकरण मे 'उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ''[३२८] और सरस्वती कण्ठाभरण में 'उच्चैरुदात्त '[३२६] कहकर आचार्य पाणिनि के समान ही उदात्त सज्ञा का विधान किया गया है। सारस्वत व्याकरण के कर्ता आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने यद्यपि उदात्त सज्ञा विधायक कोई सूत्र नही लिखा है किन्तु ''ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाः सवर्णा ''[३३०] सूत्र की स्वोपज्ञ वृत्ति मे उन्होने 'उच्चैरुपलभ्यमान उदात्तः'' कहकर

उदात्त की परिभाषा अवश्य की है।[३३१] तदनुसार इसका अभिप्राय है कि ऊँचे से उपलभ्यमान अर्थात् उच्चारण स्थानो के ऊँचे भाग से उच्चरित स्वर की उदात्त सज्ञा होती है। सारस्वत व्याकरण के पश्चात् किसी अन्य व्याकरण मे उदात्त संज्ञा प्राप्त नहीं होती।

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	आद्युदात्तश्च	३।१।३	प्रत्ययस्याद्युदात्तत्वम्	अग्नि कर्तव्यम्।
२	चित	६।१।१६३	अन्तोदात्तः	यके सरस्वतीमनु
३	विभाषाध्यक्षे	६।२।६७	पूर्वपदस्याद्युदात्तत्वम्	गवाध्यक्ष ।
४	कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घच	६।२।११४	आद्युदात्त	शितिकण्ठ·, सुग्रीवः।
५	उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतर	१।२।४०	अनुदात्ततर	सरस्वति-शुतुद्रि व्यचक्षयत्स्व·
६.	उदात्तस्वरितयोर्यण· स्वरितोऽनुदात्तस्य	८।२४	स्वरित	अभ्यभि हि खलप्व्याशा,
७	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित	८।४।६६	स्वरित	अग्निमीळे तमीशानासे।

१५. अनुदात्त संज्ञा

अष्टाध्यायीकार आचार्य पाणिनि ने 'नीचैरनुदात्तः'[३३२] सूत्र के द्वारा अनुदात्तसज्ञा का विधान किया है। सूत्र मे 'ऊकालोऽज्झस्वदीर्घ प्लुत '[३३३] सूत्र से 'अच्' पद का अनुवर्तन होगा। काशिकाकार सूत्र का अर्थ करते हुए लिखते है कि–''नीचैरुपलभ्यमानो योऽच् सोऽनुदात्तसज्ञोभवति''[३३४] इसका अभिप्राय है कि ताल्वादि उच्चारण– स्थानो के अधोभाग से उच्चरित स्वर की अनुदात्त सज्ञा होती है। आचार्य पाणिनि ने अनुदात्त के लिए ''उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः''[३३५] सूत्र मे 'सन्न' शब्द का भी प्रयोग किया है। सूत्रार्थ स्पष्ट करते हुए पदमञ्जरीकार हरदत्त ने लिखा है ''सन्नशब्देन नीचैरर्थ उच्यते, तेनानुदात्तत्वम् लक्ष्यते''।[३३६] वार्तिककार आचार्य कात्यायन ने भी अनुदात्त के लिए ''समानवाक्ये निघात युष्मदस्मदादेशा ''[३३७] वार्तिक मे 'निघात' शब्द का प्रयोग किया है। वार्तिक के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य शिवदत्त ने कहा है कि–''निघात नामानुदात्तः''[३३८] सुबोधिनीकार आचार्य जयकृष्ण

ने भी कहा है कि ''सर्वानुदात्तो निघात इति वैय्याकरणानाम् व्यवहार.।''[३३९] वैय्याकरणो के अनुसार अपकर्ष प्रकट करने के कारण अनुदात्त सज्ञा अन्वर्थक है।

पाणिनि के पूर्व पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे अनुदात्त शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है। किन्तु वहा पर इसकी परिभाषा उपलब्ध नही होती है।[३४०]

निरुक्त मे 'अल्पीयअर्थतर को अनुदात्त कहा गया है।[३४१] ऋग्वेदप्रातिशाख्य मे विश्रम्भ के द्वारा उच्चरित स्वर को अनुदात्त कहा गया है।[३४२] भाष्यकार उव्वट ने विश्रम्भ का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि वायु के कारण उच्चारणावयवो के नीचे जाने को विश्रम्भ कहते है और उसके द्वारा उच्चरित स्वर अनुदात्त कहा जाता है।[३४३] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य[३४४] और वाजसनेयिप्रातिशाख्य[३४५] मे आचार्य पाणिनि के समान ही ''नीचैरनुदात्त.'' कहकर अनुदात्त सज्ञा का विधान किया गया है। इसी प्रकार शौनकीया चतुराध्यायिका मे भी आचार्य पाणिनि के समान ही अनुदात्त सज्ञा का विधान किया गया है।[३४६] अर्थर्ववेद प्रातिशाख्य[३४७] काशकृत्स्न व्याकरण[३४८] और नाट्यशास्त्र मे भी विना परिभाषा के ही अनुदात्त शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[३४९]

आचार्य पाणिनि के पश्चवर्ती वैय्याकरणो में आचार्य देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण मे ''उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ''[३५०] और सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने ''नीचैरनुदात्त ''[३५१] कहकर तैत्तिरीय प्रातिशाख्य आदि की परिभाषा को पूर्णतया स्वीकार किया है। सारस्वतव्याकरण मे अनुदात्त सज्ञा विधायक कोई सूत्र नही है किन्तु 'आदनुदात्तङित '[३५२] इत्यादि सूत्रो मे अनुदात्त सज्ञा का प्रयोग किया है। यही नही, ''ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदा सवर्णाः'[३५३] इस सूत्र की स्वोपज्ञवृत्ति मे आचार्य अनुभूति स्वरूप ने 'नीचैरनुदात्त.''[३५४] कहकर तैत्तिरीयप्रातिशाख्य आदि ग्रन्थो के द्वारा प्रतिपादित लक्षण को यथावत् स्वीकार किया है। सारस्वतव्याकरण के पश्चवर्ती किसी व्याकरण में अनुदात्त सज्ञा का विधान नहीं मिलता है।

अनुदात्त सज्ञा का प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	अनुदात्तौ सुप्पितौ	३।१।४	अनुदात्त	यज्ञस्य न यो यच्छति।
२	अनुदात्त पदमेकवर्जम्	६।१।१५८	अनुदात्त	गोपायत न ।
३	अनुदात्त च	८।१।३	अनुदात्त	दिवे दिवे।
४	तिङ्ङ्तिङ्	८।१।२८	अनुदात्त	अग्निमीळे
५	अनुदात्ते च कुधपरे	६।१।१२०	एङ प्रकृतिभाव	अय सो अग्नि , अय सो अध्वर ।
६	अनुदात्तादेरञ्	४।२।४४	अञ् प्रत्यय	कापोतम्, मायूरम्।
७	एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्	७।२।१०	इण् निषेध	एधाञ्चकर्थ।

१६. स्वरित संज्ञा

उदात्त और अनुदात्त सज्ञा के निरूपण के पश्चात् आचार्य पाणिनि समाहार स्वरित''[३५५] सूत्र द्वारा स्वरित सज्ञा का विधान करते है। इस सूत्र मे भी ''ऊकालोऽज्झ्रास्वदीर्घप्लुत ''[३५६] सूत्र से 'अच्' पद का अनुवर्तन होगा। सूत्र का आशय स्पष्ट करते हुए काशिकाकार कहते है कि–''उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारो योऽच् स स्वरितसज्ञोभवति।[३५६] इसका अभिप्राय है कि जिस स्वर मे उदात्तत्व और अनुदात्तत्व रूप वर्णधर्म दोनो रहते है, वह स्वरितसज्ञक होता है। इसी मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार कहते है कि–

''सामर्थ्याच्चात्र लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव वर्णधर्मौ उदात्तानुदात्तौ गृह्येते नाचौ। तौ समाह्रियेते यस्मिन्नचि तस्य 'स्वरित ' इत्येषा संज्ञा विधीयते।''[३५८]

स्वरित संज्ञा के विषय में यह सन्देह किया जाता है कि जब उदात्त और अनुदात्त स्वर दोनों ही स्पष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं तो स्वरित नामक तृतीय संज्ञा की परिकल्पना क्यों की गयी? इसका स्पष्ट उत्तर देते हुए भाष्यकार आचार्य पतञ्जलि कहते है–जैसे शुक्ल और कृष्णवर्ण अलग-अलग रहते हुए भी मिलकर कल्माष या सारङ्गसज्ञक तृतीय कोटि का निर्माण करते है उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त दोनो के गुणो की सवलित संज्ञा स्वरित है। भाष्यकार के ही शब्दो मे–''त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे।

कैश्चिदुदात्तगुणै कैश्चिदनुदात्तगुणै कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा–शुक्लगुण· शुक्ल·, कृष्णगुण· कृष्ण , य इदानीमुभयगुण स तृतीयामाख्या लभते-कल्माष इति वा सारङ्गिति वा एवमिहाप्युदात्तगुण उदात्त·, अनुदात्तगुणोऽनुदात्त·, य इदानीमुभयगुण· स तृतीयामाख्या लभते स्वरित इति।''[३५६]

''स्वरो जात अस्य इति स्वरित·'' इस विग्रह के आधार पर उदात्तानुदात्त रूप स्वर के सम्पृक्त होने के कारण यह अन्वर्थसज्ञा है। स्वरित स्वर मे उदात्त और अनुदात्त की अवस्थिति किस प्रकार होती है? इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य पाणिनि ने कहा है कि स्वरित के आदि मे आधीमात्रा उदात्त की होती है।[३६०] इसी तथ्य का समर्थन वाजसनेयिप्रातिशाख्य[३६१] और शौनकीया चतुराध्यायिका[३६२] द्वारा भी किया गया है।

आचार्य पाणिनि के आविर्भाव के पूर्व भी पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे स्वरित शब्द का प्रयोग हमे सर्वप्रथम गोपथ ब्राह्मण[३६३] मे देखने को मिलता है किन्तु वहाँ इसकी कोई परिभाषा नही दी गई है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य मे 'एकाक्षरसमावेशपूर्वयोः स्वरित स्वर ।[३६४] कहकर स्वरित सज्ञा का विधान किया गया है। इस प्रातिशाख्य मे यह भी कहा गया है कि जो स्वर आक्षेप के द्वारा उच्चरित होता है, उसे स्वरित समझना चाहिए।[३६५] ''आक्षेप'' शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार उव्वट ने कहा है कि वायु के कारण उच्चारणावयवो के तिरछे हो जाने को आक्षेप कहते है।[३६६] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य मे आचार्यपाणिनि के समान ही स्वरित सज्ञा का विधान किया गया है।[३६७] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य मे स्वरित के लिए प्रवण शब्द भी आया है। त्रिभाष्यरत्न के अनुसार प्रवण स्वरित का पर्यायवाची है।[३६८] इसी प्रातिशाख्य मे स्वरित के लिए ''द्वियम'' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[३६९] वाजसनेयि प्रातिशाख्य में दोनों (उदात्त, अनुदात्त) के गुणो से युक्त स्वर स्वरित संज्ञक कहा गया है।[३७०] शौनकीयाचतुराध्यायिका में 'आक्षेप' से उत्पन्न स्वरको स्वरित कहा गया है।[३७१] ऋक्तन्त्र में स्वरित सज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि जिसकी आधी मात्रा 'उत्सङ्गक' होती है, वह स्वरित है।[३७२] सामतन्त्र मे विना परिभाषा के ही स्वरित और उसके एकदेश 'रि' का प्रयोग उपलब्ध होता है।[३७३]

अथर्ववेद प्रातिशाख्य[३७४] काशकृत्स्न व्याकरण[३७५] और नाट्यशास्त्र[३७६] मे भी बिना परिभाषा के ही स्वरित शब्द प्रयुक्त हुआ है। आचार्य पाणिनि के पश्चवर्ती वैय्याकरणों मे आचार्य देवनन्दी ने

जैनेन्द्र व्याकरण[३७७] तथा राजाभोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण[३७८] मे भी उदात्तत्व और अनुदात्तत्व के समाहार वाले अच् को स्वरित कहा है। सारस्वतव्याकरण मे यद्यपि स्वरित सज्ञा विधायक कोई सूत्र उपलब्ध नही होता किन्तु आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने ''ञित्स्वरितेत उभे''[३७९] सूत्र मे स्वरित सज्ञा का प्रयोग अवश्य किया है। उन्होने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति मे भी ''समावृत्या स्वरित.''[३८०] कहकर स्वरित को परिभापित किया है जो अष्टाध्यायी के अनुरूप ही है। सारस्वतकार के पश्चात् किसी भी वैय्याकरण ने स्वरितसज्ञा का विधान नही किया है।

स्वरित सज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पाद०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	तित्स्वरितम्	६।१।१८५	स्वरित	क्व नूनम्।
२	स्वरितो वानुदात्ते पदादौ	८।२।६	स्वरित	वी द ज्योतिर्हृदये
३	उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित	८।४।६६	स्वरित	अग्निमीळे
४.	स्वरितात् सहितायामनुदात्तायाम्	१।२।३९	एकश्रुति	इम मे गङ्गे यमुने सरस्वति
५.	स्वरितञित कर्त्रभिप्राये क्रियाफले	१।३।७२	आत्मनेपद	कुरुते।

१७. इत्संज्ञा

आचार्य पाणिनि धातुनिरूपण के पश्चात् ङकारादि अनुबन्धो के कारण सम्पत्स्यमान परस्मैपद और आत्मनेपद विधान के पूर्व छह सूत्रों द्वारा इत्सज्ञा का विधान करते हैं। आचार्य पाणिनि का इत्सज्ञा विधायक प्रथम सूत्र है–''उपदेशेऽजनुनासिक इत्''।[३०१] इसका अभिप्राय है कि उपदेश में अनुनासिक स्वर की इत्सज्ञा होती है।[३०२] उपदेश क्या है? इस पर वैय्याकरणों में पर्याप्त विवाद है। भट्टोजिदीक्षित ने ''उपदेश आद्योच्चारणम्''[३०३] कहकर पूर्वाचार्यो द्वारा समादृत कारिका 'धातुसूत्रगणोणादिवाक्य लिङ्गानुशासनम्। आगमप्रत्ययादेशा. उपदेशाः प्रकीर्तिता.'।।[३८४] का प्रौढ़मनोरमा में विधिना खण्डन किया है। उनके द्वारा पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के प्रथमोच्चारण को उपदेश कहा गया है। किन्तु महाभाष्य में आचार्य पतञ्जलि उपदेश का अभिप्राय शास्त्र करते है।[३८५] काशिकाकार ने भी 'उपदिश्यतेऽनेन

इति उपदेश शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठ खिलपाठश्च।''[३८६] यहाँ पर खिल पाठ से धातुपाठादि का ग्रहण करना चाहिए। युधिष्ठिर मीमासक ने इसी तथ्य के आधार पर भट्टोजिदीक्षित के कथन को भाष्य विरुद्ध माना है।[३८७] सूत्रस्थ ''अनुनासिक स्वर की इत्सञ्ज्ञा होती है'' के सदर्भ मे जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि स्वरो का अनुनासिकत्व कैसे जाना जाय? इस पर भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि–''प्रतिज्ञानुनासिक्या· पाणिनीया ''[३८८] अर्थात् ''प्रतिज्ञयानुनासिक्यं येषा ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः।'' इसका अभिप्राय यह है कि पाणिनीय परम्परा के विद्वान् जहाँ पर अनुनासिक व्यवहार करना चाहते हैं, वही पर स्वरो का अनुनासिकत्व उपपन्न होता है। यह प्रतिज्ञान आचार्यो के सङ्केतस्मरण के अनुसार ही होता है। पदमञ्जरीकार हरदत्त के अनुसार आचार्य पाणिनि का सानुनासिक धातुपाठ था। किन्तु लेखको के प्रमाद के कारण सम्प्रति वह उपलब्ध नहीं होता।[३८९]

स्वर के इत्सञ्ज्ञा विधान के पश्चात् आचार्य पाणिनि व्यञ्जनो की इत्संज्ञा करने के लिए ''हलन्त्यम्''[३९०] इस सूत्र को उपस्थित करते है। जिसका अभिप्राय है–उपदेश अर्थात् धात्वादि समुदाय के अन्त मे होने वाला व्यञ्जन इत्सञ्ज्ञक होता है।''[३९१] यहाँ पर भाष्यकार पतञ्जलि ने ''हल् च हल् च हल्, हलन्त्यम्' इत्सञ्ज्ञम् भवति।''[३९२] कहकर एकशेष समास माना है। प्रदीपकार कैय्यट ने कहा है कि एक हल् का अर्थ है–'हस्य ल् इति हल्। सम्बन्ध सामान्य मे षष्ठी होने से यहाँ समीप्यार्थ जानना चाहिए अर्थात् 'ह' का समीपवर्ती 'ल्'। यह वर्ण समाम्नाय के 'हल्' सूत्र के लकार की विवक्षा से कहा गया ह। भाष्यस्थ दूसरा हल् प्रत्याहार है। प्रथम हल् नपुंसक है, दूसरा प्रत्याहार संज्ञक पुल्लिङ्ग। दोनों का एकशेष होने पर नपुसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्''[३९३] सूत्र से एक शेष तथा एकवद् भाव होता है।[६] परन्तु उद्योतकार नागेश भट्ट कैय्यट के इस कथन से सहमत नहीं है। उनके अनुसार भाष्यकार ने एकशेप के पश्चात् अन्त्य पद का योग किया है, इस कारण अन्त्य का सम्बन्ध दोनो के साथ होने से 'हलन्त्यम्' हलन्त्य म्' ये दो वाक्य बनते है। जिसका अभिप्राय है–'हल् का अन्त्य' और 'अन्त्यहल्'। इसलिए कैय्यट का 'हस्यल्' कहना समीचीन नही है। नागेश भट्ट के अनुसार–''दो हलन्त्यम्' का अस्तित्व तन्त्रोच्चारण है जो भाष्योक्त एकशेष से लक्षित होता है।[३९५] सम्भवत यही अभिप्राय मानकर भट्टोजिदीक्षित ने भी 'हलन्त्यम्' सूत्र की दो बार आवृत्ति की है।[३९६]

आचार्य पाणिनि का इत्सज्ञा विधायक तीसरा सूत्र है–''आदिर्ञिटुडव·''।[३६७] सूत्र का अभिप्राय है कि समुदाय के आदि मे वर्तमान 'ञि टु और डु' की इत्सज्ञा होती है।[३६८] जैसे 'ञिमिदा' मे ञिकार का, टुवेपृ मे टुकार का और डुकृञ् मे 'डु' की इत्सज्ञा होती है। प्रत्यय की आदि मे आने वाले 'षकार' की इत्संज्ञा का विधान सूत्रकार ने 'षः प्रत्ययस्य'[३९९] सूत्र द्वारा किया है। 'नर्तकी' इत्यादि स्थलो पर 'नृत्' धातु से 'शिल्पिनि ष्वुन्'[४००] सूत्र द्वारा ष्वुन् प्रत्यय होने पर षकार की इत्संज्ञा इसका प्रयोजन है। प्रत्यय के आदि मे आने वाले चवर्ग और टवर्ग की इत्सज्ञाविधानार्थ आचार्य पाणिनि ने 'चुटू'[४०१] सूत्र का विधान किया है। 'कुरुचर' प्रभृति स्थलो पर 'चरेष्टः'[४०२] सूत्र द्वारा 'ट' प्रत्यय का विधान किये जाने पर टकार की इत्सज्ञा इसका प्रयोजन है। आचार्य पाणिनि का छठा इत्सज्ञा विधायक सूत्र है– ''लशक्वतद्धिते''[४०३] इसका तात्पर्य है कि तद्धितभिन्न प्रत्ययो के आदि में वर्तमान लकार, शकार और कवर्ग की इत्सज्ञा होती है।[४०४] यहाँ पर 'अतद्धिते कहने का अभिप्राय यह है कि–'कर्ण शब्द से ''कर्णललाटात् कन्नलङ्कारे''[४०५] सूत्र द्वारा होने वाले 'कन्' प्रत्यय के आदि मे विद्यमान ककार की इत्सज्ञा न हो जिससे 'कर्णिका' इत्यादि शब्दो की सिद्धि मे अनिष्टापत्ति न हो।

इत्सज्ञा के अन्वर्थक और महासज्ञा होने के विषय में वैय्याकरणो मे विवाद है। किन्तु कुछ आचार्य, जो एकाक्षर से अधिक मात्रा वाली संज्ञा को महासज्ञा मानते है, उनके मत में यह निश्चित रूप से अन्वर्थ सज्ञा है। तद्नुसार 'एति गच्छतीति इत्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर चूकि इत्संज्ञक वर्णो का 'तस्यलोप '[४०६] सूत्र द्वारा लोप हो जाता है, इसलिए यह अन्वर्थ सज्ञा है। आचार्य सभापति शर्मोपाध्याय के ही शब्दो मे–

''एति गच्छतीति इत्–इत्यन्वर्थसज्ञेत्यर्थः, एतेन सार्धमात्राधिककालिक सज्ञाया एव महासज्ञात्वेन टिघुभादिवन्महासज्ञात्वाभावेनेदमसङ्गतमित्यपास्तम्।''[२]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे इत्संज्ञा का विधान नही उपलब्ध होता। केवल अग्निपुराण मे 'उपदेश इद्धलन्त्य भवेदजनुनासिकः''[४०८] कहकर इत्संज्ञा का विधान किया गया है।[४०९] नारदपुराण मे भी विना परिभाषा के ही इत्सज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है।[४०९] काशकृत्स्न व्याकरण मे अनेकस्थलो पर इत्सज्ञा के स्थान पर अनुबन्ध शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु इसके स्वरूप का विवेचन नही किया गया है।[४१०]

पाणिनि के पश्चवर्ती कातन्त्र व्याकरण मे इत्सञ्ज्ञा के स्थान पर अनुबन्ध सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। तदनुसार जिसका पहले उच्चारण तो होता हो किन्तु उदाहरणो मे दिखाई अथवा सुनाई नही पडता है, उसे अनुबन्ध कहते है।[४११] चान्द्र व्याकरण मे 'अनशचिह्नमित्'[४१२] सूत्र द्वारा इत्सञ्ज्ञा का विधान कातन्त्र व्याकरण की अनुबन्ध सञ्ज्ञा के समान ही किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण मे आचार्य देवनन्दी ने कहा है कि जो प्रयोगो मे दिखाई अथवा सुनाई नही पड़ता किन्तु कार्य विशेष के सम्पादन के निमित्त जिसका उच्चारण किया जाता है, उसकी इत्संज्ञा होती है।[४१३] शाकटायन व्याकरण मे कातन्त्र व्याकरण की अनुबन्ध सञ्ज्ञा और चान्द्रव्याकरण की इत्सञ्ज्ञा के समान ही इत्सञ्ज्ञा को परिभाषित किया गया है।[४१४] भोजदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण में दस सूत्रो द्वारा इत्सञ्ज्ञा का विधान किया है।[४१५] सिद्धहेमशब्दानुशासन मे भी इत् सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[४१६] आचार्य मलयगिरि के शब्दानुशासन मे विना परिभाषा के ही इस संज्ञा का प्रयोग किया है।[४१७] सारस्वतव्याकरण में 'कार्ययित्'[४१८] सूत्र द्वारा इत्सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। मुग्धबोधव्याकरण में भी इत्सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[४१९] सुपद्म व्याकरण मे कातन्त्र व्याकरण के समान ही इत्संज्ञा का विधान किया गया है।[४२०] प्रयोगरत्नमाला मे लोप होने योग्य को अनुबन्ध कहा गया है।[४२१] किन्तु वहाँ 'इत्' शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है।[४२२] हरिनामामृतव्याकरण मे इत्सञ्ज्ञा की परिभाषा तो नही दी गयी। किन्तु 'इत्'[४२३] और अनुबन्ध[४२४] इन दोनो ही शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है।

इत्सञ्ज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	तस्यलोप·	१।३।९	लोप	हरये, फलति, अग्निर्चित्
२	तिङ्शित् सार्वधातुकम्	३।४।११३	सार्वधातुकसञ्ज्ञा	भवति, एधते
३	ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्	६।१।७१	तुगागम	स्तुत्यः अवगत्य
४.	इदितोनुम् धातो·	७।१।५८	नुमागम	वन्दते, नन्दते
५.	आदितश्च	७।२।१६	इण्निषेध	प्रफुल्ल·।

१८. लघु संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने एकमात्रिक अच् की ह्रस्व सज्ञा करने के पश्चात् पुन उसी मात्रिक स्वर की लघु संज्ञा का विधान करते हुए कहा–''ह्रस्वं लघु।''[४२५] इसका अभिप्राय है कि ह्रस्व अक्षर लघु सज्ञक होता है।[४२६] यहा पर प्रश्न उठता है कि आचार्य पाणिनि ने जिस मात्रिक स्वर की ह्रस्व संज्ञा की है, उसी की पुन· लघु सज्ञा करने का प्रयोजन क्या है? वस्तुतः इसका समाधान यह है कि दोनो सज्ञाओं के कार्यस्थल मे कुछ वैषम्य विद्यमान है जिसके कारण दो सज्ञाओं का पृथक् विधान करना पड़ा। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए पदमञ्जरीकार हरदत्त ने स्पष्ट कहा है–

''इह सर्पिष्टममित्यत्र ''ह्रस्वात्तादौ तद्धिते'' इति षत्वार्थं ह्रस्वसज्ञया गुरुसंज्ञायाः समावेश इष्यते। अततक्षदित्यत्र तु सन्वद्‌भाव निवृत्त्यर्थ लघुसंज्ञाया गुरुसंज्ञया बाधिष्यते। अतो ह्रस्वप्रदेशेषु सयोगपरस्यापि मात्रिकस्य ग्रहण यथा स्यात् लघुप्रदेशेषु मा भूदिति यथा प्रदेशे संज्ञाद्वय कर्त्तव्यम्।''[४२७]

आचार्य पाणिनि ने सम्भवत· लोक व्यवहार के आधार पर इस सज्ञा का विधान किया है क्योकि लोक मे जो परिणामत ह्रस्व होता है, उसी को लघु कहते है।

सस्कृतवाड्मय मे 'लघु' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद सहिता में प्राप्त होता है किन्तु उसका वहा अर्थ है– छोटा।[४२८] परिभाषिकसंज्ञा के रूप में लघु शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे किया गया है। जिसके अनुसार ह्रस्व अक्षर लघुसज्ञक होता है, यदि सयोग सज्ञक वर्ण बाद में न हो।[४२९] ऋक्प्रातिशाख्य में अनुस्वार यदि ह्रस्व अक्षर के अव्यवहित बाद मे न हो तो वह ह्रस्व अक्षर लघुसज्ञक होता है।[४३०] ऋक्प्रातिशाख्यकार के अनुसार व्यञ्जनसहित ह्रस्व अक्षर लघुसज्ञक होता है।[४३१] किन्तु व्यञ्जनरहित ह्रस्व अक्षर 'लघीय' सज्ञक होता है।[४३२] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य मे लघु सज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि (गुरु से अन्य सभी शेषवर्ण) व्यञ्जन मे अन्त न होने वाले अक्षर, ह्रस्व, असंयोगपर तथा अनुस्वाररहित वर्ण को लघु जानना चाहिए।[४३३] शौनकीया चतुराध्यायिका में संयोग न होने पर ह्रस्व वर्ण को लघुसंज्ञक माना गया है।[४३४] ऋक्तन्त्र में लघु के स्थान पर उसके एक देश 'घ्' सज्ञा का प्रयोग किया गया है।[४३५] सामतन्त्र में 'लघु' तथा 'घु'–इन दोनो शब्दो का प्रयोग किया गया है।[४३६] नाट्यशास्त्र मे भी लघु संज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है।[४३७]

चान्द्रव्याकरण मे विना परिभाषा के ही लघु सज्ञा का प्रयोग किया गया है।[४३८] जैनेन्द्र व्याकरण मे लघु के स्थान पर 'धि' सज्ञा का विधान किया गया है।[४३९] शाकटायन व्याकरण मे 'लघ्वादेरिक ' सूत्र मे लघु सज्ञा का प्रयोग विना परिभाषा के ही किया गया है।[४४०] सरस्वतीकण्ठाभरण मे आचार्य पाणिनि के ही समान लघु सज्ञा का विधान किया गया है।[४४१]

सिद्धहेमशब्दानुशासन[४४२] और शब्दानुशासन[४४३] मे विनासज्ञा का विधान किये हुए 'लघु' इस सज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है। सारस्वतव्याकरण मे ''असंयोगादिपरो ह्रस्वो लघु·''[४४४] सूत्र द्वारा लघु सज्ञा का विधान किया गया है। मुग्धबोध व्याकरण मे लघु के स्थान पर 'घु' सज्ञा[४४५] का विधान किया गया है। सुपद्मव्याकरण मे 'ह्रस्वो लघु.'[४४६] सूत्र द्वारा ह्रस्व को 'लघु' सज्ञक माना गया है। प्रयोगरत्नमाला मे ''लघ्वक्षर च यत्'[४४४] आदि स्थलो में लघु सज्ञा का प्रयोग किया गया है। 'हरिनामामृत' व्याकरण मे 'वामनो लघुः'[४४८] सूत्र द्वारा 'वामन' (ह्रस्व) की लघु सज्ञा का विधान किया गया है। लघु सज्ञा का प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है।

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	पुगन्तलघूपधस्य च	७।३।८६	गुण	भेत्ता, मोदते, दोग्धि, द्वेष्टि
२.	दीर्घो लघो·	७।४।९४	दीर्घ	अचीकमत्, असूषुपत्
३	इगन्ताच्च लघुपूर्वात्	४।४।१३१	अण् प्रत्यय	शौचम्
४	सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे	७।४।९३	सन्वद्भाव	अमीमृजत्, अचीचकासत्।

१९. गुरु संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने लघु सज्ञा के निरूपण के पश्चात् सूत्रद्वय से गुरु सज्ञा का विधान किया है। पहला सूत्र है–''सयोगे गुरु[४४९]। इस सूत्र का अर्थ है–कि सयोग के परे रहने पर ह्रस्वकी गुरु सज्ञा होती है। गुरु सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है, ''दीर्घं च''[४५] इसका तात्पर्य है कि दीर्घ की गुरु संज्ञा होती है। यहां पर ध्यातव्य है कि लोक मे लघु अर्थात् छोटे लोग भी ससर्ग के उत्कर्ष से गौरव को प्राप्त करते हैं। महाकवि माघ के शब्दो में–

''वृहत्सहाय· कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति

सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।।[४५१]

इसी प्रकार लोक मे जो व्यक्ति दीर्घ अर्थात् महान् होता है उसको तो गुरुत्व की प्राप्ति होती ही है। सम्भवत लोक के इसी दृष्टान्त के आधार पर आचार्य पाणिनि ने गुरु संज्ञा का विधान किया है और इस प्रकार यह सज्ञा अन्वर्थक हुई। यहाँ पर एक शका उत्पन्न होती है कि यदि सयोग परे होने के कारण ह्रस्व की गुरु सज्ञा हो जायेगी तो ''कुतोऽद्य'' इत्यादि स्थलो पर ''एड पदान्तादति'[४५२] सूत्र द्वारा पूर्वरूप कैसे हो सकेगा। इस प्रश्न का समाधान यह है कि 'तपर तत्कालस्य'[४५३] सूत्र द्वारा ह्रस्व अकार के तपर होने के कारण तत्कालत्वेन दृष्ट के ही सज्ञी होने से प्रकृत अकार के गुरु सज्ञा का अभाव है।

सस्कृत वाङ्मय मे यद्यपि गुरु शब्द का प्रयोग ऋग्वेद[४५४] और अथर्ववेद[४५५] प्रभृति ग्रन्थों मे पाया जाता है, किन्तु पारिभाषिक सज्ञा के रूप में गुरु शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे हुआ है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य के अनुसार दीर्घ स्वर वर्ण गुरु सज्ञक होता है।[४५६] इसके अतिरिक्त सयोगपरक और अनुस्वारपरक ह्रस्व भी गुरु संज्ञक माने गये हैं।[४५७] ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे दीर्घ स्वर यदि व्यञ्जन के सहित हो तो उन्हे गरीय सज्ञा प्रदान की गयी है।[४५८] तैत्तिरीयप्रातिशाख्य मे व्यञ्जनान्त स्वर, दीर्घ स्वर, सयोगपूर्व स्वर और सानुनासिक स्वर के लिए गुरु संज्ञा का विधान किया गया है।[४५९] शौनकीयाचतुराध्यायिका मे लघु से अन्य को गुरु सज्ञक माना गया है।[४६०] वहीं पर यह भी कहा गया है कि अनुनासिक वर्ण तथा पदान्त में वर्तमान वर्ण भी गुरु सज्ञक होते है।[४६१] ऋक्तन्त्र के अनुसार सयुक्त वर्ण बाद मे होने पर पूर्ववर्ती स्वर गुरुसंज्ञक होता है।[४६२] सामतन्त्र मे गुरु सज्ञा का विधान तो नही किया गया है किन्तु गुरु सज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है।[४६३] नाट्यशास्त्र मे दीर्घ, प्लुत, संयोग के परे रहते पूर्ववर्ण, अनुस्वार और विसर्ग वाले वर्ण तथा कहीं-कहीं अन्य लघु की गुरु संज्ञा का विधान किया गया है।[४६४] अष्टाध्यायी के पश्चात् जिन व्याकरणो का प्रादुर्भाव माना जाता है, उनमे चान्द्र व्याकरण मे इस सज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है।[४६५] आचार्य देवनन्दी ने गुरु के स्थान पर उसके एक देश 'रु' सज्ञा का विधान किया है।[४६६] शाकटायन व्याकरण[४६७] और शब्दानुशासन[४६८] मे गुरु संज्ञा का केवल प्रयोग प्राप्त होता है जबकि सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज देव ने अष्टाध्यायी के समान ही गुरु सज्ञा का विवेचन किया है।[४६९] सारस्वत व्याकरणमें आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने ''विसर्गानुस्वार सयोगपरो

दीर्घश्च गुरु ''[४७०] सूत्र द्वारा गुरु सज्ञा का प्रतिपादन किया है। मुग्धबोधव्याकरण मे आचार्य बोपदेव ने गुरु सज्ञा के स्थान पर उसके एकदेश 'रु' सज्ञा का विधान किया है।[४७१] सुपद्मव्याकरण मे अष्टाध्यायी के समान ही गुरु सज्ञा का विधान किया गया है।[४७२] प्रयोगरत्नमाला मे गुरु सज्ञा का विधान अष्टाध्यायी के समान ही है।[४७३] हरिनामामृतव्याकरण मे त्रिविक्रम (दीर्घ) और 'सत्सग' (सयोग) से पूर्व वामन (ह्रस्व) की गुरु सज्ञा का प्रतिपादन किया गया है।[४७४]

अष्टाध्यायी मे गुरु सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	गुरोश्च हल	३।३।१०३	अप्रत्यय	शिक्षा ईहा
२	गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्	८।२।८६	प्लुत	दे३वदत्त, देवद३त्त।
३	इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ.।	३।१।३६	आम् प्रत्यय	एधाञ्चकार, एधाम्बभूव।

२०. संहिता संज्ञा

अष्टाध्यायी मे आचार्य पाणिनि ने सहिता सज्ञा का विधान ''पर सन्निकर्ष सहिता''[४७५] सूत्र मे द्वारा किया है। सूत्र का अभिप्राय है कि ''वर्णो की अधिक समीपता को सहिता कहते है।[४७६] सूत्र मे 'सहिता' सज्ञा है, ''पर सन्निकर्ष '' सज्ञी। सन्निकर्ष का अभिप्राय 'सामीप्य' है, न कि सश्लेष। क्योकि सश्लेष के एक काल मे उत्पन्न होने के कारण वर्णो मे भी एक कालतापत्ति होगी। इस पर प्रश्न उठता है कि किसी भी पद मे वर्णो का उच्चारण करने पर पूर्व वर्ण के उच्चारण करने के पश्चात् उत्तरवर्ण का उच्चारण होता है। ऐसी स्थिति मे पूर्व वर्ण का नाश होने के कारण पौर्वापर्य सम्भव न होने से सामीप्य का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति मे सहिता कैसे सम्भव होगी। इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य पतञ्जलि ने कहा है कि बुद्धिगतपूर्वापरीभाव का आश्रय लेकर सामीप्य की कल्पना करनी चाहिए। महाभाष्यकार के ही शब्दो मे–

''उच्चरितप्रध्वसिन खल्वपि वर्णा.। उच्चरित. प्रध्वस्त.। अथापर· प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहाय ।एव तर्हि–''बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीति.। शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्''। बुद्धिविषयमेव शब्दाना पौर्वापर्यम्।''[४७७]

यह अत्यन्त सामीप्य कितने समय का हो? इसका उत्तर देते हुए काशिकाकार ने कहा है कि यह आधी मात्रा के काल का व्यवधान स्वरूप माना जाना चाहिए।[४७८] यह सहिता कहा-कहा विद्यमान होती है, इसके लिये अधोलिखित कारिका अत्यन्त प्रसिद्ध है–

''सहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयो.।

नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।''[४७९]

अर्थात् सहिता एक पद मे नित्य होती है, धातु और उपसर्ग मे नित्य होती है, समास मे नित्य होती है किन्तु वह वाक्य मे विवक्षाधीन होती है।

सहिता सज्ञा भी अन्वर्थक सज्ञा है। ''सधीयते या सेति सहिता'' इस अर्थ मे सम् पूर्वक √धा धातु से कर्म मे 'क्त' प्रत्यय होकर सहिता शब्द की निष्पत्ति होती है। यह व्युत्पत्ति भी सहिता सज्ञा के अन्वर्थक होने का समर्थन करती है। प्राचीन समय मे पूर्वाचार्यो ने मन्त्र और सूत्रो को सहितारूप मे ही सङ्कलित किया था, इससे भी सहिता का प्राधान्य अभिव्यक्त होता है। निरुक्त[४८०] ऋक्प्रातिशाख्य[४८१] वाजसेनयि प्रातिशाख्य[४८२] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[४८३] अथर्वप्रातिशाख्य[४८४] ऋकतन्त्र[४८५] में सहिता सज्ञे उपलब्ध होती है। कुछ आचार्यो ने सहिता के अर्थ मे सधि शब्द प्रयुक्त किया है।[४८६] अग्निपुराण मे ''सन्निधि सन्निकर्ष स्यात''[४८७] कहकर सहितासज्ञा की ओर सङ्केत किया गया है, किन्तु वार्तिककार कात्यायन सहिता सज्ञा के लोक प्रसिद्ध होने के कारण इसके विधान को ही अनावश्यक माना है।[४८८]

अर्वाचीन वैय्याकरणो ने सहिता सज्ञा का व्यवहार नहीं किया है। सहिता सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अष्टाध्यायी मे निम्नवत् है–

क्रं०सं०	सूत्र	सूत्र संख्या	कार्य	उदाहरण
१	सहितायाम्	६।१।७२	अधिकार सूत्र	
२.	तयोर्य्वावचि सहितायाम्	८।२।१०८	ह्रस्व इकार, उकार के स्थान पर यकार वकारादेश	अग्न ३ याशा, पटा३ वाशा।

उद्धरणानुक्रमणिका

१ अष्टा०– १।१।१

२ महाभाष्य– १।१।१

३ अष्टा०– ३।३।६४

४ अष्टा०– ५।४।१०६

५. अष्टा०– १।४।२०

६ अष्टा०– ८।२।३०

७ अष्टा– ७।१।३६

८. तत्त्वबोधिनी– १।१।१

९. सि०कौ०– १।१।१

१०. महाभाष्य– १।१।१

११ वाजसनेयि प्रातिशाख्य– ५।२६

१२. वाजसनेयि प्रातिशाख्य, उव्वट भाष्य– ५।२६

१३. अथर्ववेद प्रातिशाख्य– ३।१।१३ (निर्णयसागर सस्करण)

१४. द्वयादीनाम् वृद्धिस्तिसिमेषु' काश० व्या० (सूत्र ६६ और 'वृद्धिरादौ सणे' सूत्र १२६।।

१५. सम्भावनापूर्वपदो गुणवृद्धिरितीदृशम्।। अग्निपुराण– ३५५।१० इत्यादि मे

१६ आरुत्तरे च वृद्धि – कातन्त्र व्याकरण– ३।८।४३६

१७ आदैगैप्। जैनेन्द्र व्याकरण– १।१।१५

१८ वृद्धिरादैच्। सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।८२

१६ वृद्धिरारैदौत्। सिद्धहेमशब्दानुशासन– ३।३।१

२०. वृद्धिरादैजारालेवोऽन्त । सक्षिप्तसार– १।१।

२१ सारस्वतव्याकरण, पूर्वार्द्ध– १।१७

२२ आ आर् ऐ औ एते वृद्धि सज्ञा भवन्ति। सा०व्या०पू०स्वोपज्ञवृत्ति– १।१७

२३ अच् आरालैज् व्रि.।। मुग्धबोधव्याकरण–सूत्र १

२४. सुपद्मव्याकरण– १।१।२१

२५ अष्टाध्यायी १।१।२

२६ इय तु सज्ञा जगन्मूलभूतसत्त्वरजस्तमसां गुणाना त्रित्वसख्यासाम्येनादेङ् कृता। यथा ज्योतिषे दशम्यास्तिथेदिक् सज्ञा एकादश्या रूद्रसज्ञा सङ्ख्यासाम्येन कृता इति।। चित्र निबन्धावली पृष्ठ–१२

२७. शेव इति सुखनाम। शिष्यतेर्वकारोनामकरणोऽन्तस्थान्तरोऽपि लिङ्गी विभाषितगुण.। शिवमित्यप्यस्य भवति। निरुक्त–१०।२।६

२८ सहेति चेमेति च रक्तसहित गुणागमादेतनभावि चेतन।

पद च चास्कम्भचिदित्यत. पर प्लुतादि चैतानि निमित्तसशयात्।। ऋक्प्रातिशाख्य ११।१०

२६. काशकृत्स्नव्याकरण सूत्र–२२

३०. पदमञ्जरी – १।३।२२

३१. माधवीय धातुवृत्ति, पृष्ठ सख्या– ३५६-५७

३२ सम्भावनापूर्वपदो गुणवृद्धिरीतीदृशम्। अग्निपुराण– ३५५।१०

३३. अर् पूर्वे द्वे सन्ध्यक्षरे च गुणः इति। कातन्त्र व्याकरण– ३।८।४३८

३४ अदेडेप्। जैनेन्द्र व्याकरण– १।१।१६

३५ अदेङ्गुण । सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।८१

३६ गुणोऽरेदोत् इति। सि०हे०शब्दानुशासन– ३।३।२

३७ इक् एङ् रलो गुण । सक्षिप्तसार– १।६६

३८ सारस्वतव्याकरण, पूर्वार्द्ध– १।१६

३६ अवर्जा नामिन । सारस्वतव्याकरण, पूर्वार्द्ध– १।५

४०. इडोऽरलेङ् णु । मुग्धबोध व्याकरण, सूत्र स०– ८

४१. एङ्रलोगुण इक । सुपद्मव्याकरण– १।१।२२

४२ अष्टाध्यायी–१।१।७

४३ भिन्नजातीयैरज्भिरव्यवहिता श्लिष्टोच्चारिता· हल· संयोगसज्ञा भवन्ति। का०वृ० १।१।७

४४. सि०कौ०सूत्र– २।२।२४ पर वार्तिक स०– १३६०

४५ अष्टा०– १।२।५८

४६ अष्टाध्यायी– ८।२।२६

४७. शब्देन्दुशेखर

४८ अष्टाध्यायी– ३।३।१०३

४६. महाभाष्य प्रदीप– १।१।७

५०. महाभाष्य उद्योत– १।१।७

५१ कतिपद·? कः सयोग·? किम् स्थानानुप्रदानकरणम्... ।गो०ब्रा० १।१।२४

५२ सयोगस्तु व्यञ्जनसन्निपात । ऋ०प्रा०– १।३७

सयोग विद्याद् व्यञ्जनसङ्गमम्। ऋ०प्रा०– १८।४०

५३ सयोगि च। तै०प्रा०– २।६।४

५४ अनन्तरम् सयोग । वा०प्रा०– १।४८

५५ शौ०च०आ०– १।६८

५६ सयुक् सण्। ऋ०तन्त्र– २।३।७

५७ यकारान्त· सयोग । अ०प्रा०– ३।२।१२ इत्यादि मे

५८ ना०शा०– १५।६०

५९ नारदपुराण– २।१७।३

६०. सयोगान्तस्य लोप । का०तं०– २।३।१६६ इत्यादि में

६१. वा सयोगादे स्थ·। चा०व्या०– ५।३।७९ इत्यादि मे

६२ हलोऽनन्तरा स्फ जै०व्या०– १।१।३

६३ न सयोगे। शा०व्या०– १।१।११६

६४ सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।८४

६५ सयोगात्। सि०हे० शब्दा०–२।१।५२ इत्यादि मे

६६ शब्दानुशासन– २।२।१ इत्यादि मे

६७ सारस्वतव्याकरण, पूर्वार्द्ध १।१४

६८ हसोऽनन्तर स्य । मु०बो०व्या०, सूत्र– ६५

६९ हलो लग्ना· सयोग.। सु०व्या०– १।१।२०

७० सयोगान्तस्य लोपनम्। प्र०र मा०– ३।२० इत्यादि मे

७१ मिथ सलग्नो विष्णुजन सत्सङ्गसज्ञ.। ह०ना०व्या० सू०स०– ८२

७२ असयोगादलिदधोक्षज. कपिलः। ह०ना०व्या०, सू०– ४४६ इत्यादि मे।

७३ अष्टाध्यायी– १।१।८

७४ का०वृ०– १।१।८

७५ अष्टाध्यायी– २।४।२

७६ अष्टाध्यायी– २।४।१७

७७ अष्टाध्यायी– १।२।४७

७८ महाभाष्य– १।१।८

७९ महाभाष्य– १।१।८

८० अष्टाध्यायी– ३।३।११३

८१ ऋ०प्रा०, उ०भा०– १।१४

८२. अनुनासिकोऽन्त्य । ऋ०प्रा०– १।१४

८३ रक्तसञ्ज्ञोऽनुनासिक·। ऋ०प्रा०– १।३६

८४. रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्। ऋ०प्रा०– १३।२०

८५. अनुस्वारोत्तमा· अनुनासिकाः। तै०प्रा०– १।२।३०

८६. मुखनासिकावर्णोऽनुनासिका वा०प्रा०– १।७५

८७ अनुनासिकाश्चोत्तमा·। वा०प्रा०– १।८९

८८ शौ०च०आ०– १।११

८९. ऋ०त०– २।२।७

९० हुमित्यनुनासिक । ऋ०त०– १।२।२

९१ साक्षर पदान्तोऽवसित । येकवचने। ऋ०त०– २।२।८, ९

९२ का०कृ०व्या०, सू०– ७-१३

९३ ना०शा०– १५।१६

९४. अनुनासिका ङञणनमा·। का०व्या०– १।१।१३

९५ अत्र अनुनासिक पूर्वस्य। चा०व्या०, ६।४।६

९६. नासिक्यो ङ । जै०व्या०– १।१।४

९७. मुखनासिकावचनोऽनुनासिक । स०क०भ०– १।१।१००

९८ शा०व्या०– १।१।६८

९९ सि०हे०श०– १।२।४१

१००. तृतीयस्य स्व अनुनासिक पञ्चमे। शब्दानुशासन– १।४।८

१०१ सा०व्या०पू०– १।२२

१०२. अङमोऽनुनासिका·। सु०व्या०– १।१।१४

१०३. पञ्चमा· अनुनासिका·। प्र०र०मा०– १।२४

१०४ ङञणनमा·। हरिवेणव । ह०ना०व्या०सू०– २५

१०५ ॲ इति विष्णुचाप । ह०ना०व्या०सू०– १५

१०६. अर्धचन्द्राकृतिवर्णो विष्णुचापनामा अनुनासिक· च। ह०ना०व्या०,कृ०– १५

१०७ अष्टाध्यायी–१।१।९

१०८ सि०कौ०– १।१।९

१०९. अष्टाध्यायी– ८।४।६५

११०. ओष्ठात्प्रभृति काकलकपर्यन्तम् आस्यम्। सि०कौ०त०बो०– १।१।९

१११ तै०प्रा०त्रि०– १।३

११२. ऋलृ-वर्णयो· मिथः सावर्ण्य वाच्यम्। सि०कौ० १।१।९ वार्तिक– १५०

११३. नाज्झलौ। अष्टा०– १।१।१०

११४ स्थानप्रश्लेषोपदेशे स्वराणाम् ह्रस्वादेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ। ऋ०प्रा०–१।५५

११५. द्वे-द्वे सवर्णे ह्रस्व दीर्घे। तै०प्रा०–१।३

११६ समानस्थान–करणास्यप्रयत्न· सवर्ण । वा०प्रा०–१।४३

११७ समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घ । शौ०च०आ०–३।४२

११८. तेषा द्वौ द्वावन्योन्यस्य सवर्णौ। का०व्या० १।१।४

११६. द्वित्वे परसवर्ण·। चा०व्या०– ६।३।३४

१२०. सस्थानक्रिय स्वम्। जै०व्या०– १।१।२

१२१ स्व स्थानास्यैके। शा०व्या०– १।१।६

१२२ तुल्यस्थानास्यप्रयत्न· स्व·। सि०हे०शब्दा०– १।१।१७

१२३. स्व· स्थानस्पृष्टताद्यैके। शब्दा– १।२।१

१२४. तुल्यस्थानास्यप्रयत्न· सवर्ण·। सरस्वतीकण्ठा– १।१।१०१

१२५ सारस्वत व्या० पू० १।२

१२६. मु०बो०व्या०, सूत्र– ६

१२७ सु०व्या०– १।१।१५

१२८ प्र०र०मा०– १।४ और ५

१२६ ह०ना०व्या०, सूत्र– १७८

१३० अष्टाध्यायी– १।१।११

१३१ परिभाषेन्दुशेखर– १।२३

१३२ परिभाषेन्दुशेखर– १।२७

१३३. अष्टाध्यायी– १।१।१२

१३४. अष्टाध्यायी– १।१।१३

१३५ अष्टाध्यायी– ७।१।३६

१३६ अष्टाध्यायी– १।१।१४

१३७ अष्टाध्यायी– १।१।१५

१३८ अष्टाध्यायी– १।१।१६

१३९. अष्टाध्यायी– १।१।१७

१४० अष्टाध्यायी– १।१।१४

१४१ अष्टाध्यायी– १।१।१८

१४२ अष्टाध्यायी– १।१।१९

१४३ अष्टाध्यायी– ७।१।३९

१४४ ऋक्प्रातिशाख्य– १।६८–७२

१४५ ऋक्प्रातिशाख्य– १।७३–७५

१४६. तैत्तिरीय प्राति०– ४।१

१४७ तै०प्रा०– ४।३

१४८ तै०प्रा०– ४।४

१४९ तै०प्रा०– ४।५

१५०. तै०प्रा०– ४।६

१५१ तै०प्रा०– ४।३१

१५२ तै०प्रा०– ४।३५

१५३ तै०प्रा०– ४।४६

१५४ वाज०प्रा०– १।९२

१५५. वाज० प्रा०– १।९३

१५६. वाज० प्रा०–१।९४

१५७ वाज० प्रा०–१।९५

१५८ वाज० प्रा०–१।६६

१५९ वाज०प्रा० १।६७

१६० वाज० प्रा०–१।६८

१६१ अथर्ववेद प्रा०– २।३।१०

१६२ कातन्त्र व्याकरण– १।३।१–४

१६३ चान्द्रव्याकरण– ५।१।१२५ से १३३

१६४ जैनेन्द्रव्याकरण– १।१।२०–२७

१६५ सिद्धहेमशब्दानुशासन– १।२।३४–३६

१६६. मु०व्याकरण, सूत्र– ४१–४६

१६७ भट्टिकाव्य– ६।६२

१६८. इग्यण सम्प्रसारणम्। अष्टा०– १।१।४५

१६९. अष्टाध्यायी– ६।१।१३

१७० महाभाष्य– १।१।४५

१७१ वाजसनेयि प्रा०– १।५८

१७२ का०कृ०व्या० सूत्र– ६६

१७३ सम्प्रसारण य्वृतोऽन्तस्थनिर्मित्ता.। का०तन्त्रव्या०– ३।८।४३७

१७४ इग्यणो जि । जै०व्या०– १।१।४५

१७५ इग्यण सम्प्रसारण। स०क०भ०– १।१।८०

१७६. य्वृतः सम्प्रसारण शब्दा०– ३।४।७६

१७७. सारस्वत व्या० उत्तरार्द्ध– १।१४८

१७८. मु०बो०व्या० सूत्र– ५३५

१७६ स्वरयुग्यवरस्थानमिद्वृत् सम्प्रसारणम् प्र०र०मा०– १।३८

१८०. ह०ना०व्या० सू०– ५०६

१८१ अष्टाध्यायी १।१।६४

१८२. काशिकावृत्ति १।१।६४

१८३ पदमञ्जरी प्रथम आह्निक प्रारम्भ

१८४ उणादि सूत्र १।१३६

१८५. उणादि सूत्र ३।६

१८६ काशकृत्स्न व्या० सू०– १३६

१८७. कातन्त्र व्या०– २।२।१४

१८८. चान्द्रव्या०– ५।३।१५८

१८६ अन्त्याद्यचष्टि·। जैनेन्द्र व्या०– १।१।६५

१६०. अन्त्याजादिष्टि । सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।८६

१६१. शब्दानुशासन– २।३।२६

१६२. सारस्वत व्याकरण पूर्वार्द्ध– १।१८

१६३ मु०बो०व्या०, सू०– ६२

१६४ प्रयोगरत्नमाला– ७।६१८

१६५ हरिना० व्या० सू०– ७५

१६६ अष्टाध्यायी– १।१।६५

१६७ अष्टाध्यायी– ६।४।३४

१६८ परि०शेखर– ३।१०५

१६६ काशिकावृत्ति– १।१।६५

२०० अथाप्युपधालोपोभवति जग्मतु जग्मुरिति अथाप्युपधाविकारो भवति राजा दण्डीति।।
निरुक्त २।१।२

२०१ ऋक० प्रा०– १।६७, २।४१, २।६६, २।६७, २।८१ और ४।२६ इत्यादि।

२०२ ऋक्प्रा०। १।६७

२०३ ऋक्प्रा० २।३६

२०४ वा०प्रा०– १।३५

२०५ शौ०च०आ०– १।६२

२०६ सामतन्त्र– १।१।४ इत्यादि मे

२०७ कातन्त्र व्या०, वा०वृ० ना०प्रा० १।१

२०८ चान्द्रव्या०– ३।२।४७

२०९. जैनेन्द्रव्याकरण– १।१।६६

२१० उदुतद्धित कोपान्त्याख्या । शा०व्या०– २।२।४६

२११ सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।८५

२१२ सि०हे०शब्दा०– ४।१।५४ इत्यादि

२१३. शब्दानुशासन– ३।५।८१ इत्यादि मे

२१४. सारस्वत व्या०पू०– १।१६

२१५. पूर्वोऽन्त्यादुङ्। मु०व्या०सू०– ६१

२१६ सुपद्मव्याकरण– १।१।२६

२१७. उपान्त उपधोच्यते। प्रयोगरत्नमाला– २।१५

२१८ अष्टा०– १।१।७१

२१९. सि०कौ०– १।१।७१

२२० अष्टा०– १।१।६८

२२१ म०भा०प०आ०पृष्ठ– ६५

२२२ वृत्त्यर्थ इति लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थ इत्यर्थ । म०भा०प्र०उ०पृ०– ६५

२२३ प्रत्याहारशब्देनाणादिका· सज्ञा उच्यन्ते। म०भा०, प्र०प०आ०पृ०– ६५

२२४ ऋक्तन्त्र– १।१।

२२५ प्रत्याहारादिका सज्ञा शास्त्रसव्यवहारगा ।

२२६ अन्त्येनेतादि ! जैने० व्या०–१।१।४

सात्मेतेत्। शाकटायन व्या०–१।१।७३

२२७. मु०व्या० सूत्र–३

२२८. अष्टाध्यायी– १।२।२७

२२९ सि०कौ०, बहुव्रीहि प्रकरण

२३० अष्टाध्यायी– ६।१।७१

२३१ ह्रस्वोदात्त एकाक्षर ओङ्कारोऽथर्ववेदे। गो०ब्रा०– १।१।२५

२३२ ह्रस्वो ह्रस्ते । निरुक्त– ३।३।

२३३. ओजा ह्रस्वा सप्तमान्तास्वराणाम्। ऋ०प्रा०– १।१७

२३४ तै०प्रा० ऋकारलृकारौ ह्रस्वौ। १।१।३१

२३५ अकारश्च–तै०प्रा० १।१।३२

२३६. तेन च समानकालस्वर । अनुस्वारश्च। तै०प्रा०– १।१।३३–३४

२३७ अमात्रस्वरो ह्रस्व·। वा०प्रा०– १।५५

२३८ एकमात्रो ह्रस्व । शौ०च०अ०– १।५९

२३९. अकालो ह्रस्व·। ऋक्तन्त्र– २।४।१०

२४० मतौ ह्रस्व.। अ०प्रा०– ३।१।६ आदि मे

२४१ ह्रस्वस्य तोऽन्त पानुबन्धे। काशकृत्स्न, सूत्र– ३६

२४२ य इमे स्वराश्चतुर्दश निर्दिष्टाश्तत्रवै दशसमाना ।

पूर्वोह्रस्व . .।। नाट्यशास्त्र– १५।२०

२४३ पूर्वो ह्रस्व.। कातन्त्र व्या०– १।१।५

२४४. चान्द्र व्या०– २।१।३२

२४५ जै०व्या०– १।१।११

२४६ ह्रस्वो वा पदे। शाकटायन व्या०– १।१।७४

२४७ सरस्वतीकण्ठा०– १।१।६०

२४८. एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुता·। सि०हे०श०– १।१।५१

२४९ सारस्वतव्याकरण, पूर्वार्द्ध– १।२

२५० आवत् स्वघंप्लु। मु०व्या०, सूत्र– ५

२५१ ह्रस्वश्च सयोगे। सुपद्मव्याकरण– १।१।१८

२५२ प्र० रत्नमाला– १।६

२५३ ह०नामामृत व्या०, सूत्र– ५

२५४. अष्टाध्यायी– १।२।२७

२५५ निरुक्त– २।५

२५६ ओङ्कारो यजुर्वेद दीर्घ प्लुतोदात्त एकाक्षर ओङ्कार सामवेदे। गो०ब्रा०– १।१।२५

२५७ ऋ०प्रा०– १।१८

२५८ द्विस्तावान् दीर्घ तै०प्रा०– १।१।३५

२५९. ऋ०प्रा०– १३।५०

२६०. वैदिकाभरणभाष्य– १।१।३५

२६१ द्विस्तावान् दीर्घ – १।५७

२६२ द्विमात्रो दीर्घ । शौ०च०अ०– १।६१

२६३. द्वे दीर्घम्। ऋकतन्त्रम्– २।५।३

२६४ घम्। ऋ० तन्त्र– २।५।१० इत्यादि मे

२६५ व्यञ्जनात् दीर्घौ जौ वा। सामतन्त्र– २।७।२

२६६ घ ओष्ठ्यादे । सामतन्त्र– १।७।३

२६७ उपसर्गस्योत्तरपदे दीर्घ.। अ०प्रा०– ३।५।११

२६८ गुहोदीर्घ का०कृ०व्या० सू० ६४। और सू०स० ८४, ८७ तथा १२० आदि मे।

२६९. तेषापरश्च दीर्घो विधातव्य । नाट्यशास्त्र– १५।२०

२७० कातन्त्र व्या०– १।१।६

२७१. चा०व्या० वर्ण सू० ४२ और चा०व्या० वर्ण सू०– ३६

२७२ आकालोऽच् प्रदीप । जै०व्या०– १।१।११

२७३. दीर्घ । शा०व्या०– १।१।७७

२७४ सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।६१

२७५ सि०हे०श०– १।१।५

२७६ शब्दानुशासन– १।१।४

२७७ सारस्वतव्याकरण पूर्व भाग– १।२

२७८ सक्षिप्तसार– १।३५

२७९ मु०व्या०– सू०– ५

२८० सुपद्मव्या०– १।१।१७

२८१ प्रयोगरत्नमाला– १।७

२८२ हरि०ना०व्या०, सू०– ८६०

२८३. ह०नामा०व्या०, सूत्र– ६

२८४ अष्टाध्यायी– १।२।२७

२८५ इष्येत एव चतुर्मात्र· प्लुत । महाभाष्य– ८।२।१०६

२८६ प्लवते स्वकालस्य परा काष्ठा त्रिमात्रत्व गच्छतीत्यर्थात् प्लुतशब्द· त्रिमात्रकेऽचि अन्वर्थ । जर्नल श्री व्यङ्कटेश्वर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, अङ्क ८, पृ०स०– १६

२८७ दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओङ्कार· सामवेदे। गो०ब्रा०– १।१।२५

२८८ तिस्त्र· प्लुत उच्यते स्वर·। ऋ प्रा०– १।३०

२८९. त्रि प्लुत·। तै०प्रा०– १।१।३६

२९०. प्लुतस्त्रि– वा०प्रा०– १।५८

२९१. शरादिवद् दूरगामित्वात् प्लुत इत्युच्यते। तै०प्रा० वैदिकाभरणभाष्य १।१।३६।

२९२. तै०प्रा०वै०भ०भा०– १।१।३६

२९३ ऋक प्रा०– १३।५०

२९४ त्रिमात्र प्लुतः। शौ०च०अ०– १।६२

२९५ तिस्त्रो वृद्धम्। ऋक्तन्त्र– २।५।४

२९६ त त्रिमात्रम्। सामतन्त्र– ५।१।१

२९७. सामतन्त्र– १।७।५

२९८ वर्णलोपागमह्रस्वदीर्घप्लुतात्मनेभाषा परस्मैभाषा अपियन्त्यपियन्ति। अ०भा०– ३।४।७

२९९ प्लुतश्चैव त्रिमात्रम् स्यादक्षर वर्णसश्रयम्। नाट्यशास्त्र– १६।१२३

३००. वर्णसूत्र (चान्द्रव्याकरण)– ४३

३०१ जै०व्या०– १।१।११

३०२ शाकटायनव्या०– १।१।६६

३०३ सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।६२

३०४ सि०हे०शब्दा– १।१।५

३०५ शब्दानुशासन– १।१।४

३०६ सारस्वतव्या०, पूर्वार्द्ध– १।२

३०७ मु०बो०व्या० सूत्र– ५

३०८ प्रयोगरत्नमाला– १।८

३०९ हरिनामामृत व्या०, सू०– ७

३१० अष्टाध्यायी– १।२।२९

३११. महाभाष्य– १।२।२९

३१२ न्यास– १।२।२९

३१३. पदमञ्जरी– १।२।२९

३१४. गो०ब्रा०– १।१।२५

३१५. तीव्रार्थतरमुदात्तम्। निरुक्त– ४।४।२५

३१६ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय स्वरा । आयामविश्रम्भाक्षे पैस्त उच्यन्ते। ।ऋ०प्रा०– ३।१

३१७. आयामो नाम वायुनिमित्तमूर्ध्वगमन गात्राणाम्, तेन य उच्यते स उदात्त.। ऋ०प्रा०– उ०भा० ३।१

३१८ तै०प्रा०– १।१।३८

३१९ वा०प्रा०– १।१०८

३२० हस्तेन ते। वा०प्रा०– १।१२१

३२१ उच्चैरुदात्तम्। शौ०च०अ०– १।१४

३२२ उदात्तमुत्। ऋक्तन्त्र– ६।१

३२३ उदात्तात्। सामतन्त्र– १।११।५

३२४ सामतन्त्र– ३।६।७

३२५ अ०प्रा०– १।१।४ एव १।२।२८ आदि।

३२६ उदात्तानुबन्ध परस्मैपदम्। का०कृ०व्या०, सू०– ६०।

३२७. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरित· कम्पितस्तथा।

वर्णाश्चत्वार एव स्यु· पाठयोगे तपोधना·।। ना०शा०– १६।४३

३२८ जै०व्या०– १।१।११३

३२९. सरस्वती क०– १।१।६३

३३० सा०व्या०, पू०– १।२

३३१. सार०व्या०पू०, स्वोपज्ञवृत्ति– १।२

३३२ अष्टाध्यायी– १।२।३०

३३३. अष्टाध्यायी– १।२।२७

३३४ काशिकावृत्ति– १।२।३०

३३५ अष्टाध्यायी– १।२।४०

३३६. पदमञ्जरी– १।२।४०

३३७. महाभाष्य– २।१।१ वार्तिक– ११

३३८. सि०कौ०टिप्पणी– ८।१।२३ वार्तिक

३३९ सुबोधिनी– ८।१।२८

३४० गो०ब्रा०– १।१।२७

३४१ अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। निरुक्त– ४।४।२५

३४२ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय. स्वरा.।

आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते। ऋ०प्रा०– ३।१

३४३ विश्रम्भो नामाधोगमनं गात्राणाम् वायुनिमित्तम्। ऋ०प्रा०, उ०भा०– ३।१

३४४ तै०प्रा०– १।१।३६

३४५. वा०प्रा०– १।१०६

३४६. नीचैरनुदात्तम्। शौ०च०अ०– १।१५

३४७ व्याघ्रादीन्यनुदात्तानि पदादीनामपोदितम्। अ०प्रा०– १।१।१६

३४८ अनुदात्ततङानुबन्ध आत्मनेपदम्। का०व्या०, सू०– ८८

३४९. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरित. कम्पितस्तथा।

वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठयोगे तपोधना ।। ना०शा०– १६।४३

३५० जै०व्या०– १।१।१३

३५१ सरस्वतीकण्ठाभरण १।१।६४

३५२ सा०व्या०, उत्तरार्द्ध– १।३

३५३ सारस्वतव्या०, पू०– १।२

३५४. सारस्वतव्या०पू०, स्वोपज्ञवृत्ति– १।२

३५५. अष्टाध्यायी– १।२।३१

३५६ अष्टाध्यायी– १।२।२७

३५७. काशिका वृत्ति– १।२।३१

३५८. काशिकावृत्ति– १।२।३१

३५६. महाभाष्य– १।२।३१

३६० तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्। अष्टाध्यायी– १।२।३१

३६१ तस्यादित उदात्त स्वरार्धमात्रम्। वा०प्रा०– १।१२६

३६२ स्वरितस्यादितो मात्रार्धमुदात्तम्। शौ०च०आ०– १।१७

३६३. स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार· ऋग्वेदे।। गो०ब्रा०– १।२।२५

३६४ ऋ०प्रा०– ३।३

३६५ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रय· स्वरा ।

आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्ते अक्षराश्रया·।। ऋ०प्रा०– ३।१

३६६. आक्षेपो नाम तिर्यग्गमनम् गात्राणाम् वायुनिमित्तम्। ऋ०प्रा०, उ०भा०– ३।१

३६७ समाहार स्वरित । तै०प्रा०– १।१।४०

३६८ प्रवणशब्द स्वरित पर्याय·। तै०प्रा०, त्रिरलभा०– १।१।४७

३६९. तै०प्रा०, वै०भ०भा०– २।७।३

३७०. उभयवान् स्वरित·। वा०प्रा०– १।११०

३७१. आक्षिप्त· स्वरितम्। शौ०च०आ०– १।१६

३७२ आद्यार्धमात्रा स्वरितम्। ऋक् तन्त्र– ५।३

३७३ सामतन्त्र– १३।७।५ एव ७।५।६

३७४. स्वरितान्यूष्मान्ता बाधानि। अ०प्रा०– १।२।१०

३७५ स्वरितत्रानुबन्ध उभयपदम्। का०कृ०व्या०, सू०– ८६

३७६. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरित· कम्पितस्था।

वर्णाश्चत्वार एव स्यु पाठयोगे तपोधना·।। ना०शा०– १६।४३

३७७. व्यामिश्र· स्वरित । जै०व्या०– १।१।१४

३७८ समाहार स्वरित । सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।६५

३७६ सारस्वतव्या०, उत्तरार्द्ध– १।४

३८०. सारस्वत व्या०– पूर्वा० स्वो० वृ०– १।२

३८१. अष्टाध्यायी– १।३।२

३८२ का०वृ०– १।३।२

३८३. सि०कौ०, संज्ञाप्रकरण– १।३।२

३८४. प्र०कौ०, सूत्र– १।३।२ पर उद्धृत

३८५ महाभाष्य– १।३।२

३८६ का०वृ०– १।३।२

३८७ महाभाष्य, हिन्दी टीका– १।३।२

३८८ सि०कौ० सञ्ज्ञाप्रकरण– १।३।२

३८६. पदमञ्जरी– १।३।२

३६० अष्टाध्यायी– १।३।३

३६१. का०वृ०– १।३।३

३६२ म०भा०– १।३।३

३६३ अष्टाध्यायी– १।२।६६

३६४ म०भा०प्रदीप– १।३।३

३६५ महाभाष्य, उद्योत– १।३।३

३६६. सि०कौ०, संज्ञा प्रकरण

३६७. अष्टाध्यायी– १।३।५

३६८ का०वृ०– १।३।५

३६६ अष्टाध्यायी– १।३।६

४०० अष्टाध्यायी– ३।१।१४५

४०१. अष्टाध्यायी– १।३।७

४०२ अष्टाध्यायी– ३।२।१६

४०३ अष्टाध्यायी– १।३।८

४०४ का०वृ०– १।३।८

४०५. अष्टाध्यायी– ४।३।७५

४०६ अष्टाध्यायी– १।३।६

४०७ प्रौ०मनो० रत्नप्रभाटिप्पणी– १।३।२

४०८ अपु०– ३४६।१२

४०९ ना०पु०– १६।८० इत्यादि

४१० लोपोऽनुनासिकानाम् कानुबन्धे। का०कृ०व्या०, सू०– १३ इत्यादि।

४११ योऽनुबन्धोऽप्रयोगी। कातन्त्र व्या०– ३।८।४३५

४१२. चा०व्या०– १।१।५

४१३. कार्यार्थोऽप्रयोगीत्। जै०व्या०– १।२।३

४१४ अप्रयोगीत्। शा०व्या– १।१।५

४१५ सरस्वतीकण्ठाभरण– १।२।६–१५ और १।२।१७

४१६ अप्रयोगीत्। सि०हे०श०– १।१।३७

४१७ नाम सित् . . अयव्यञ्जने। शब्दा०– १।२।१० एव "ङित्" शब्दानु०– १।४।३

४१८. सा०व्या०– पूर्वार्द्ध– १।८

४१९ इत् कृते। मु०बो०व्या०, सू०– ४

४२० चिह्नार्थमित्। सु०व्या०– २।३।१०

४२१. लोप्योऽनुबन्ध । प्र०र०मा०– १।१८५

४२२ मिता ह्रस्व । प्र०र०मा०– ८।५६४

४२३ ङित वृष्णिसञ्ज्ञा – ह०ना०व्या० सूत्र– १८० इत्यादि मे

४२४ इरनुबन्धान् डो वा....। ह०ना०व्या०, सू०– ४५३ इत्यादि मे।

४२५ अष्टाध्यायी– १।४।१०

४२६. काशिकावृत्ति– १।४।१०

४२७ पदमञ्जरी– १।४।१०

४२८. मा न पाश प्रति मुचो गुरुर्भारोलघुर्भव। अ०सं०– ६।३।२४

४२९. लघु ह्रस्वं न चेत् सयोग उत्तर । ऋ०प्रा०– १८।३८

४३० अनुस्वारश्च। ऋक्०प्रा०– १८।३६

४३१. लघु सव्यञ्जन ह्रस्व। ऋ०प्रा०– १८।४३

४३२ लघीयो व्यञ्जनाद्वते। ऋ०प्रा० १८।४४

४३३. अव्यञ्जनान्त यद् ह्रस्वमसयोगपर च यत्।

अननुस्वारसयुक्त यत् तल्लघु निबोधत। तै०प्रा०– २२।१४

४३४. ह्रस्व लघ्वसयोगे। शौ०च०आ०– १।५१

४३५. युग्मम् घु। ऋ०त०– ५।३।१

४३६ सा०त०– १।६।२ और ७।३।८

४३७ वेतालीय पुरस्कृत्य षण्मात्रायास्तथैव च।

त्र्यक्षरास्तु त्रिका ज्ञेया लघुगुर्वक्षरान्विता । ना० शा०– १५।१०६

४३८. ल्यपि लघो । चा०व्या०– ५।३।७०

४३६. प्रो धि व। जै०व्या०– १।२।६६

४४० शा०व्या०– ३।३।१४

४४१. ह्रस्व लघु०। स०क०भ०– १।१।६७

४४२ सि०हे०श०– ४।३।४

४४३ शब्दानुशासन– २।६।३८ इत्यादि

४४४ सारस्वतव्या०, पूर्वार्द्ध– १।२०

४४५ मु०बो०व्या०, सू०– ५३६

४४६ सुपद्मव्याकरण– १।१।१६

४४७ प्र०र०मा०– ६।२१७ इत्यादि

४४८. ह०ना०व्या० सू०– ७६

४४६ अष्टाध्यायी– १।४।११

४४५. अष्टाध्यायी– १।४।१२

४५१ शिशुपाल वध– २।१००

४५२ अष्टाध्यायी– ६।१।१०६

४५३ अष्टाध्यायी– १।१।६६

४५४ परा ह यत् स्थिर हथ वर्तयथा गुरु.। ऋस०– १।३६।३

४५५. मा न पाश प्रति मुचो गुरुर्भारोलघुर्भव। अ०स०– ६।३।२४

४५६ गुरु दीर्घम्। ऋ०प्रा०– १८।४१, गुरुणि दीर्घाणि। ऋ०प्रा०– १।२०

४५७ तथेतरेषा सयोगानुस्वारपराणि यानि। ऋ०प्रा०– १।२१

४५८ गरीयस्तु यदि सव्यञ्जनं भवेत्। ऋक०प्रा०– १८।४२

४५६. यद्व्यञ्जनान्त यदुचापिदीर्घ सयोगपूर्वच तथानुनासिकाम्।

एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्, शेष ण्यतोऽन्यानि ततोलघूनि।।०तै०प्रा०– २।१०।१४

४६० गुर्वन्यत्। शौ०च०आ०– १।५२

४६१ अनुनासिकञ्च, 'पदान्ते च'। शौ०च०आ०– १।५३–५४

४६२ गुरूषणि। ऋ०त०, सू०– ४६

४६३ सामतन्त्र– ५।५।३ इत्यादि मे

४६४ गुरुर्दीर्घ प्लुतश्चैव सयोगपरमेव च। सानुस्वारविसर्गश्च तथान्यच्च लघु क्वचित्। ना०शा० १५।६०–६१

४६५. चा०व्या०– १।१।५२ इत्यादि मे

४६६ स्फेरु ।दी । जै०व्या०– १।२।१००–१०१

४६७ शा०व्या०– १।३।२

४६८. शब्दानुशासन– २।५।१ इत्यादि

४६९ सयोगे गुरु। दीर्घ च। सरस्वतीक०भ०– १।१।६८–६९

४७० सारस्वत व्या० पूर्वा०– १।२१

४७१ मु०बो०सू०– ५३९–५४०

४७२ दीर्घो गुरु , ह्रस्वश्च सयोगे। सुपदम्व्याकरण– १।१।१७–१८

४७३ सयोगस्य तु यत्पूर्व गुरु तत्। प्रह्रयोस्तु वा। सानुस्वारविसर्गञ्च दीर्घञ्च गुरुसज्ञकम्। प्र०र०मा० १।१२–१३–१४।।

४७४. त्रिविक्रमो गुरुः। सत्सगात् पूर्वो वामनोऽपि गुरु । ह०ना०व्या०, सू०– ८०,८१

४७५ अष्टा०– १।४।१०९

४७६ सि०कौ०– १।४।१०९

४७७ महाभाष्य– १।४।१०९

४७८ का०वृ०– १।४।१०६

४७९ सि०कौ० मे उद्धृत।

४८० निरुक्त– १।६

४८१ सहिता पदप्रकृति । ऋ०प्रा०– २।१–२

४८२ वर्णानामेकप्राणयोग सहिता। वा०प्रा०– १।१५८

४८३ अथ चतस्त्र सहिता । तै०प्रा०– २४।१–४

४८४ पदाना सहिता विद्यात्। अ०प्रा०– १।१।२ आदि

४८५ सन्निकर्ष सहिता। ऋ०त०– ३।१।७

४८६ पदान्तपदाद्यो· सन्धिः। वा०प्रा०– ३।३।

व्यञ्जनानि स्वराश्चैव सधयोऽथ विभक्त·। ना०शा०– १४।७

४८७. अ०पु०– ३६६।२४

४८८ सहितावसानयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्। म०भा०– १।४।१०६ वा०

चतुर्थ अध्याय

प्रकृति सम्बन्धी संज्ञासूत्र

घु संज्ञा

आचार्य पाणिनि 'दा' रूप और 'धा' रूप धातुओं की 'घु' सज्ञा का विधान ''दाधाध्वदाप्''[१] सूत्र द्वारा करते है। इसका अभिप्राय है कि दा रूप वाली चार 'धा' रूप वाली दो धातुओं की √दाप् और √दैप् को छोड़कर 'घु' सज्ञा होती है।[२] 'दा' रूप वाली चार धातुए हैं–√डुदाञ् दाने,√दाण् दाने, √दो अवखण्डने, √देङ् रक्षणे। धा रूप वाली दो धातुए है–√डुधाञ् धारण पोणयोः, और √धेट् पाने। इस प्रकार सूत्र मे आये हुए पद का विग्रह होगा–दाश्च, दाश्च दाश्च दाश्च इति दा । धाश्च धाश्च इति धौ। दाश्च धौ च इति दाधा। न दाप् इति अदाप्, √दाप्लवने, और √दैप् शोधने दोनो धातुओं का ग्रहण अदाप् से हो जाता है। इन धातुओं के उदाहरण है– √डुदाञ् - प्राणिददाति। √दाण् - प्रणिदाता। √दो - प्रणिद्यति। √देङ् - प्रणिदयते। √उधाञ् - प्रणिदधाति। √धेट् - प्रणिधयति। √दाप् और √दैप् की घु सज्ञा नही होती, इसलिए √ दाप् धातु से निष्पन्न 'दातम्' शब्द मे 'दो दद्घोः'[३] सूत्र से 'दद्' आदेश और√दैप धातु से निष्पन्न 'अवदातम्' शब्द मे ''अच उपसगत्ति [४]'' सूत्र से तकार आदेश नही होता।

यह आचार्य पाणिनि की स्वकल्पित सज्ञा है, इसलिए प्राचीन व्याकरण ग्रन्थो मे यह सज्ञा उपलब्ध नही होती। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों मे भी यह सज्ञा इसी रूप मे नही प्राप्त होती अपितु, अन्य शब्दो से व्यवहृत की गयी है। जैसे कातन्त्र व्याकरण[५] मे 'दा' सज्ञा, जैनेन्द्र[६] मे 'भू सज्ञा' सिद्धहेम शब्दानुशासन[७] मे 'दा' सज्ञा, मुग्धबोध व्याकरण[८] में भी 'दा' सज्ञा का ही विधान किया गया है। महाकवि श्री हर्ष ने भी इस सज्ञा को पाणिनिप्रणीत ही माना है–

''दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत् कोऽप्यधीती कपोत ,

कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनीशेषभूषानयात ।।

सर्व विस्मृत्य दैषात् स्मृतिमुषसि गता घोषयन् यो घुसज्ञाम्,

प्राक्सस्कारेण सम्प्रत्यपि ध्रुवति शिर पट्टिकापाठजेन।।''[९]

अष्टाध्यायी मे घु सज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	घुमास्थागापाजहातिसा हलि	६।४।६६	आकार का ईत्व	दीयते, धीयते
२	ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च	६।४।११९	एत्व, अभ्यास का लोप,	देहि, धेहि
३	घोर्लोपो लेटि वा	७।३।७०	आकार का लोप	दधद्रत्नानि, दाशुर्षे सोमोददद्गन्धर्वाय
४	दो दद्घो	७।४।४६	ददादेश	दन्त.।
५	नेर्गदनदपतपदघुमा स्यति-हन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोति देग्धिषुच।	८।४।१७	न को णत्व	प्रणिददाति प्रणिद्यति प्रणिदयते प्रणिधयति।

संख्या संज्ञा

शालातुरीय भगवान् पाणिनि अष्टाध्यायी में सङ्ख्या सज्ञा का विधान ''बहुगणवतु-डति सङ्ख्या[१०]'' सूत्र द्वारा किया है। सूत्र मे ''सख्या'' सज्ञा है और 'बहुगणवतुति' सज्ञी। सूत्रस्थ 'बहुगणवतुडति' पद मे समाहार द्वन्द्व समास है– बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च'। इनमे 'बहु' तथा 'गण' शब्द स्वरूपात्मक है तथा 'वतु तथा डति' प्रत्यय है, जो तदन्तरूप मे ग्राह्य है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा– बहु, गण, वतुप्रत्ययान्त और डति प्रत्ययान्त की सङ्ख्या सज्ञा होती है।[११] सूत्र मे 'बहु' और 'गण' शब्द त्रि से लेकर परार्द्धपर्यन्त सङ्ख्या के व्यापक धर्म के रूप मे ग्राह्य है। इसीलिए 'बहुरोदन ' मे वैपुल्य वाची 'बहु' शब्द तथा 'महान् भिक्षूणाम् गण ' मे सघवाची गण शब्द की सङ्ख्या सज्ञा नही होती।

'सख्यायते परिच्छिद्यते स्वाश्रयो यया सेति सख्या' अथवा 'सख्यायते परिच्छिद्यते इति सख्या'

व्युत्पत्ति के आधार पर 'आतश्चोपसर्गे'[१२] सूत्र से करण या कर्म अर्थ मे 'अङ्' प्रत्यय होकर सख्या पद की निष्पत्ति हुई है। इसके अन्वर्थक होने के कारण ही सूत्र मे अनुपात्त एकादि की भी सङ्ख्या सज्ञा हो जाती है। इसके उदाहरण है - बहुकृत्व॰, गणकृत्व;, तावत्कृत्व और कतिकृत्व॰ इत्यादि।

यह सज्ञा पूर्वाचार्यो द्वारा भी स्वीकृत है। निरुक्त मे एकादि सख्याओं का व्याख्यान एवविध प्रस्तुत किया गया है–

''एक इता सख्या, द्वौ द्रुततरा सख्या, त्रयस्तीर्णतमा सङ्ख्या, चत्वारश्चलिततमा सङ्ख्या, अष्टावश्नोते , नवनवननीया नवाप्ता वा, दश दस्ता दृष्टार्थावा''।[१३]

ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे भी ''स्मरन्ति सङ्ख्या नियमेन शाकलम्[१४]'' कथन द्वारा सङ्ख्या सज्ञा का उल्लेख किया गया है। प्राचीन ग्रन्थो मे 'सङ्ख्या' शब्द के लिए कहीं 'चित्'[१५] और कही 'वचन' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इस सन्दर्भ मे काशिकाकार का यह कथन स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है–''व्यक्तिवचने इति च लिङ्गसङ्ख्ययो पूर्वाचार्य निर्देशस्तदीयमेवेद सूत्रम्[१७]''। सम्भवत लोकप्रसिद्ध होने के कारण प्रातिशाख्यो मे सङ्ख्या सज्ञा का उल्लेख नही मिलता। बृहद्देवता मे भी इसका स्मरण मात्र किया गया है।[१८]

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[१९], जैनेन्द्र-व्याकरण[२०], शाकटायन व्याकरण[२१], सिद्धहेमशब्दानुशासन[२२] और मुग्धबोध व्याकरण[२३] आदि मे सङ्ख्या सज्ञा का विधान या उल्लेख उपलब्ध होता है।

अष्टाध्यायी मे इसके प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं० सूत्र	**सूत्र सं०**	**कार्य**	**उदाहरण**
१. सङ्ख्या वश्येन	२।१।१९	समास	द्विमुनि, त्रिमुनि, एकविशति-भारद्वाजम्।
२ सङ्ख्याया अतिशदन्ताया कन्	५।१।२२	कन् प्रत्यय	पञ्चक॰, बहुक ।
३. सङ्ख्याया विधार्थे धा	५।३।४२	धा प्रत्यय	चतुर्धा, पञ्चधा

४.	सङ्ख्याया क्रियाभ्या– वृत्तिगणने कृत्वसुच्	५।१।४।१७	कृत्वसुच् प्रत्यय	पञ्चकृत्व.।
५	सङ्ख्यापूर्वो द्विगु	२।१।५२	द्विगु सज्ञा	पञ्चगवम् त्रिलोक।
६	सङ्ख्याया सवत्सरसङ्ख्यस्य च	७।३।१५	पाद का लोप	द्विपात्

इनके अतिरिक्त अष्टाध्यायी मे, ६।२।३५, ५।२।४२, ५।१।५८, ६।२।१६३, ५।२।४७।, ५।४।५६, ६।३।११०, ४।१।२६ और ५।४।४३ मे भी सङ्ख्यासज्ञा का प्रयोग हुआ है।

षट् संज्ञा

सूत्रकार अष्टाध्यायी मे सख्यासज्ञक कुछ शब्दो की षट् सज्ञा का विधान दो सूत्रो से करते है। जिनमे प्रमुख सूत्र है–''ष्णान्ता षट्''[२४]। इसका अभिप्राय है कि 'षकारान्त' और 'नकारान्त' सङ्ख्या की 'षट्' सज्ञा होती है[२५]। सङ्ख्या का षकारान्त होना या नकारान्त होना उपदेशावस्था का ही अभीष्ट है। 'षट्' सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है– 'डति च'[२६]। अर्थात् डत्यन्त सख्या की 'षट्' सज्ञा होती है।[२७] यहॉ पर एक प्रश्न उठता है कि 'बहुगणवतुडतिसख्या' सूत्र मे 'डति का ग्रहण होने के कारण उसका अनुवर्तन करके 'षट्' सज्ञा तो हो ही जाती अलग से सूत्र बनाने की आवश्यकता नही थी। इसका समाधान यह है कि 'वतु' के साहचर्य के कारण तद्धित 'डति' का ही ग्रहण हो पाता, उणादि सूत्रो में आये हुए 'डति' का ग्रहण न होता। औणादिक डति का भी ग्रहण हो जाय, इसलिए सूत्रकार ने अलग सूत्र बनाया।

प्रातिशाख्यादि ग्रन्थो में षट् संज्ञा उपलब्ध न होने के कारण इसके पाणिनि कल्पित होने की बात सिद्ध होती है। महाभाष्य के एक उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः पूर्वाचार्यों ने 'डु' संज्ञा का विधान किया रहा होगा, जिसके स्थान पर महर्षि पाणिनि ने 'षट्' सज्ञा की उद्भावना की[२८] जहाँ तक इस सज्ञा के अन्वर्थक होने की बात है, वहाँ यह तथ्य विचारणीय है कि 'षान्त और नान्त' छ. शब्द पञ्चन्, षष्, सप्तन्, अष्टन्, नवन्, दशन्, ही है। इसलिए सम्भवत. इनकी 'षट्' सज्ञा सूत्रकार ने की होगी। यह सज्ञा अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे भी प्रायः उपलब्ध नहीहोती, केवल प्रयोगरत्नमाला में ''डत्यन्ता स नकारान्ता सख्या षट्सज्ञका. स्मृता.[२९]।'' कहकर षट्सज्ञा का विधान किया गया है

सञ्ज्ञायाम्''।[३७] सूत्र मे प्रयुक्त व्यवस्था पद का अर्थ है–''स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था''[३८] अर्थात् 'स्वस्य पूर्वादिशब्दस्य अभिधेय दिग्देशकालादिरूपोऽर्थ , तेन अपेक्ष्यमाण अवधेर्नियमो व्यवस्था। इसका अभिप्राय है कि यह किसके पूर्व है? किससे पर है? इत्यादि अवधि नियम की आकाङ्क्षा को व्यवस्था कहते है। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा–पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर और अधर शब्द व्यवस्थावाची होने और सञ्ज्ञा न होने की स्थिति मे गण सूत्र द्वारा सर्वत्र प्राप्त सर्वनाम सञ्ज्ञा 'जस्' के परे रहने पर विकल्प से होगी।[३९] इसीलिए प्रथमा बहुवचन मे पूर्वे और पूर्वा दोनो रूपो की सिद्धि होती है। सूत्र मे व्यवस्था पद के सन्निवेश के कारण 'दक्षिणा गायका ' इत्यादि स्थलो पर दक्षिण शब्द के कुशल अर्थ होने से सर्वनाम सञ्ज्ञा नहीं होती।

दूसरा गण सूत्र, जिसे आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे यथावत् सन्निविष्ट किया है। वह है– ''स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्''।[४०] सूत्रार्थ है–ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अर्थ के वाचक स्वशब्द की गण सूत्र से प्राप्त सर्वनाम सञ्ज्ञा जस् के परे रहने पर विकल्प से होगी।[४१] इस सूत्र के कारण ही 'स्व' शब्द के प्रथमा बहुवचन मे 'स्वे, स्वा ' रूपो की सिद्धि होती है। 'ज्ञाति' और धनवाची 'स्व' शब्द से प्रथमा बहुवचन मे केवल 'स्वा.' रूप बनेगा। इसी क्रम में तीसरा गण सूत्र जिसे सूत्रकार ने अष्टाध्यायी मे स्थान दिया है, वह है–''अन्तर बहिर्योगोपसव्यानयोः''।[४२] अर्थात् बाह्य और परिधानीय अधोवस्त्र अर्थ मे अन्तर शब्द की गणसूत्र से प्राप्त सर्वनाम सञ्ज्ञा जस् परे रहते विकल्प से है।[४३] इसी सूत्र के कारण 'अन्तरे अन्तरा वा गृहा ' अथवा 'अन्तरे अन्तरा वा शाटका.' जैसे प्रयोग सिद्ध होते है।

सूत्रकार ''विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ''[४४] सूत्र द्वारा भी सर्वनाम सञ्ज्ञा का विधान करते है। तदनुसार सूत्रार्थ है कि बहुव्रीहि समास मे जो दिक्समास है, उसकी सर्वनाम सञ्ज्ञा विकल्प से होती है।[४५] बहुव्रीहि समास के प्रकरण मे आने वाले ''दिङ्नामान्यन्तराले'' सूत्र से किये गये समास को दिक् समास कहा है। इसके उदाहरण है- 'उत्तरपूर्वस्यै, उत्तर पूर्वायै।'' इसके पश्चात् आचार्य पाणिनि 'विभाषा जसि'[४६] सूत्र द्वारा जस् के स्थान पर 'शि' करने के लिए द्वन्द्व समास में सर्वनाम सञ्ज्ञा विकल्प से होती है।[४७] इसीलिए 'वर्णाश्रमेतरे' और 'वर्णाश्रमेतरा.' उभयरूपों की सिद्धि होती है। आचार्य पाणिनि ने ''प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च''[४८] सूत्र के द्वारा जस् के परे रहने पर सर्वनाम सञ्ज्ञा का विकल्प

से विधान किया है। इसीलिए 'प्रथमे प्रथमा· नेमे, नेमाः जैसे प्रयोग प्रथमादि शब्दो से सिद्ध होते है। पाणिनि द्वारा प्रतिपादित इन सूत्रो के अतिरिक्त वार्तिकार कात्यायन ने भी ''विभाषा प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसख्यानम्''[४६] वार्तिक द्वारा 'तीय' प्रत्ययान्त शब्दो की ङित् विभक्तियो के परे रहने पर विकल्प से सर्वनाम सज्ञा का विधान किया है, जिसके कारण द्वितीयस्मै और द्वितीयाय जैसे रूप सिद्ध होते है। महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने सर्वनाम सज्ञा को महासज्ञा और अन्वर्थक माना है। उन्ही के शब्दो मे-''अथवा महतीय सज्ञा क्रियते . .. ...सर्वेषा नामानीति चात सर्वनामानि इति।[५०] इसी कारण यदि किसी का नाम 'सर्व' होता है तो सभी का वाचक न होने के कारण उसकी सर्वनाम सज्ञा नही होती। इसी प्रकार जहाँ सर्वादि शब्द गौण हो जाते है, ऐसे अतिसर्व आदि उपसर्जन स्थलो पर सर्वनाम सज्ञा नही होती।[५१]

अष्टाध्यायी से प्राच्य सस्कृत वाङ्मय मे सर्वनाम शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग निरुक्त मे पाया जाता है।[५२] ऋक्तन्त्र मे भी सर्वनाम शब्द का प्रयोग हुआ है[५३] फिट् सूत्रो मे सर्वनाम के स्थान पर शिट् शब्द का व्यवहार हुआ है।[५४] आपस्तम्बधर्मसूत्र मे अभिवादन विधि के प्रसङ्ग मे सर्वनाम शब्द का प्रयोग किया गया है।[५५] आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने 'द्वय' पद की सर्वनामता के सन्दर्भ में आचार्य चक्रवर्मा के मत का उल्लेख किया है।[५६] अष्टाध्यायी के पश्चवर्ती सस्कृत वाङ्मय मे कातन्त्र व्याकरण मे बिना परिभाषा के ही सर्वनाम सज्ञा का प्रयोग किया है।[५७] जैनेन्द्र व्याकरण[५८] और सरस्वतीकण्ठाभरण मे[५९] सर्वादि शब्दो के सर्वनाम सज्ञा का विधान अष्टाध्यायी के समान उपलब्ध होता है। सारस्वत व्याकरण मे सर्वनाम सज्ञा विधायक कोई सूत्र तो नही है किन्तु सर्वनाम सज्ञा का प्रयोग अवश्य मिलता है।[६०] आचार्य पद्मनाभ दत्त ने सर्वादि शब्दो की सज्ञा का विधान आचार्य पाणिनि और कात्यायन के समान ही की है[६१]। पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने प्रयोगरत्नमाला मे कहा है कि सज्ञावाची और उपसर्जनीभूत सर्व आदि शब्दो को छोडकर विशेष अर्थ की व्यवस्था की दृष्टि से सर्व आदि ४० शब्दो की सर्वनाम सज्ञा होती है।[६२] हरिनामामृत व्याकरण मे आचार्य जीवगोस्वामी ने सर्व आदि शब्दों के लिए सर्वनाम के स्थान पर 'कृष्णनाम' सज्ञा का विधान किया है।[६३] जिसमे सज्ञी का स्वरूप पूर्ववर्ती व्याकरणो के समान ही है।

अष्टाध्यायी मे सर्वनाम सज्ञा के प्रयोग प्रदेश ये है-

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	सर्वनाम्नस्तृतीया च	२।३।१७	षष्ठी और तृतीया विभक्ति का विधान	कस्य हेतो· केन हेतुना।
२.	सर्वनाम्न· स्याड्ढ्रस्वश्च	७।३।११४	स्याडागम और ह्रस्व	सर्वस्यै, अन्यस्या ।
३.	आ सर्वनाम्न·।	६।३।६१	आकार अन्तादेश	तादृक्, तादृशौ, तावान्
४	सर्वनाम्न स्मै	७।१।१४	स्मै आदेश	सर्वस्मै, विश्वस्मै।
५	आमि सर्वनाम्नः सुट्	७।१।५२	सुडागम	सर्वेषाम्, उभयेषाम्।

अव्यय संज्ञा

सूत्रकार आचार्य पाणिनि ने पाँच सूत्रों के द्वारा अव्यय सज्ञा का विधान किया है। जिसमे पहला सूत्र है–'स्वरादिनिपातमव्ययम्'[६४] इसका अभिप्राय है कि स्वरादि और निपातो की अव्यय सज्ञा होती है।[६५] स्वरादि का अभिप्राय है–''स्वर, आदि· येषा ते, स्वरादयः अर्थात् स्वर् है आदि मे जिसके, वे है स्वरादि।

''स्वरादयश्च निपाताश्चेति स्वरादिनिपातम्।'' यहाँ समाहारद्वन्द्व होने के कारण नपुंसक लिङ्ग और एकवचनत्व है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि स्वरादियो को चादिगण मे पाठ करके क्यो न निपात सज्ञा ही मानी जाय? अलग से अव्यय सज्ञा की क्या आवश्यकता है? वस्तुत चादिगण मे पठित शब्दो की अद्रव्यवाचक होने की स्थिति मे ही निपात संज्ञा होती है। जबकि स्वरादियो की द्रव्यवाचक और अद्रव्यवाचक दोनो स्थितियों मे अव्यय सज्ञा होती है। स्वरादि और चादिगण का पृथक् पाठ भी ''निपात· आद्युदात्तः''[६६] सूत्र के आधार पर स्वर भेद के लिए है। यही नहीं, केवल निपात सज्ञा मानने पर 'क्व+इव' = क्वेव इत्यादि स्थलो पर एकाच् स्वरादियो की भी निपात संज्ञा हो जाने पर ''निपात एकाजनाङ्[६७] से प्रगृह्य सज्ञा और प्रकृति भाव होने लगेगा, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इसलिए स्वरादियो की अलग से अव्यय सज्ञा मानना ही समीचीन है।

अव्यय सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–''तद्धितश्चासर्वविभक्ति ''।[६८] इसका अभिप्राय है कि

जिससे सभी विभक्तिया नही आती, वह तद्धितान्त अव्यय सज्ञक हो।[६६] सूत्र में 'असर्वविभक्ति·' पद का विग्रह होगा–सर्वा विभक्तय· यस्मात् इति सर्वविभक्ति·, न सर्वविभक्तिरिति असर्वविभक्ति·। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि कौन तद्धितान्त ऐसे है। जिनसे सभी विभक्तियाँ नही आती।इसका परिगणन सिद्धान्तकौमुदीकार आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने इस प्रकार किया है–''परिगणन कर्त्तव्यम्–तसिलादय प्राक्पाशप , शस्प्रभृतय प्राक्समासान्तेभ्य·, अम्, आम्, कृत्वोऽर्था , तसिवती, नानाञाविति।''[७०] इसका अभिप्राय यह है कि 'पञ्चम्यास्तसिल्'[७१] से लेकर 'याप्ये पाशप्'[७२] के पहले के प्रत्यय, ''बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्''[७३] से लेकर ''समासान्ता·''[७४] सूत्र से पहले आये हुए प्रत्यय, ''अमु च छन्दसि''[७५] सूत्र से विहित अम्, ''किमेत्तिङ्व्ययधादाम्बद्रव्यप्रकर्षे''[७६] सूत्र से विहित आम् प्रत्यय, ''सख्याया क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्''[७७] सूत्र से विहित 'कृत्वसुच्' प्रत्यय, 'द्वित्रिचतुर्भ्यस्सुच'[७८] सूत्र से विहित सुच्, और 'विभाषा बहोर्धा विप्रकृष्टकाले[७९] सूत्र से होने वाला धा प्रत्यय, 'तसिश्च'[८०] सूत्र से विहित एक दिगर्थ मे 'तसि' प्रत्यय, ''तेन तुल्यं-क्रिया चेद्वतिः[८१] और ''तत्रतस्येव''[८२] सूत्र से विहित 'वति' प्रत्यय, ''विनञ्भ्याम् ना नाञौ न सह[८३] सूत्र से विहित ना और नाञ् प्रत्यय जिनके अन्त मे हो, वे सब शब्द होते है।

सूत्रकारका अव्यय सज्ञा विधायक तीसरा सूत्र है–'कृन्मेजन्तः'[८४] यहाँ कृत् और मेजन्त ये दो पद है। 'मेजन्त ' का अभिप्राय है–म् च एच्च इति मेचौ, मैचौ अन्ते यस्य स मेजन्त·। अर्थात् मान्त और एजन्त। यहाँ द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा– जो कृत् प्रत्यय मकारान्त और एजन्त हो, तदन्त शब्द अव्ययसज्ञक हो।[८५]

जैसे–स्मार-स्मारम्, जीवसे और पिबध्यै इत्यादि।

अव्ययसंज्ञा विधायक चतुर्थ सूत्र है–''क्त्वा तोसुन्कसुनः[८६]।, सूत्र का विग्रह होगा- ''क्त्वा च तोसुन् च, कसुन् च'' इति ''क्त्वातोसुन्कसुन·।'' सूत्रार्थ यह है–क्त्वा, तोसुन्, और कसुन्, ये प्रत्यय जिनके अन्त मे हो, वे शब्द अव्ययसज्ञक होते है। यहाँ 'क्त्वा' प्रत्यय का विधान ''समानकर्तृकयो· पूर्वकाले क्त्वा''[८७] और ''अलङ्खल्वो· प्रतिषेधयो· प्राचाम् क्त्वा''[८८] से होता है। तोसुन् और कसुन् प्रत्यय वैदिक है, इनका विधान ''ईश्वरे तोसुन्–कसुनौ''[८९] सूत्र से होता है। ये दोनो प्रत्यय 'तुमुन्' के

अर्थ मे होते है। क्त्वा प्रत्ययान्त जैसे–'गत्वा, पठित्वा, शयित्वा इत्यादि। उदेतो 'तोसुन्' प्रत्ययान्त है तथा 'विसृप ' कसुन् प्रत्ययान्त है।

अव्ययसज्ञा विधायक अन्तिम सूत्र है–''अव्ययीभावश्च''[९०] अर्थात् अव्ययीभाव समास अव्ययसज्ञक होता है, जैसे- अधिहरि।

महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने कहा है कि तीनो लिङ्गो सभी विभक्तियो और सम्पूर्ण वचनों मे जो सदृश है, एक जैसा रहता है–बदलता नही, वह अव्यय होता है[९१] वस्तुतः महासज्ञा होने के कारण ''न व्येति इति अव्ययम्'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह अन्वर्थ सज्ञा है।

अष्टाध्यायी से प्राचीन वाङ्मय मे पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे अव्यय शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हमे गोपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है।[९२] वहाँ अव्यय को अन्वर्थ सज्ञा बताते हुए कहा गया है कि जो तीनों लिङ्गो सभी विभक्तियो और सम्पूर्ण वचनों में सदृश रहता है, परिवर्तित नहीं होता, वह अव्यय है। शब्दशक्तिप्रकाशिका मे अत्यन्त प्राचीन आचार्य भागुरि का उल्लेख मिलता है, जिन्होने अव्यय शब्द का प्रयोग किया है।[९३]बृहद्देवता[९४] और अथर्ववेद प्रातिशाख्य[९५] मे विना परिभाषा के ही अव्यय शब्द का प्रयोग किया गया है। अग्निपुराण[९६] मे और नारद पुराण[९७] मे भी अव्यय संज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है।

पाणिनि के पश्चवर्ती व्याकरणो मे से कातन्त्र[९८] व्याकरण मे विना परिभाषा के ही अव्यय सज्ञा का प्रयोग किया गया है। आचार्य चन्द्रगोमिन् ने अव्यय के लिए ''असख्य'' और अनव्यय के लिए ''ससख्य'' शब्दो का प्रयोग किया है।[९९] किन्तु उनके द्वारा असख्य की कोई परिभषा नहीं प्रस्तुत की गयी। जैनेन्द्र व्याकरण मे जहाँ अव्यय के स्थान पर 'झि' सज्ञा का विधान किया है।[१००] वहीं आचार्य शाकटायन अभिनव ने अव्यय सज्ञा का विधान किया है।[१०१] भोजदेव[१०२] ने चौदह सूत्रो द्वारा तथा आचार्य हेमचन्द[१०३] ने सात सूत्रो द्वारा अव्यय सज्ञा का प्रतिपादन किया है। आचार्य मलयगिरि [१०४] ने विना स्वरूप विवेचन किये हुए 'अव्यय' शब्द का प्रयोग किया है। सारस्वत व्याकरण मे ''तदव्ययम्''[१०५] सूत्र द्वारा अव्यय सज्ञा का विधान किया है।

आचार्य बोपदेव ने अव्यय सज्ञा के स्थान पर उसके एकदेश 'व्य' सज्ञा का विधान किया

है।[१०६] सुपद्म व्याकरण के अनुसार स्वरादि, चादि, वदादि तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों तथा 'क्त्वा' और मान्त कृत् प्रत्ययान्त शब्दो को अव्यय समझना चाहिए।[१०७] प्रयोगरत्नमाला मे भी अव्यय सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[१०८] आचार्य जीवगोस्वामी ने सुपद्म व्याकरण के समान ही अव्यय सञ्ज्ञा का विधान किया है।[१०९]

अव्यय सञ्ज्ञा के प्रयोग-स्थल निम्नवत् है-

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	अव्यय विभक्तिसमीप समृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्यया- सम्प्रतिशब्दप्रादुर्भाव- पश्चाद्यथाऽनुपूर्व्ययौगपद्य सादृश्यसम्पतिसाकल्यान्त वचनेषु।	२।१।६	अव्ययी भाव समास	अधिहरि, उपकृष्णम् सुमद्रम् दुर्यवनम् निर्मक्षिकम्, अतिहिमम् अतिनिद्रम्, इतिहरि, अनुविष्णु, सहरि अनुज्येष्ठम्, ससखि।
२.	अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे ।	५।३।७१	अकच् प्रत्यय	उच्चकैः।
३	अव्ययात्त्यप्	४।२।१०४	त्यप् प्रत्यय,	अमात्य., तत्रत्य.।
४.	अव्ययादाप्सुप	२।४।८२	आप्। औसुप् का लुक्	तत्र उच्चै कृत्वा।
५.	अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने- कृञ क्त्वा णमुलौ।।	३।४।५६	क्त्वा और णमुल् प्रत्यय	उच्चैः कृत्य उच्चै कारम्।।

वृद्ध संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का प्रारम्भ वृद्धि सञ्ज्ञा विधान से किया है- और पादसमाप्ति वृद्धसञ्ज्ञा के प्रतिपादन से किया है। अष्टाध्यायी मे तीन सूत्रो द्वारा वृद्ध

सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। अष्टाध्यायी मे तीन सूत्र है–''वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्''[११०]। सूत्र मे वृद्धम् सञ्ज्ञा है 'यस्य अचाम् आदिः वृद्धि.' सञ्ज्ञी है। षष्ठी विभक्ति निर्धारणार्थक है। स्वरों के अनेकत्व को अभिलक्षित करके 'अच्' पद मे बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है– जिस शब्द के (समुदाय के) स्वरो मे आदि स्वर वृद्धिसञ्ज्ञक (आ, ऐ, औ) हो, उसे वृद्ध कहते है[१११] वृद्धि सञ्ज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–''त्यदादीनि च''[११२] सूत्र में 'वृद्धम्' पद की अनुवृत्ति आती है, तत्पश्चात् सूत्र का अर्थ निष्पन्न होता है–त्यदादिगण पठित शब्दो की भी वृद्धि सञ्ज्ञा होगी[११३]। इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि विकल्प से भी वृद्ध सञ्ज्ञा का विधान ''एङ् प्राचाम् देशे''[११४] सूत्र द्वारा करते है। जिसका अभिप्राय है–जिस शब्द समुदाय मे आदि वर्ण 'एङ्' रहे, उस शब्द के देश का वाचक होने पर वृद्ध सञ्ज्ञा होती है।[११५] इनके उदाहरण क्रमश· मालीय·, तदीय· और गोनर्दीय आदि है। वस्तुत वृद्ध सञ्ज्ञा होने का फल ''वृद्धाच्छ ''[११६] सूत्र द्वारा छ· इत्यादि प्रत्यय होना है।

यहा पर ध्यातव्य है कि 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्'' सूत्र मे स्थित 'यस्याचामादि ' पद इसके तत्काल बाद आने वाले 'त्यदादीनि च' सूत्र मे अनुवर्तित नही होता, किन्तु 'एङ् प्राचाम् देशे'' सूत्र मे उसका अनुवर्तन होता है। ऐसा क्यो है? क्या यह सम्भव है? इत्यादि प्रश्नो का समाधान आचार्य पतञ्जलि ने अतीव सुन्दर तरीके से किया है। तदनुसार–''सम्बन्धमनुवर्तिष्यते वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् इति। त्यदादीनि च'' वृद्धिसञ्ज्ञानि भवन्ति। 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' 'एङ् प्राचा देशे' यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते, वृद्धिग्रहण निवृत्तम्। तद्यथा–कश्चित्कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते। स यदा निष्क्रान्तकान्तारो भवति तदा सार्थ जहाति।[११७]''

यह सञ्ज्ञा पाणिनि द्वारा अभिप्रेत अर्थ मे न तो पूर्वाचार्यो द्वारा व्यवहृत हुई है और न ही पश्चवर्ती वैय्याकरणो द्वारा। पूर्वाचार्यो द्वारा वृद्ध सञ्ज्ञा का प्रयोग गोत्र अर्थ मे किया गया है। यही नहीं, गोत्र अर्थ मे प्रयुक्त वृद्ध सञ्ज्ञा स्वय आचार्य पाणिनि ने भी ''वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेष ''[११८] सूत्र मे किया है। वृद्धि अर्थ का बोधक होने के कारण यह सञ्ज्ञा अन्वर्थक भी है। ऋक्तन्त्र में त्रिमात्रिक वर्ण के लिए वृद्ध सञ्ज्ञा का व्यवहार हुआ है।[११९] आचार्य देवनन्दी ने भी सूत्रकाराभिमत अर्थ में वृद्धसञ्ज्ञा का प्रयोग किया है।[१२०]

अष्टाध्यायी मे इस संज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	वृद्धाट्ठक्सौवीरेषु बहुलम्	४।१।१४८	ठक् प्रत्यय	भागवित्तिक·,
२	वृद्धेत्कोसलाजादाञ्यङ्	४।१।१७१	ञ्यङ् प्रत्यय	आम्बष्ठ्य , सौवीर्य कौन्त्य·।
३	वृद्धाच्छ	४।२।११४	छ प्रत्यय	शालीय·, तदीय ।
४.	वृद्धात् प्राचाम्	४।२।१२०	ठञ् प्रत्यय का नियमन	आढक, जम्बुक·
५	वृद्धादकेकान्तखोपधात्	४।२।१४१	छ प्रत्यय	ब्राह्मणकीय ।

प्रातिपादिक संज्ञा

सूत्रकार भगवान् पाणिनि ने प्रातिशाख्यो मे स्वीकृत 'नाम' पद के प्रकृति की प्रतिपादिक सज्ञा का सूत्रद्वय से विधान किया है। जिसमे प्रथम सूत्र है–''अर्थवदधातुरप्रत्यय· प्रादिपादिकम्''[१२१]। सूत्रार्थ है कि धातु भिन्न, प्रत्यय भिन्न और प्रत्ययान्त भिन्न, अर्थवान् शब्द स्वरूप की प्रादिपादिक सज्ञा होती है।[१२२] यहाँ पर 'अर्थवत्' पद का ग्रहण ''धन वन'' इत्यादि मे प्रत्येक वर्ण की प्रातिपदिक सज्ञा न हो, इसके वारण के निमित्त है। 'अधातु' पद का ग्रहण करने का प्रयोजन 'अहन्' इत्यादि स्थलो पर धातु के भी प्रातिपदिक सज्ञा मान लेने पर ''न लोप· प्रातिपदिकान्तस्य''[१२३] सूत्र द्वारा प्राप्त नकार के लोप के निषेध हेतु है। इसी प्रकार प्रत्ययभिन्न कहने से 'रामेषु' और 'करोषि' इत्यादि स्थलों मे 'सुप्' और 'सिप्' की प्रातिपादिक सज्ञा नही होती। अन्यथा प्रातिपादिक सज्ञा होकर औत्सर्गिक एकवचन आने पर पद सज्ञा होने पर ''सात्पदाद्योः''[१२४] सूत्र से षत्त्व का निषेध हो जाता। ''प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्वदन्तग्रहणम्''[१२५] परिभाषा के आधार पर प्रत्ययान्त भिन्न कहने से 'रामेषु' इस समुदाय की प्रादिपादिक सज्ञा नही हुई अन्यथा ''सुपोधातु-प्रातिपदिकयो [१२६]'' सूत्र से सुप् का लुक् हो जाता।

प्रातिपदिक सञ्ज्ञा विधायक पाणिनि का दूसरा सूत्र है–''कृत्तद्धित समासाश्च''[१२७]। इस सूत्र मे पूर्व सूत्र से 'प्रातिपादिकम्' की अनुवृत्ति आयेगी और वचन-विपरिणाम होकर बहुवचनान्त रूप होगा। 'कृच्च तद्धितश्च समासश्चेति कृतद्धितसमासाश्च'। सूत्रार्थ यह होगा–कृत् प्रत्ययान्त, तद्धितयुक्त और समास की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होती है।[१२८]

चूकि पूर्व सूत्र मे कृत्प्रत्ययान्त और तद्धितयुक्त की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा प्रत्यय और प्रत्ययान्त होने एक कारण नही प्राप्त थी। इसलिए आचार्य पाणिनि को इस सूत्र का निर्माण करना पड़ा। 'तद्धित' पद का अभिप्राय तद्धित युक्त लेने का यह है कि तद्धितान्त कहने पर 'अकच्[१२९] और बहुच्'[१३०] जैसे तद्धित प्रत्ययो का ग्रहण नही होता किन्तु तद्धित युक्त कहने पर इनका भी सङ्ग्रह हो जाता है। सूत्र मे समास पद का ग्रहण नियमार्थ है। क्योकि अर्थवान् होने से समास की पूर्व सूत्र से ही समास सञ्ज्ञा सिद्ध थी। इसके बावजूद इस सूत्र में समास ग्रहण करना व्यर्थ होने पर भी यह नियम स्थापित करता है कि जिस अर्थवान् समुदाय मे पूर्व तथा उत्तर, दोनो भाग स्वतन्त्र रूप से प्रयोग योग्य हो, तो उसकी यदि प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो तो केवल समास की ही हो, अन्य की नही।[१३१] इस नियम के कारण ही अर्थवान् होने पर भी वाक्य की प्रातिपादिक सञ्ज्ञा नही होती। अन्यथा वाक्यगत पदो के 'सुप्' विभक्तियो का लुक् प्राप्त होने लगता। महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि इस सूत्र के तीनों पदो को नियमार्थ मानते है। उनके अनुसार प्रत्ययान्त की यदि सञ्ज्ञा हो तो केवल कृत्तद्धितान्त की ही हो, अन्य किसी प्रत्ययान्त की नही। आचार्य पतञ्जलि के ही शब्दो मे–

''प्रत्ययान्तस्य चेत्सञ्ज्ञा भविष्यति तर्हि कृत्तद्धितान्तस्यैव नान्यस्य प्रत्ययान्तस्य। तेन काण्डे कुड्ये इत्यादौ ह्रस्वत्व नोपजायते। समुदायस्य चेद्भविष्यति तर्हि समासस्यैव न तु वाक्यस्य।।''[१३२]

प्रातिपदिकसञ्ज्ञा ''पद पद प्रतिपदम्, तत्र भवम् प्रातिपदिकम्'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर महासञ्ज्ञा और अन्वर्थक है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि आचार्य पाणिनि के पूर्व धातुओं की भी प्रातिपादिक संज्ञा होती थी। 'सर्वं वै नामधातुजम्''[१३३] के आधार पर प्रत्येक पद मे धातुए विद्यमान होती है। कहा भी गया है–यत् किञ्चिद् वाङ्मय लोके, सान्वय सम्प्रतीयते।। तत्सर्व धातुभिर्व्याप्त, शरीरमिव धातुभि ।।[१३४] किन्तु आचार्य पाणिनि ने स्वप्रतिपादित

प्रादिपादिक सज्ञा से धातु को पृथक् कर दिया है।

पाणिनि के पूर्ववर्ती और पश्चवर्ती वैय्याकरणो मे अधिकाश ने सुबन्त पद के लिए 'नाम' पद का प्रयोग किया है। पाणिनि द्वारा प्रतिपादित सज्ञा 'सुप्' प्रत्यय रहित 'अर्थवान् शब्द स्वरूप की है। यही 'नाम' और प्रातिपदिक का अन्तर है। इसके बावजूद शब्दशक्ति प्रकाशिका कार ने "यत्प्रातिपदिक प्रोक्त तन्नाम्नो नातिरिच्यते"[१३५] कहकर नाम और प्रातिपादिक मे अभेद स्थापित किया है। वस्तुत पूर्वाचार्यो ने सुबन्त पद के लिए ही नाम सज्ञा का प्रयोग किया था, परन्तु अर्वाचीन वैय्याकरणों ने अंवयव-अवयवी भाव से दोनो के मध्य अभेद मानकर प्रातिपदिक के स्थान पर ही नाम सज्ञा का प्रयोग करके अभेद स्थापित कर दिया।

पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हमे गोपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है।[१३६] ऋग्वेद प्रातिशाख्य[१३७], बृहद्देवता[१३८] वाजसनेयि प्रातिशाख्य[१३९], शौनकीयाचतुराध्यायिका[१४०] मे प्रातिपदिक के स्थान पर 'नाम' पद का प्रयोग हुआ है। काशकृत्स्न व्याकरण मे नाम[१४१] और लिङ्ग[१४२] का प्रयोग उपलब्ध होता है।[१४३] निरुक्त मे नाम पद का प्रयोग "द्रव्य है प्रधान जिनमे" के अर्थ मे हुआ है। 'फिट्' शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य नागेश भट्ट के अनुसार फिट् सूत्रो मे शान्तनवाचार्य ने प्रातिपदिक शब्द के लिये 'फिट्' प्रातिपदिक की पूर्वाचार्य व्यवहृत सज्ञा है।[१४४] नाट्य शास्त्र मे प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[१४५] अग्निपुराण[१४६] और नारद पुराण[१४७] मे भी प्रातिपदिक सज्ञा का प्रयोग उपलब्ध होता है।

पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरणो मे कातन्त्र व्याकरण मे आचार्य शर्ववर्मा ने धातु और विभक्ति भिन्न अर्थवान् शब्द की 'लिङ्ग' सज्ञा का विधान किया है।[१४८] जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार धातुरहित अर्थवान् शब्द स्वरूप तथा कृदन्त तद्धितान्त एव समास 'मृत् सज्ञक' होते है।[१४९] भोजदेव ने धातुभिन्न प्रत्ययभिन्न, प्रत्ययान्तभिन्न, कृदन्त और तद्धितान्त, ष्फङ्, याप्, ति, और ऊङ् है अन्त मे जिनके तथा समास, अनुकरण एव निपात की प्रातिपदिक सज्ञा मानी है।[१५०] आचार्य हेमचन्द के अनुसार धातु, विभक्ति और वाक्य से भिन्न अर्थवान् शब्द नामसज्ञक होते है।[१५१] आचार्य मलयगिरि ने धातु विभक्ति रहित अर्थवान् शब्द की 'नाम' सज्ञा स्वीकार की है।[१५२] आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने सारस्वत व्याकरण

मे ''अविभक्तिनाम''[१५३] सूत्र द्वारा 'नाम' सज्ञा का प्रतिपादन किया है। मुग्धबोधकार ने धातु विभक्ति और पद भिन्न को 'लि' सज्ञक बताया है।[१५४] सुपद्म व्याकरण मे धातु-भिन्न और विभक्ति भिन्न अर्थवान् को प्रातिपदिक कहा गया है।[१५५] प्रयोगरत्नमालाकार आचार्य पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने प्रादिपदिक के स्थान पर 'लिङ्ग' सज्ञा का विधान किया है।[१५६] किन्तु सज्ञी का स्वरूप सुपद्म व्याकरण के समान ही है। नाम सज्ञा का भी प्रयोग आचार्य पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने किया है।[१५७] हरिनामामृतव्याकरण मे भी धातु भिन्न और विष्णुभक्ति (विभक्ति) भिन्न, अर्थवान् शब्द की नाम सज्ञा का प्रतिपादन किया गया है।[१५८]

प्रातिपदिक सज्ञा के प्रयोग-क्षेत्र अधोलिखित है–

क्र०सं०	सू०	अ०पा०सू० सं०	कार्य	उदाहरण
१	ह्रस्वो नपुसके-प्रातिपदिकस्य	१।२।४७	ह्रस्व	अधिगोपम्।
२	न लोप प्रातिपदिकान्तस्य	८।२।७	नकार का लोप	राजभ्याम्, राजभि ।
३.	स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम् भिस्ङेभ्याभ्यस्ङ्सिभ्या भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्।	४।१।२	स्वादि प्रत्यय का विधान	रामः इत्यादि
४	प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च	८।४।११	न का णत्व	माषवापिणौ।

धातु संज्ञा

प्रातिशाख्यो मे स्वीकृत आख्यात पद के प्रकृति भूत धातु के विवेचन के निमित्त आचार्य पाणिनि ने सूत्रद्वय को उपन्यस्त किया है। जिसमे प्रथम सूत्र है– ''भूवादयो धातव ''[१५९]। सूत्रार्थ यह है कि क्रियावाचक 'भू' आदि की धातु सज्ञा हो।[१६०] यह सज्ञा गणपाठ पर आधृत है। भ्वादि गण है, जिसकी पहली धातु 'भू' है। क्रियावाची कहने से पृथ्वीवाचक 'भू' आदि शब्दो की धातु सज्ञा नही होती। इसी प्रकार सर्वनाम 'या', विकल्पवाची 'वा' और स्वर्गवाची 'दिव्' की भी क्रियावाची न होने

के कारण धातु सदृश होने पर भी धातु सञ्ज्ञा नहीं होती। न्यासकार के ही शब्दों में–

ते च क्रियावचनानामेव धातुसञ्ज्ञा विहितवन्तस्तदिहापि पूर्वाचार्यसञ्ज्ञाश्रयणात् क्रियावचनानामेव धातुसञ्ज्ञा विधीयते। तेन या, वा दिव्, इत्येवमादीना धातुसमानशब्दानामक्रियावचनान्नभवतीति भाव.।[१६१]

बालमनोरमाकार 'भूवादयो' की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते है–''भूश्च, वाश्च, इति भूवौ। आदिश्च, आदिश्च आदी। प्रथम आदिशब्द प्रभृतिवचन , द्वितीयस्तु प्रकारवचन । भूवौ आदी येषा ते भूवादय । भूप्रभृतय· वा सदृशाश्च ये, ते धातुसञ्ज्ञका· इत्यर्थ ।[१६२] इसका अभिप्राय है कि 'भू प्रभृति और वा सदृश की धातु सञ्ज्ञा होती है। वा धातु सादृश्य क्रियावाचकत्वेन है। भू आदि के ग्रहण के कारण वर्जन क्रियावाची 'हिरुक्' अव्यय की धातु सञ्ज्ञा नहीं होती।

प्रकृतिप्रत्ययसम्पृक्त सनाद्यन्त शब्दो की धातु सञ्ज्ञा का विधान करते हुए आचार्य पाणिनि दूसरा सूत्र उपस्थित करते है–''सनाद्यन्ता धातव ।''[१६३] अर्थात् सनाद्यन्त समुदाय की धातु सञ्ज्ञा होती है।[१६४] 'सनाद्यन्त' का तात्पर्य है कि सन् आदि अन्त मे है जिसके। सनादि के अन्तर्गत द्वादश प्रत्ययों का परिगणन किया गया है–

सन्क्यच्काम्यच्क्यङ्क्यषोऽथाचारक्विब्णिज्यङौ तथा।
यगाय ईयङ् णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः।।[१६५]

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि सूत्रकार ने 'भूवादयो धातवः'[१६६] के तत्काल बाद 'सनाद्यन्ताश्च' सूत्र क्यो नही पढ़ा? जबकि ऐसा करने में 'धातव ' की दो बार आवृत्ति न होने से लाघव ही होता। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए न्यासकार ने कहा कि ऐसा करने पर सनादि कहाँ तक है? इसकी कोई सीमा निर्धारित न होती। आचार्यपाद को णिङ् पर्यन्त ही सनादित्व अभीष्ट था, इसलिये अलग-अलग सूत्रो का विन्यास सूत्रकार ने किया। न्यासकार के ही शब्दो में–

'अथ भूवादयो धातव इत्यस्याऽनन्तर सनाद्यन्ताश्चेति कस्मान्नोक्तम्? एव हि धातुग्रहण द्विर्न कर्तव्य भवति। नैव शक्यम्। एव हि क्रियमाणे सनादीनामियतापरिच्छेदो न स्यात्। इह तु क्रियमाणे णिङ् पर्यन्ताना ग्रहण विज्ञायते।''[१६७]

धातु सञ्ज्ञा अनेकार्थक होने के कारण अन्वर्थक है। निरुक्त मे भी कहा गया है–

''धातुर्दधातेरिति।''[१६८] अर्थात् ''विविधान् अर्थान् दधाति इति धातु ।'' √धा धातु से उणादि 'स्तुन्' प्रत्यय होकर धातु पद निष्पन्न होता है। इसीलिए धातु को अनेकार्थक कहा गया है। जैसा कि विद्वज्जनो मे मान्य सिद्धान्त है–

''क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थ· प्रदर्शित ।

प्रयोगतोऽनुसर्तव्या अनेकार्था हि धातव·।।[१६९]

प्रदीपकार आचार्य कैय्यट ने भी कहा है–''जायमानमर्थ ये दधति ते धातव ।''[१७०] इस प्रकार हम देखते है कि धातु सज्ञा अन्वर्थक है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय में पारिभाषिक संज्ञा के रूप मे धातु शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हने गोपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है।[१७१] निरुक्त[१७२], बृहद्देवता[१७३], ऋक्तन्त्र[१७४], अथर्ववेद प्रातिशाख्य[१७५], काशकृत्स्न व्याकरण[१७६] और नाट्यशास्त्र[१७७] में भी धातु सज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है। अग्निपुराण[१७८] मे क्रियावाची 'भू' आदि की और नारदपुराण[१७९] मे क्रियावाची 'भू' आदि और सनाद्यन्त की धातु सज्ञा का प्रतिपादन किया गया है।

पाणिनि से अर्वाचीन कातन्त्र व्याकरण[१८०] मे अष्टाध्यायी के समान ही धातु संज्ञा का विवेचन किया गया है। आचार्य चन्द्रगोमिन्[१८१] ने विना परिभाषा के ही धातु सज्ञा का प्रयोग किया है। जैनेन्द्र व्याकरण मे आचार्य देवमन्दी ने धातु के स्थान पर 'धु' सज्ञा का विधान किया है।[१८२] किन्तु सज्ञी का स्वरूप आचार्य पाणिनि के समान ही है।

आचार्य शाकटायन (अभिनव) ने क्रियावाची भू आदि को धातु सज्ञक कहा है।[१८३] भोजदेव ने तीन सूत्रो द्वारा धातु सज्ञा का विधान किया है।[१८४] आचार्य हेमचन्द[१८५] और आचार्य मलयगिरि[१८६] ने शाकटायन व्याकरण के समान ही धातु संज्ञा का निरूपण किया है। सारस्वतव्याकरण मे ''भ्वादि·'' सूत्र द्वारा धातु सज्ञा का विधान किया गया है।[१८७] मुग्धबोध व्याकरण मे जैनेन्द्र व्याकरण के समान क्रियावाची 'भू' आदि की 'धु' सज्ञा बतायी गयी है।[१८८] सुपद्म-व्याकरण मे धातु सज्ञा का प्रतिपादन अष्टाध्यायी के समान है।[१८९] प्रयोग रत्नमाला[१९०] मे क्रियावाची 'एध्' आदि की तथा हरिनामामृत व्याकरण[१९१] मे 'भू' एव सन्नन्तादि की धातु संज्ञा का प्रतिपादन किया गया है।

धातु सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्नवत् है–

क्र०सं० सू०	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१. धातो कर्मण· समान कर्तृकादिच्छायां वा	३।१।७	सन् प्रत्यय	विपठिषति, जिगमिषति
२ धातोरेकाचो हलादे· क्रियासमभिहारे यङ्	३।१।२२	यङ् प्रत्यय	बोभूयते, देदीप्यते।
३ अचो यत्	३।१।९७	यत् प्रत्यय	चेयम्, जेयम्
४. तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस् ताताझथासाथाध्वमिड्वहि महिङ्	३।४।७८	तिप् आदि प्रत्यय की विधि	भवति इत्यादि
५. धातो ।	६।१।१६२	अन्त उदात्त	गोपायेत नः

नदी संज्ञा

सूत्रकार दाक्षीपुत्र महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे नदी सज्ञा का विधान तीन सूत्रों द्वारा किया है। जिनमे प्रथम सूत्र है– ''यूस्त्र्याख्यौ नदी''।[१६२] प्रकृत सूत्र में 'नदी' सज्ञा है, और 'यूस्त्र्याख्यौ' सज्ञी। 'ईश्च ऊश्च इति यू इतरेतर द्वन्द्व। यहाँ ''सुपासुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल·[१६३]'' सूत्र से प्रथमा द्विवचन का लुक् होने के कारण यह अविभक्तिक निर्देश है। 'यू' 'स्त्र्याख्यौ' का विशेषणवाची शब्द है, अत तदन्तविधि भी है। स्त्र्याख्यौ की व्युत्पत्ति है–स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ। इस प्रकार सूत्रार्थ हुआ-स्त्री लिङ्ग की आख्या रखने वाले (निरूपण करने वाले) दीर्घ ईकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त शब्द नदी सज्ञक होते है।[१६४] जैसे–हे कुमारि! यहाँ 'कुमारी' के नदी संज्ञक होने के कारण दीर्घ ईकार के स्थान पर ह्रस्वादेश 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व [१६५]'' सूत्र द्वारा हुआ है। नदी सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है ''वामि''–। सूत्र के अर्थ को पूरा करने के लिए सम्पूर्ण ''यूस्त्र्याख्यौ नदी'' तथा ''नेयङुवङ्स्थानावस्त्री''[१६७] सूत्रसे ''इयङुवङ्स्थानौ'' एवम् 'अस्त्री' पद की अनुवृत्ति करनी होगी।

तत्पश्चात् सूत्रार्थ निष्पन्न होगा–'आम्' विभक्ति के परे रहते, 'स्त्री' शब्द को छोड़कर, 'इयड्डुवङ्' स्थानी, नित्यस्त्रीलिङ्गी दीर्घ ईकार ऊकार विकल्प से नदी सज्ञक होते है।[१९८] जैसे -'श्री' शब्दसेषष्ठी बहुवचन मे नदी सज्ञा के विकल्प से होने के कारण दो रूप–'श्रीणाम्' और 'श्रियाम्' बनते है। नदी सज्ञा का विधान करने वाला तीसरा सूत्र है–''ङिति ह्रस्वश्च''[१९९]। प्रकृत सूत्र मे दो वाक्य है– पहले वाक्य के निर्देशन मे सम्पूर्ण ''यूस्त्र्याख्यौ नदी'' सूत्र, ''नेयड्डुवङ्स्थानावस्त्री'' सूत्र से ''इयड्डुवङ्स्थानौ'' एव 'अस्त्री' पद तथा 'वामि' सूत्र से ''वा'' पद की अनुवृत्ति की जाती है। विशेषणवाची पदो की परस्पर योजना से प्रथम वाक्य का अर्थ होगा–''स्त्री शब्द के अतिरिक्त इयङ्, उवङ् स्थानिक नित्य स्त्रीलिङ्गी दीर्घ ईकार और ऊकार की ङे, ङसि, ङस् और ङि प्रत्ययो के परे रहने पर विकल्प से नदी सज्ञा होती है।[२००] द्वितीय वाक्ययोजना मे भी 'यूस्त्र्याख्यौ', 'इयड्डुवङ्स्थानौ' तथा 'वा' पद की अनुवृत्ति होगी किन्तु यहॉ पर पदो का अर्थ कुछ भिन्न होकर सूत्रार्थ निष्पन्न होगा–'इयङ् उवङ् स्थानिक स्त्रीलिङ्गवाची ह्रस्व इकारान्त एव उकारान्त शब्द ङित् विभक्तियो मे विकल्प से नदी सज्ञक होते है।[२०१] जैसे–'मति' शब्द से 'ङे' के परे रहने पर 'मत्यै' और मतये दोनो रूप विकल्प से नदी सज्ञा होने के कारण होते है।

'यूस्त्र्याख्यौ नदी' सूत्रस्थ 'स्त्र्याख्यौ पद को अभिलक्षित करके नित्यस्त्रीलिङ्ग के सम्बन्ध मे दो तरह की अवधारणाए वैय्याकरणो मे प्रचलित हैं। इनमे प्रथम अवधारणा के अभिव्यञ्जक वृत्तिकार हरदत्त आदि है। इनके अनुसार वे ही शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग माने जाते है, जो दूसरे पदो का सान्निध्य न होने पर स्वय स्त्रीरूप का बोध कराते है।[२०२] दूसरी अवधारणा के प्रतिपादक आचार्य कैय्यट है तदनुसार नित्य स्त्रीलिङ्ग वाचक शब्दो मे दूसरे लिङ्ग की वाचकता (बोधकता) कदापि नहीं होती।[२०३] उदाहरणार्थ 'प्रधी' शब्द हरदत्त के अनुसार तो नित्य स्त्रीलिङ्ग है किन्तु कैय्यट के अनुसार नित्य स्त्रीलिङ्ग नहीं है। इसलिए कैय्यट के मत मे 'प्रधी' शब्द के रूप पुल्लिङ्ग के समान होगे।

नदी सज्ञा अन्वर्थक नही है। तभी तो किसी कवि ने पाणिनि पर आक्षेप करते हुए कहा है–

''पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना वा स्थली नदी।

प्रभु स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत्।।

नदी सज्ञा पूर्वाचार्यो द्वारा प्रयुक्त नहीं है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कही नदी सज्ञा और कही अन्य नामो से इसका प्रयोग उपलब्ध होता है। जैसे–कातन्त्र व्याकरण[२०४] और हरिनामामृत व्याकरण[२०५] मे तो नदी सज्ञा का विधान किया गया है किन्तु जैनेन्द्र व्याकरण[२०६] मे 'मु' सज्ञा तथा मुग्धबोध व्याकरण मे 'दी' सज्ञा का विधान नदी सज्ञा के अर्थ मे ही किया गया है।[२०७] अष्टाध्यायी मे नदी सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्नवत् है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	नदी बन्धुनि	६।२।१०६	अन्तोदात्त	गार्गी बन्धु
२.	नद्या शेषस्यान्यतरस्याम्	६।३।४४	ह्रस्व	ब्रह्मबन्धुतरा
३	अम्बार्थद्योर्ह्रस्व·	७।३।१०३	ह्रस्व	हे बहुश्रेयसि
४.	ह्रस्वनद्यापो नुट्	७।१।५४	नुडागम	स्त्रीणाम्,
५.	आण्नद्या	७।३।११२	आट् का आगम	बहुश्रेयस्यै, बहुश्रेयस्याः
६.	नद्यृतश्च	५।४।१५३	कप् प्रत्यय	कल्याणपञ्चमीक·पक्ष

घि संज्ञा

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'घि' सज्ञा का विधान तीन सूत्रो द्वारा किया है। जिसमे प्रमुख सूत्र है–'शेषोघ्यसखि'।[२०८] प्रकृत सूत्र में 'यूस्त्र्याख्यौ नदी'[२०९] सूत्र से 'यू' का अनुवर्तन और 'ङिति ह्रस्वश्च'[२१०] सूत्र से 'ह्रस्व·' का अनुवर्तन होगा। जो 'यू' के प्रत्येक अवयव से सम्बद्ध होगा। 'यू' का अर्थ है ईश्च उश्च इति यू। अर्थात् इवर्णश्च उवर्णश्च। सूत्र में आये हुए शेष शब्द का अर्थ है–नदी सज्ञा से भिन्न। इस प्रकार सूत्रार्थ है–'सखि' शब्द को छोड़कर नदी सज्ञा से भिन्न ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त शब्द 'घि' सज्ञक होते है।[२११] सूत्र मे 'शेष' शब्द के ग्रहण के कारण ह्रस्व इकारान्त 'मति' शब्द की 'घि' सज्ञा नही होती। ह्रस्व शब्द के कारण दीर्घ ईकारान्त 'वातप्रमी' आदि शब्दो की तथा 'यू' के कारण ऋकारान्त मातृ शब्द की घि संज्ञा नही होती। यद्यपि 'आकडारात् एका सज्ञा[२१२] की व्यवस्था के कारण नदी सज्ञा के विषय को छोडकर ही घि सज्ञा की प्रवृत्ति होगी तो भी प्रकृत सूत्र

मे शेष पद का सन्निवेश कोई प्रयोजन न होने पर भी स्पष्ट प्रतीत के लिये किया गया है। 'घि सञ्ज्ञा' विधायक दूसरा सूत्र है–'पति समास एव'[२१३]। अर्थात् 'पति' शब्द को समास मे ही 'घि' सञ्ज्ञा होती है।[२१४] जैसे–'भूपतिना'। समास के अभाव मे 'पत्या' रूप ही बनेगा। 'घि' सञ्ज्ञा का विधान करने वाला तीसरा सूत्र है–''षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा''।[२१५] अर्थात् षष्ठ्यन्त से युक्त 'पति' शब्द वेद मे 'घि' सञ्ज्ञक विकल्प से होता है।[२१६] जैसे–क्षेत्रेस्य पतिनो वयम्।

यह सञ्ज्ञा आचार्य पार्णिनि की स्वकल्पना है, यह अन्वर्थक भी नही है। केवल लाघव की दृष्टि से सूत्रकार ने इसका प्रयोग किया है। यह सञ्ज्ञा न तो प्रातिशाख्यादि ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है और न ही अर्वाचीन वैय्याकरणो ने इसका प्रयोग किया है।

अष्टाध्यायी मे इस सञ्ज्ञा के प्रयोग-स्थल अधोलिखित है–

क्र०सं० सूत्र	सूत्र संख्या	कार्य	उदाहरण
१ द्वन्द्वे घि	२।२।३२	पूर्वनिपात	हरिहरौ
२ घेर्ङिति	७।३।१११	गुण	हरये
३. अच्च घे	७।३।११९	इकार के स्थान पर अकार, ङि के स्थान पर औत्	हरौ

अङ्ग संज्ञा

अष्टाध्यायी मे महर्षि पाणिनि के अङ्ग संज्ञा का विधान ''यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्''[२१७] सूत्र द्वारा किया है, अर्थात् जो प्रत्यय जिससे किया जाय उस प्रत्यय के परे रहते 'तदादि' शब्दस्वरूप की अङ्ग सञ्ज्ञा होती है।[२१८] सूत्र में 'अङ्ग' सञ्ज्ञा है और – ''यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि'' सञ्ज्ञी है। सञ्ज्ञी होने मे निमित्त है–'प्रत्यये'। सूत्र मे तदादि पद का ग्रहण 'भवामि' 'भविष्यामि' इत्यादि स्थलो पर विकिरण विशिष्ट के अङ्ग सञ्ज्ञार्थ किया गया है। 'विधि' पद का ग्रहण 'स्त्री इयती' इत्यादि स्थलो पर प्रत्यय रूप 'इयती' के परे रहते स्त्री शब्द की अङ्ग सञ्ज्ञा न हो, इसलिए किया गया है। यहा 'इयती' शब्द प्रत्यात्मक भले है किन्तु उसका विधान 'स्त्री' शब्द से नहीं किया गया है। इसी प्रकार

'प्रत्यये' पद न रखने पर भी सूत्र के अर्थ मे कोई अन्तर नही आता, क्योकि 'प्रत्यय विधि·' पद मे 'प्रत्यय' पद रहने से उसकी अवधि प्रत्यय ही रहती है। तो भी प्रत्यय पद की उपयोगिता प्रत्यय मात्र की अवधि तक अपने को सीमित रखने मे सार्थक होती है। इसके फलस्वरूप प्रकृति प्रत्ययान्त समुदाय एव उससे भी अधिक समुदाय की अङ्ग सज्ञा नही होती। यही नही, प्रत्यय न ग्रहण करने पर 'देवदत्त ओदनम् अपाक्षीत्' वाक्य मे देवदत्त आदि शब्दो के उत्तरवर्ती 'सुप् को निमित्त मानकर लुङ्लकार पर्यन्त (अपाक्षीत् तक) अङ्ग सज्ञा की प्राप्ति होने से लुङ् को मानकर होने वाला अट्आगम देवदत्त आदि शब्दो के पूर्व होने लगेगा। यहा पर ध्यातव्य है कि यदि प्रकृति और प्रत्यय के मध्य विकिरण आदि न हुए हो तो व्यपदेशिवद् भाव से तदादि शब्दस्वरूप केवल प्रकृति ही मानी जायेगी।

'अङ्ग्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेत्यङ्गम्' अथवा 'अङ्गति अधिकरोति प्रत्यय यत्तदङ्गम्' व्युत्पत्ति के आधार पर अङ्ग सज्ञा अन्वर्थक है। आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा यह सज्ञा व्यवहृत नही है। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने केवल शास्त्रीय कार्यो के निर्वाहार्थ 'अङ्ग'सज्ञा का प्रतिपादन किया है। अर्वाचीन वैय्याकरणो ने भी इस सज्ञा का विधान इसी रूप मे प्राय· नही ही किया है।

अष्टाध्यायी मे अङ्गसंज्ञा का प्रयोग प्रदेश अधिकारसूत्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है–

क्र०सं०	सूत्र	संख्या	कार्य	उदाहरण
१	अङ्गस्य	६।४।१	अधिकारसूत्र	

भ संज्ञा

अष्टाध्यायी मे सूत्रकार ने तीन सूत्रो से 'भसज्ञा' का विधान किया है– जिसमे प्रमुख सूत्र है। 'यचिभम्''[२१९]। सूत्र मे 'यचि' का अभिप्राय है - य्च अच्च इति यच्, (समाहार द्वन्द्व) तस्मिन् यचि। सूत्र मे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने''[२२०] सूत्र का अनुवर्तन होगा और यचि उसका विशेषण। ''यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे''[२२१] इस परिभाषा के बल पर यचि का अभिप्राय होगा - यकारादि और अजादि। इस प्रकार सूत्रार्थ निष्पन्न होगा - 'सु' से आरम्भकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थान से भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्ययो के परे रहने पर पूर्व की 'भ' सज्ञा होगी।[२२२] यह संज्ञा पद सज्ञा की बाधक है किन्तु 'आकडारात् एका सज्ञा'[२२३] के आधार पर, और निरवकाश होने से 'भ' सज्ञा पद सज्ञा की

बाधक हो जाती है। 'भ' सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है– ''तसौ मत्वर्थे''।[२२४] अर्थात् मत्वर्थक प्रत्यय परे रहते तकारान्त और सकारान्त की भ सज्ञा होती है।[२२५] जैसे - 'विदुष्मान्' मे विद्वस्+मत् की स्थिति मे 'भ' सज्ञा होने के कारण ही दकारोत्तरवर्ता वकार के स्थान पर 'वसो सम्प्रसारण'[२२६] सूत्र से सम्प्रसारण 'उ' हुआ है। 'भ सज्ञा' करने वाला तीसरा सूत्र विकल्प से 'भसज्ञा' का विधान करता है, वह भी वेद मे। सूत्र है– ''अयस्मयादीनि छन्दसि[२२७]''। अर्थात् 'अयस्मयादि' गण मे 'भ सज्ञा विकल्प से होती है।[२२८] इसीलिए 'अयस्मयम् वर्म' जैसे रूप सिद्ध होते है। यहा पर 'भ' सज्ञा के कारण ही सकार को 'रुत्व' 'उत्व' नही हुआ। लोक मे तो 'अयोमयवर्म' ही सिद्ध होगा। वस्तुतः वेद मे कहीं पद सज्ञा के कारण कार्य होता है और कही भसज्ञा के कारण कार्य नही होता। जैसे– स सुष्टुभा स क्वता गणेन। यहा पद सज्ञा के कारण कुत्व हुआ है, किन्तु भ सज्ञा के कारण जशत्व नहीं हुआ। यहा पर जश्त्व के बाध के लिए ही भ सज्ञा की जाती है

जैसा कि कैय्यट का मत है–

''जश्त्वविधानार्थ पदसज्ञाबाधनाय भसज्ञाप्रवर्तनात्तन्निबन्धनकार्याभावात्।''[२२९]

यद्यपि एक सज्ञा अधिकार मे सज्ञाद्वय का विधान नहीं होना चाहिए किन्तु पदसाधुत्व के विषय मे उभय सज्ञा विधान दोष नही है। इस सन्दर्भ मे न्यासकार का यह कथन दृष्टव्य है– 'यद्यत्र भसज्ञा विधीयेत तदा पदसज्ञा न स्यात्, अत्र यदि पदसज्ञा विधीयेत तदाऽत्र भसज्ञा न स्यात्। तदा भपदसंज्ञयो समावेशो न स्यात् --- एकसज्ञाधिकारात्। साधुत्वविधाने त्वेष दोषो न भवति तद्धि केषांचिद् भसज्ञा विधीयते पदसंज्ञकानाम्, केषाचिदुभयसज्ञकानाम्। तस्मात् साधुत्वमेव विधातु युक्तम्।[२३०]''।

भसज्ञा अन्वर्थक नही है और न ही पूर्वाचार्यो द्वारा प्रणीत है। केवल शास्त्रीय कार्यनिर्वाहार्थ इस सज्ञा की कल्पना आचार्य पाणिनि ने की। जैसा कि पदमञ्जरीकार का कथन है–

''यास्त्वेता· स्वेच्छया संज्ञा· क्रियन्ते टिघुभादय ।

हस्तचेष्टा यथालोके तथा सङ्केतिता इमाः।।''[२३]

अर्वाचीन वैय्याकरणों मे भी इस सज्ञा का यद्यपि अभाव ही मिलता है, तो भी आचार्य देवनन्दी ने भ सज्ञा का प्रयोग ''यचिभ.'' ''मत्वर्थे स्तौ''[२३२] सूत्रो द्वारा किया है।

अष्टाध्यायी मे इम सज्ञा का प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं.	सूत्र	सू.सं.	कार्य	उदाहरण
१	पाद पत्	६।४।१३०	पदादेश	सुपद
२	उद ईत्	६।४।१३६	ईत्व	उदीचा
३	नस्तद्धिते	६।४।१४४	टि का लोप	उपराजम्
४.	यस्येति च	६।४।१४८	अवर्ण और इवर्ण का लोप,	दाक्षी, कुमारी, दाक्षि.।
५	भस्य टेर्लोप	७।१।८८	टि का लोप	पथ
६	टे	६।४।१५५	टि का लोप	पार्थवम् मार्दवम् प्रथिमा, प्रदिमा
७	टे	६।४।१४३	टिका लोप	कतरत् कतरद्

निपात संज्ञा

प्रातिशाख्यो मे स्वीकृत नामादिचतुर्विध पद समूह मे अन्तिम निपात की सज्ञा का विधान आचार्य पाणिनि ने अधिकार सूत्र द्वारा किया है क्योंकि निपातो की सख्या न केवल अधिक है, अपितु उनके शब्दार्थ मे भी भेद विद्यमान है। निपातविषयक अधिकार सूत्र है –

''प्राग्रीश्वरान्निपाता.''।[२३३] इसका अभिप्राय है कि यहा से लेकर ''अधिरीश्वरे''[२३४] सूत्र पर्यन्त जिनका विधान है, वे निपातसज्ञक होगे।[२३५] सूत्र मे रेफ युक्त ईश्वर शब्द का पाठ इसलिये किया गया है कि निपात संज्ञा की अवधि ''ईश्वरे तोसुन्कसुनौ''[२३६] सूत्र पर्यन्त न हो जाय। इस पर प्रश्न उठता है कि जैसे लोक मे 'ओदकान्तात् प्रियम्प्राप्यमनुव्रजेद्'' के आधार पर अव्यवहित उदकान्त भाग ही गृहीत होता है। वैसे ही ''ईश्वरे'' कहने पर ''अधिरीश्वरे'' से सम्बद्ध ईश्वर का ही ग्रहण हो जायेगा। ऐसी स्थिति मे रेफ्युक्त पाठ की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का महाभाष्यकार आचार्यपतञ्जलि ने स्वय उत्तर दिया है। तद्नुसार लोक में यह देखा जाता है कि जैसे स्नेहातिशय के कारण दूसरे तीसरे उदकान्त भाग को प्राप्त करके प्रतिनिवृत्त होते है, उसी प्रकार यहा पर भी ''अधिरीश्वरे'' का अतिक्रमण

सम्भव था। इसलिए रेफाधिक पाठ करना सूत्रकार के लिए आवश्यक हो गया। आचार्य पतञ्जलि के ही शब्दो मे-

''दृश्यते हि स्नेहातिशयाल्लोकोऽय द्वितीय तृतीयमप्युदकान्तमनु-व्रज्य निवर्तते इति लोकेनैवोक्तन्यायातिक्रमणस्य दर्शनात् सूत्रे रेफाऽधिक पाठो न्याय्य एव।''[२३७]

सूत्र मे 'प्राक्' पद का ग्रहण करने से 'अधिरीश्वरे' मे पूर्व जिनका भी विधान किया गया है, उसकी निपात सज्ञा होती है और निपात होने के साथ-साथ उपसर्गादि सज्ञा भी हो जाती है। यदि प्राक् शब्द का ग्रहण न किया जाय तो सभी की निपात संज्ञा ही होगी, उपसर्गादिसज्ञा सम्भव नहीं है। महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि के ही शब्दो मे-

''अक्रियमाणे हि प्राग्वचनेऽनवकाशा गत्युपसर्गकर्मप्रवचनीयसज्ञा निपातसज्ञा बाधेरन्, ता मा बाधिषतेति प्राग्वचन क्रियते।''[२३८]

इस अधिकार सूत्र के अतिरिक्त दो अन्य सूत्रो से भी आचार्य पाणिनि ने निपात संज्ञा का विधान किया है। जिसमें पहला सूत्र है- ''चादयोऽसत्त्वे''।[२३९] इस सूत्र मे ''निपाता '' का अधिकार होगा। ''च आदि· येषा ते चादय '' व्युत्पत्ति के आधार पर चादिगण का ग्रहण होगा। 'न सत्त्वम् इति असत्त्वम्, तस्मिन् असत्त्वे। यहा सत्त्व अर्थ द्रव्य का वाची है। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा - अद्रव्यवाची चादि गण पठित शब्दो की निपात सज्ञा होती है।[२४०] सूत्र में 'असत्त्व' के ग्रहण से तोतावाची शुक और छागादि वाची 'पशु' शब्द की चादिगण में पाठ होने के बावजूद निपात सज्ञा नही होगी। चादिगण आकृतिगण है।

आचार्य पाणिनि अद्रव्यार्थक प्रादि की भी निपात सज्ञा करते हुए कहते है- ''प्रादय·''।[२४१] इस सूत्र मे 'असत्त्वे' का अनुवर्तन होगा और 'निपाता ' का अधिकार। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा - 'अद्रव्यार्थक प्रादिगण पठित शब्दो की निपात सज्ञा होती है।[२४२] सूत्र मे 'असत्त्वे' के अनुवर्तन के कारण सेनावाची 'परा' और पक्षीवाची 'वि' की निपात संज्ञा प्रादिगण में पठित होने पर भी नहीं होती।

पृथक् प्रयोगार्ह पद होता है, इस सिद्धान्त के अनुरोध से पृथक् प्रयोग योग्य न होने के कारण चादिगण पठित शब्दो का पदत्व भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः नाम और आख्यात के साथ प्रयुक्त होने पर ही चादि गण पठित शब्दों की अर्थवत्ता स्वीकार की जाती है, न कि स्वतन्त्र रूप से। इसीलिए ऋग्वेद

प्रातिशाख्य मे ''निपाता· पादपूरणा ''[२४३] कहा गया है। वैय्याकरणो के मध्य मे प्रारम्भ से ही निपातो को द्योतकत्व और वाचकत्व के विषय मे पर्याप्त विवाद रहा है। आचार्य भर्तृहरि ने कुछ निपातो की स्वतन्त्र रूप से अर्थवत्ता स्वीकार की है। उन्ही के शब्दो में–

''निपाता द्योतका केचिद्पृथगर्थाभिधायिन ।।

आगमा इव केऽपि स्यु· सम्भूयार्थस्य वाचका ।।[२४४]

आचार्य नागेश भट्ट ने भी निपातो की वाचकता पूर्वपक्ष[२४५] के रूप मे स्वीकार की है, किन्तु सिद्धान्तपक्ष के रूप मे आचार्य नागेश भट्ट ने स्वय निपातो की द्योतकता को स्वीकार किया है।

''अनुभूयते सुखम्, साक्षात्क्रियते गुरुरित्यादौ निपातानां द्योतकत्वेनानुभवसाक्षात्कारफलयोर्धात्वर्थेन सकर्मकत्वम्। एतेन निपातस्यैव तदर्थकत्वमित्यपास्तम्।''[२४६]

आचार्य भर्तृहरि ने भी ''चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवला ''[२४७] कहकर द्योतक होने के कारण निपातो की स्वतन्त्र प्रयोगानर्हता को स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया है। आचार्य शौनक ने निपातो की सख्या के विषय मे स्पष्ट रूप से कहा है कि– चादिगण के आकृतिगण होने के कारण निपातो का सख्या निर्धारण असम्भव है।[२४८] निपात सज्ञा ''निपातयति स्वसमभिव्याहृतम् (क्वचित् स्वार्थाविरोधेन) पदमर्थान्तरे इति निपात·'' व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है। इसीलिए निपातो का अनेक अर्थों में प्रयोग देखा जाता है। जैसे - निपातो के अनेक अर्थ हैं वैसे ही अनेक संज्ञाए भी होती हैं। उदाहरणार्थ – 'एकाच्' निपात की प्रगृह्य सज्ञा, क्रियायोग में उपसर्ग और अर्थ विशेष मे कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है।

प्राचीन सस्कृत वाङ्मय में पारिभाषिक संज्ञा के रूप मे निपात शब्द का प्रयोग हमे सर्वप्रथम गोपथ ब्राह्मण मे प्राप्त होता है।[२४९] निरुक्त के अनुसार जो अनेक प्रकार के अर्थो मे निपतन करते है उन्हें निपात कहते है[२५०]। ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे नाम आख्यात तथा उपसर्ग से अन्य को निपात कहा गया है।[२५१] वाजसनेयिप्रातिशाख्य मे निपात का उल्लेख तो हुआ है किन्तु इसकी परिभाषा नही दी गयी।[२५२] शौनकीयाचतुराध्यायिका[२५३] और अथर्ववेद प्रातिशाख्य[२५४] मे विना परिभाषा के ही निपात सज्ञा प्रयुक्त है। नाट्यशास्त्र मे निपात संज्ञा का विधान किया गया है।[२५५] अग्निपुराण[२५६] और नारद पुराण[२५७] मे भी निपात सज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है।

अर्वाचीन व्याकरणो मे से कातन्त्र व्याकरण मे विना परिभाषा के ही निपात सञ्ज्ञा का प्रयोग किया गया है।[२५८] जैनेन्द्रव्याकरण में निपात के स्थान पर 'नि.' अधिकार सूत्र के द्वारा 'नि' (निपात) सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। तदनुसार 'अद्रव्यार्थक चादि और प्रादि की 'नि' सञ्ज्ञा होती है।[२५९] सरस्वतीकण्ठाभरण मे अष्टाध्यायी के समान ही निपात सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[२६०] सारस्वत व्याकरण मे चादिर्निपात सूत्र द्वारा निपात सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[२६१] आचार्य बोपदेव ने जैनेन्द्र व्याकरण के समान निपात के स्थान पर 'नि' सञ्ज्ञा का प्रतिपादन किया।[२६२] सुपदम्व्याकरण मे अद्रव्यार्थक चादि को निपात सञ्ज्ञक कहा गया है।[२६३] प्रयोग रत्नमाला मे कातन्त्र व्याकरण के समान अ, इ, उ, आ और ओदन्त की निपात सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[२६४] आचार्य जीव गोस्वामी ने चादि को निपातसञ्ज्ञक कहा है।

निपात-सञ्ज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अष्टाध्यायी में अधोलिखित हैं–

क्रं. स.	सूत्र	अ पा सू.सं०	कार्य	उदाहरण
१.	स्वरादिनिपातमव्ययम्	१।१।३७	अव्यय सञ्ज्ञा	ओम्, स्वाहा, स्वधा।
२	निपात एकाजनाङ्	१।१।१४	प्रगृह्य संज्ञा	इ इन्द्र., उ उमेश.।
३.	निपातस्य च	६।३।१३६	दीर्घ	एवाहिते
४	निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्र युक्तम्।	८।१।३०	निघात प्रतिषेध	यदग्ने स्यामह त्वम्, पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति।

उपसर्ग संज्ञा

अष्टाध्यायीकार पद के रूप मे पृथक् रूप से स्वीकृत निपातो की उपसर्ग संज्ञा का विधान करते हुए कहते है– ''उपसर्गा क्रियायोगे''[२६६] अर्थात् प्रादि की क्रिया के योग मे 'उपसर्ग' सञ्ज्ञा होती है।[२६७] उपसर्ग सञ्ज्ञा के कारण ही 'प्रणयति, परिणयति, प्रणायकः परिणायक. इत्यादि स्थलो पर ''उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य''[२६८] सूत्र से णत्व उपपन्न होता है। क्रियायोग के अभाव मे उपसर्ग सञ्ज्ञा के अभाव होने के कारण प्रनायक. इत्यादि रूप ही सिद्ध होगा। आचार्य पाणिनि ने प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर् दुस, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उ, अभि, प्रति, परि,

उप इन बाइसो की उपसर्ग सज्ञा क्रिया के योग मे मानी है। यह प्रादि लौकिक सस्कृत मे धातु के पहले[२६६] प्रयुक्त होते है और धातु के साथ मिलकर अर्थवान् बनते है। किन्तु आचार्य पाणिनि ने वैदिक सस्कृत मे धातु के पहले और बाद मे[२७०] भी तथा व्यवहित[२७१] रूप से प्रयोग का विधान किया है। वार्तिककार कात्यायन ने पाणिनि द्वारा स्वीकृत बाइस उपसर्गो के अतिरिक्त 'मरुत्[२७२], श्रत्[२७३], और अन्तर्[२७४] को भी उपसर्ग माना है। गही नही, वार्तिककार कात्यायन ने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिये कही पर उपसर्ग सज्ञा के निषेध का भी विधान किया है। जैसे– षत्व और णत्व के प्रसग मे दुर् के उपसर्ग संज्ञा के निषेध का विधान वार्तिककार द्वारा किया गया है।[२६५]

उपसर्गो का धातु के साथ ही जब उपयोग है तो उनका पृथक् पाठ क्यो किया गया ? इसका उत्तर देते हुए वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने कहा है–

''अडादीना व्यवस्थार्थ पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्।

धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः।।''[२७६]

यही नही, धातु और उपसर्ग के मध्य सन्धिभाव भी नित्य कहा गया है।[२७७] धातु से हटकर प्रादि (उपसर्ग) अर्थवान् होते है या नही, इस प्रश्न पर निरुक्तकार आचार्य यास्क ने पर्याप्त विचार किया है। तदनुसार शाकटायन[२७८] के मत मे नाम और आख्यात से पृथक् उपसर्ग अर्थवान् नही होते। अपितु नाम और आख्यात के अर्थ से सयुक्त होकर उसके द्योतक होते है[२७९]। किन्तु आचार्य गार्ग्य[२८०] नाम और आख्यात से वियुक्त प्रादियो की अर्थवत्ता स्वीकार करते है। इस प्रकार उपसर्गो के द्योतकत्व और वाचकत्व दोनो पक्षो का उपन्यास आचार्य यास्क[२८१] ने किया है। किन्तु वैय्याकरणो मे प्रायः सभी के द्वारा शाकटायन का ही मत स्वीकार किया गया है। द्योतक होने के कारण ही उपसर्ग अनेक अर्थो के प्रकाशक होते है। जैसा कि शाकटायनीय धातुपाठ मे कहा गया है–

''उपसर्गवशाद् धातुरनेकार्थप्रकाशकृत्।

प्रहाराहारसहारविहारपरिहारवत्।।''[२८२]

शाकटायनीय धातुपाठ मे ही उपसर्गों की त्रिधा गति बतायी गयी है–

''धात्वर्थ बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते।

तमेव विशिनष्ट्यन्य· उपसर्गगतिस्त्रिधा।।[२८३]

'आगच्छति' इत्यादि स्थलो पर उपसर्ग धातु के अर्थ को बाधित करता है। 'प्रापयति' इत्यादि स्थलो पर धातु के अर्थ का अनुगमन करता है और प्रमोदते इत्यादि स्थलों पर धात्वर्थ मे वैशिष्ट्य का आधान करता है। इन तीन गतियो के अलावा भी कुछ अकर्मक धातुए उपसर्ग के सयोग से सकर्मक हो जाती है। यह उपसर्ग का दूसरा वैशिष्ट्य है। जैसा कि कहा गया है–

''क्वचिदर्थे प्रादियोगे ह्यकर्माणोऽपि धातव ।

सकर्माण प्रजायन्ते सता सङ्गाज्जना इव।।''[२८४]

इसका अभिप्राय है कि जैसे– सज्जनो की सगति से दुर्जन भी सज्जन हो जाते है, उसी प्रकार प्रादि के योग मे अकर्मक धातुए सकर्मक हो जाती है। जैसे– ग्रामम् उपवसति, ग्रामम् अधिशेते, पर्वतम् अध्यास्ते इत्यादि।

पूर्वाचार्यो ने ''उपेत्य नामाख्यातयोरर्थविशेष सृजन्तीत्युपसर्गा '' व्युत्पत्ति के आधार पर इसे सार्थक सज्ञा माना है।

पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे उपसर्ग शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमे ऐतरेय ब्राह्मण[२८५] और गोपथ ब्राह्मण[२८६] मे देखने को मिलता है। निरुक्त में भी उपसर्ग संज्ञा प्राप्त होती है।[२८७] ऋग्वेद प्रातिशाख्य मे प्रादि २० उपसर्ग बताये गये है जो नाम और आख्यात के साथ प्रयुक्त होकर अर्थ के वाचक बनते है।[२८८] ऋग्वेदप्रातिशाख्य में ही उपसर्ग को नाम और आख्यात के अर्थ मे विशेषता ला देने वाला कहा गया है।[२८९] बृहद्देवता मे क्रिया के योग मे बीस उपसर्ग बताये गये है, किन्तु उनका परिगणन नही किया गया है। बृहद्देवता के अनुसार ये उपसर्ग नाम, आख्यात और विभक्तियो मे अर्थ विशेष को उपस्थित करते है।[२९०] बृहद्देवता में ही आचार्य शाकटायन के मत को उद्धृत किया गया है। जिसके अनुसार शाकटायन अछ, श्रत् और अन्तर को भी उपसर्ग मानते है।[२९१] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य मे केवल दश उपसर्गों का उल्लेख किया गया है।[२९२] वाजसनोयि प्रातिशाख्य के अनुसार उपसर्ग आख्यात के अर्थ मे विशेषता पैदा करते है।[२९३] शौनकीया चतुराध्यायिका[२९४] ऋटक्तन्त्र[२९५]

अथर्ववेद प्रातिशाख्य[२६६] और काशकृत्स्न व्याकरण[२६७] मे भी उपसर्ग शब्द का प्रयोग पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे हुआ है। नाट्यशास्त्र के अनुसार जो अपने अर्थ के द्वारा प्रातिपदिकार्थ से युक्त धात्वर्थ को परिवर्तित कर देते है, वे उपसर्ग है।[२६८]

आचार्य पाणिनि के पश्चवर्ती व्याकरणो मे कातन्त्र व्याकरण मे उपसर्ग शब्द विना परिभाषा के ही प्रयुक्त है।[२६६] जैनेन्द्र व्याकरण मे प्रादियो की क्रिया के योग मे उपसर्ग के स्थान पर 'गि' सज्ञा का विधान किया गया है।[३००] शाकटायन व्याकरण[३०१], सरस्वतीकठाभरण[३०२] और सिद्धहेमशब्दानुशासन[३०३] मे भी उपसर्ग सज्ञा का विधान किया गया है। शब्दानुशासन मे आचार्य मलयगिरि ने विना परिभाषा के ही उपसर्ग संज्ञा का प्रयोग किया है।[३०४] सारस्वत व्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप मे ''प्रादिरुपसर्ग·''[३०५] सूत्र द्वारा उपसर्ग सज्ञा का विधान किया है। मुग्धबोधकार आचार्य बोपदेव ने जैनेन्द्र व्याकरण के समान प्रादियो की 'गि' सज्ञा का विधान किया है।[३०६] आचार्य पद्मनाभ ने भी प्रादियों को उपसर्ग बताते हुए धातुओं के पूर्व उनके प्रयोग की बात कही है।[३०७] आचार्य पुरुषोत्तम ने प्रयोगरत्नमाला मे न केवल प्रादि को उपसर्ग बताते हुए धातु के पूर्व मे प्रयुक्त होने की तथा प्रकृति के अर्थपरक होने की बात कही है,[३०८] अपितु उपसर्गो की त्रिधा गति का भी विवेचन किया है।[३०९] आचार्य जीवगोस्वामी ने प्रादियों की क्रिया के योग उपसर्ग के स्थान पर उपेन्द्र सज्ञा का विधान करते हुए धातुओं से पूर्व उनके प्रयोग की बात की है।[३१०]

उपसर्ग सज्ञा के विधि प्रदेश अधोलिखित है–

क्र.सं.	सूत्र	अ.पा. सू. सं०	कार्य	उदाहरण
१.	उपसर्गादृतिधातौ	६।१।६१	वृद्धि एकादेश	प्रार्च्छति, उपार्च्छति
२	उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्	६।३।१२२	दीर्घ	परीपाकः, प्रतीहारः
३.	उपसर्गस्यायतौ	८।२।१६	रेफ का लत्व	प्लायते, पलायते
४.	उपसर्गे घो कि·	३।३।६२	कि प्रत्यय	अन्तर्द्धिः, अवधिः
५.	उपसर्गे च सज्ञायाम्	३।२।६६	ड प्रत्यय	प्रजाः
६.	उपसर्गाद् बहुलम्	५।४।८५	अच् प्रत्यय	प्राध्वो रथः
७	उपसर्गाद् बहुलम्	८।४।२८	न का णत्व	प्रणस.

अभ्यास संज्ञा

भगवान् पाणिनि ने द्वित्व विधान के प्रसङ्ग मे अभ्यास सज्ञा का प्रतिपादन ''पूर्वोऽभ्यास ''[३११] सूत्र द्वारा किया है। सूत्र का तात्पर्य है कि इस प्रकरण में जो दो उच्चारण कहे गये है, उनमे पूर्व अभ्याससज्ञक हो।[३१२] किसका पहला अभ्यास सज्ञक हो, इस विषय मे महाभाष्यकार पतञ्जलि का अभिमत है –

''पूर्वोऽभ्यास इच्युच्यते। कस्य पूर्वोऽभ्याससज्ञो भवति ? द्वय इति वर्तते। द्वयोरिति वक्तव्यम्। स तर्हि तथा निर्देश कर्तव्य । अथर्दि विभक्तिविपरिणामो भविष्यति।[३१३]

वस्तुत द्वित्व का विधान दो सूत्रो से किया गया है। पहला सूत्र है– 'एकाचोद्वे प्रथमस्य''[३१४] जो छठी अध्याय के प्रथम पाद का पहला सूत्र है। दूसरा सूत्र 'सर्वस्यद्वे[३१५] है जो आठवे अध्याय के प्रथम पाद का पहला सूत्र है। ''एकाचोद्वेयप्रथमस्य' सूत्र द्वारा विहित द्वित्व को षाष्ठ द्वित्व और ''सर्वस्य द्वे'' द्वारा होने वाले द्वित्व को आष्टमिक द्वित्व कहा जाता है। अभ्यास सज्ञा का सम्बन्ध षाष्ठ द्वित्व प्रकरण से है। अर्थात् ''पूर्वोऽभ्यास '' सूत्र ''एकाचोद्वेप्रथमस्य'' के अधिकार मे पढ़ा गया है। अत इस अधिकार मे जो दो-दो उच्चारण विधान किये गये है, उनमें से पहला उच्चारण अभ्याससज्ञक हो।

लोक मे भी जो कार्य पह्ले आरम्भ किया जाता है, उसकी ही पुन पुन· आवृत्ति को अभ्यास कहा जाता है। सूत्रकार ने सम्भवत इसी आशय से पूर्वभाग की ही अभ्यास सज्ञा निरूपित की है। अभ्यस्यते द्विरुच्यार्यते इत्यभ्यास· (बाहुलकात् कर्मणि घञ्) व्युत्पत्ति के आधार पर यह सज्ञा अन्वर्थक है। अभ्याससज्ञा पूर्वाचार्य प्रयुक्त सज्ञा है, क्योकि निरुक्त,[३१६] ऋक्तन्त्र[३१७], अथर्ववेद प्रातिशाख्य[३१८] और काशकृत्स्नव्याकरण[३१९] मे इगका प्रयोग उपलब्ध होता है। पश्चवर्ती व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण मे अष्टाध्यायी के समान ही अभ्यास सज्ञा का विधान किया गया है।[३२०] जैनेन्द्र व्याकरण[३२१] और मुग्धबोध व्याकरण[३२२] में अभ्यास सज्ञा के स्थान पर पूर्वसंज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। अष्टाध्यायी मे अभ्यास सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित हैं–

क्रमसंख्या	सूत्र	सूत्रसंख्या	कार्य	उदाहरण
१. मान्वधगदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य	३।१।६	अभ्यासदीर्घ	मीमासते	
२. तुजादीना दीर्घोऽभ्यासस्य	७।१।७	अभ्यासकोदीर्घ	प्रभरा तूतुजान	
३ लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्	६।१।१७	सम्प्रसारण	इयाज	
४ अभ्यासस्यासवर्णे	६।१।७८	इयङुवङ्आदेश	इयेष।उवोख	
५ लोप पिबतेरीच्चाभ्यासस्य	७।४।४	ईत्व आदेश	अपीप्यत्	
६ अभ्यासाच्च	७।३।५५	हन् के हकार को कुत्व आदेश	जघनिथ, जघन्थ	
७. स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात्	८।३।६१	स को मूर्धन्य आदेश	तुष्टूषति	

अभ्यस्त संज्ञा

अष्टाध्यायी मे अभ्यस्त सज्ञा का विधान दो सूत्रो द्वारा किया गया है। जिसमे प्रथम सूत्र है ''उभे अभ्यस्तम्''[३२३]। सूत्र मे ''एकाचो द्वे प्रथमस्य''[३२४] सूत्र से 'द्वे' का अनुवर्तन होता है। सूत्र का अभिप्राय है कि षष्ठाध्याय के प्रकरण मे जो द्वित्व विहित है, उसके दोनो मिलितरूप अभ्यस्तसज्ञक होते है।[३२५] सूत्र मे 'उभे' पद का ग्रहण समुदाय की दृष्टि से है। 'द्वे' पद के अनुवर्तन से ''अनन्तरस्य विधिर्वाभवति प्रतिषेधो वा'' न्याय के आधार पर षाष्ठ द्वित्व का ही ग्रहण किया जाता है, आष्टमिक द्वित्व का नही। अभ्यस्त सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–''जक्षित्यादयः षट्''[३२६]। अर्थात् अन्य छह धातु तथा 'जक्ष्' को मिलाकर - इन सात धातुओं की भी अभ्यस्त सज्ञा होती है।[३२७] इन सात धातुओं का परिगणन निम्नलिखित कारिका मे किया गया है–

''जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा।
अभ्यस्तसज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिता ।।''

इन सात धातुओं को विना द्वित्व हुए अभ्यस्त संज्ञा होती है। इसका फल है कि सातों धातुओं

से 'शतृ' प्रत्यय करने पर सर्वनाम स्थान विभक्तियो मे 'नुम' का आगम प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से अभ्यस्त सज्ञा होने के फलस्वरूप 'नाभ्यस्ताच्छतु.'[३२८] सूत्र से नुम् का निषेध हो जाता है। इसलिए 'जक्षत्' दरिद्रत्, चकासत्, दीध्यत्, वेव्यत् आदि रूप सिद्ध होते है।

लोक मे अनेक बार 'अभ्यास' किये गये को अभ्यस्त कहते है। किन्तु शास्त्र मे द्विरुक्त की समष्टिगत सज्ञा अभ्यस्त है। पूर्वाचार्यो ने न केवल इसे अन्वर्थ सज्ञा माना है अपितु इसका प्रयोग भी किया है। निरुक्तकार ने जहा ''अयुतनियुतंप्रयुततत्तदभ्यस्तम्''[३२९] कहा है, वही काशकृत्सन धातु व्याख्यान मे ''द्वयमभ्यस्तम्''[३३०] कहा गया है। अर्वाचीन व्याकरणग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण मे 'द्वयमभ्यस्तम्' सूत्र द्वारा अभ्यस्त सज्ञा का विधान किया गया है।[३३१] जैनेन्द्र व्याकरण में अभ्यस्तसज्ञा के स्थान पर 'थ' सज्ञा का विधान किया गया है।[३३२]

अष्टाध्यायी मे अभ्यस्तसज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्रं०सं०	सूत्र	सूत्र संख्या	कार्य	उदाहरण
१	अभ्यस्तस्य च	६।१।३३	सम्प्रसारण	जुहाव
२	अभ्यस्तानामादि	६।१।१८९	आद्युदात्त	ये ददति
३.	अनुदात्ते च	६।१।१९०	आद्युदात्त	दधासि रत्नम्
४.	नाभ्यस्तस्याचिपतिसार्वधातुके,	७।३।८७	गुणनिषेध	नेनिजानि
५.	नाभ्यस्ताच्छतुः	७।१।७८	नुम्निषेध	ददत्।

उद्धरणानुक्रमणिका

१. अष्टा०– १।१।२०

२. का. वृ.– १।१।२०

३. अष्टा०– ७।४।४६

४ अष्टा०– ७।४।४७

५. अदाब् दा धौ दा। का० व्या०– ३।१।८

६. दा धा घ्वपित्। जै० व्या०– १।१।२७

७. अवौ दा धौ दा। सि० हे ० श०– ३।३।५

८. दा धा दा। मु० बो० सू०– ५३४

९ नैषधीयचरितम्– १९।६२

१० अष्टा०– १।१।२३

११ सि० कौ०– १।१।२३

१२ अष्टा०– ३।३।१०६

१३ निरुक्त– ३।२

१४. ऋ०प्रा०– ११।२६

१५. का० कृ० व्या०– सू० १

१६ ना० शा०– १४।२६

१७ का० वृ०– १।२।५१

१८ बृहद्देवता– १।४५

१६. कातन्त्र व्या०– सू०-३३७

२०. जै० व्या०– १।१।३३

२१ शा० व्या०– १।१।६ से १२

२२ सि० हे० श०– १।१।३६-४२

२३. मु० बो० व्या०– सू० १०१

२४ अष्टा०– १।१।२४

२५. सि० कौ०– १।१।२४

२६ अष्टा०– १।१।२५

२७. सि० कौ०– १।१।२५

२८. का पुनर्डसज्ञा? षट् सज्ञा इति। – म० भा०-१।४।१

२६. प्र० र० मा०– २।३०७

३० ष्णान्तेल्। मु० बो० व्या० सूत्र– ३४

३१ अष्टा०– १।१।२७

३२. का० वृ०– १।१।२७

३३. अष्टा०– १।१।३१

३४ अष्टा०– ५।३।१०

३५ अष्टा०– ५।३।७१

३६. सि० कौ०– १।१।२७

३७. अष्टा०– १।१।३४

३८ सि० कौ०– १।१।३४

३६ सि० कौ०– १।१।३४

४० अष्टा०– १।२।३५

४१. सि० कौ०– १।२।३५

४२. अष्टा०– १।१।३६

४३. सि० कौ०– १।१।३६

४४. अष्टा०– १।१।२८

४५ सि० कौ०– १।१।२८

४६ अष्टा०– १।१।३२

४७ सि० कौ०– १।१।३२

४८. अष्टा०– १।१।३३

४६. सि० कौ०– १।१।३३ वा० स०– २४२

५० महाभाष्य– १।१।२७

५१ सि० कौ०– १।१।२७

५२ त्व इति विनिग्रहार्थीयम् सर्वनामानुदात्तं। निरुक्त–१।७।४

५३ सर्वनाम्नो दृशि। ऋ० त०– ५।१।७

५४. स्वाङ्गशिटामदन्तानाम्। सि० कौ०, फिट् सूत्र स०–२।२६

५५ सर्वनाम्ना स्त्रियो राजन्यवैश्यौ च न नाम्ना। आपमस्तम्बधर्मसूत्र– १।४।१४।२३

५६. यत्तु कश्चिदाह – चाक्रवर्मण व्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामता –

भ्युपगमात्। शब्दकौस्तुभ– १।२।२७

५७ स्मै सर्वनाम्ना। का० त० व्या०, चा० वृ० न० प्र०– १।२५

५८ जै० व्या०– १।१।३५, ३६, ४०-४४

५६ सरस्वतीक०– १।१११२–११६

६० सारस्वतव्या०– पूर्वार्द्ध - सू० स० - २१५

६१ सु०व्या० – ४।२।१, २, ५-१०

६२. अथ सर्वनामशब्दा ।।

सञ्ज्ञोपसर्जने हित्वा विशेषार्थव्यवस्थया। सर्वाद्या सर्वनामानि चत्वारिंशत् समीरिता·

प्र० र० मा० २।५४

६३. ह० ना० व्या०, सू० ३१३, ३२० - ३२४, ३२७ - ३२६।

६४ अष्टाध्यायी– १।१।३७

६५ सि० कौ०– १।१।३७

६६ सि० कौ०– फिट सूत्र - ८०

६७. अष्टाध्यायी– १।११४

६८. अष्टाध्यायी– १।१।३८

६९ सिद्धान्त कौ०– १।१।३८

७० सि० कौ०– अव्यय प्रकरण - १।१।३८

७१ अष्टा०– ५।३।७

७२. अष्टा०– ५।३।४७

७३ अष्टा०– ५।४।४२

७४ अष्टा०– ५।४।६८

७५ अष्टा०– ५।४।१२

७६ अष्टा०– ५।४।११

७७. अष्टा०– ५।४।१७

७८ अष्टा०– ५।४।१८

७६. अष्टा०– ५।४।२०

८० अष्टा०– ४।३।११३

८१ अष्टा०– ५।१।११५

८२ अष्टा०– ५।१।११६

८३ अष्टा०– ५।२।२७

८४. अष्टा०– १।१।३६

८५ सि० कौ०– १।१।३६

८६ अष्टा०– १।१।४०

८७. अष्टा०– ३।४।२१

८८ अष्टा०– ३।४।१८

८६ अष्टा०– ३।४।१३

६०. अष्टा०– १।१।४१

६१ सदृश त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।

वचनेषु स सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम्।। महाभाष्य–१।१।३८

६२ शाकस्य मात्रा शाकप्रति यथाव्ययपूर्वकः। अ० पु०– ३५५।१७

६३. स्वेकाभु विरोधपरिविपर्ययाश्चाव्ययस्तथा। ना० पु०– २।१६।५१

६४ गो० ब्रा०– १।१।२६

६५ तदव्ययपूर्वत.। इतिभागुरिस्मृते । श० श० प्र०–पृ०-४४५

६६ सख्याविभक्त्यव्ययलिङ्गयुक्तोभावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्य । बृ० दे०– १।४५

६७ अव्ययानि च। अ० प्रा०– ३।१।२, निर्णय सागर सस्करण

९८ अव्ययसर्वनाम्न स्वराद्यन्त्यात् पूर्वाऽक् क । कात० व्या०– २।२।१४

९९ सुप असख्यादलुक्। चा० व्या०– २।१।३८ इत्यादि मे और अत कृकमिकसकुम्भपात्र कुशाकर्णीषु ससख्यस्य। चा० व्या०– ६।४।४०

१००. असख्यम् झि ! जै० व्या०– १।१।७४

१०१. शा० व्या०– १।१।३६

१०२. सरस्वतीकण्ठा०– १।१।१७५-१८८

१०३. सि० हे० श०– १।१।३०-३६

१०४ आड् माड अव्ययात्। शब्दा०– १।४।१६ इत्यादि मे

१०५. सारस्वतव्याकरण, पूर्वार्द्ध– १५।१०

१०६ स्वरादि नि चित्त्य व्यम्। मु० बो०– सू० ६४

१०७ स्वरादि, चादि, वदादि, तद्धित, क्त्वा, मान्त कृदव्ययम्। सु० व्या०– १।१।२५

१०८. प्र० र० मा०– ४।१

१०९ स्वरादि, चादि, वदादि, तद्धिता· क्त्वा मान्तश्च कृदव्ययम्। –ह०ना०व्या०– १।३६०

११०. अष्टा०– १।१।७३

१११. सि० कौ०– १।१।७३

११२. अष्टा०– १।१।७४

११३ सि०कौ०– १।१।७४

११४ अष्टा– १।१।७५

११५ सि० कौ०– १।१।७५

११६ अष्टा०– ४।२।११४

११७ महाभाष्य– १।१।७४

११८ अष्टा०– १।२।६५

११९. तिस्रो वृद्धम्। ऋ० त०– २।५।४

१२० जै० व्या०– १।१।६८-७१

१२१ अष्टा०– १।२।४५

१२२ सि० कौ०– १।२।४५

१२३ अष्टा०– ८।२।७

१२४ अष्टा०– ८।३।११

१२५ परिभाषेन्दु शेखर– १।२३

१२६ अष्टा०– २।४।७१

१२७ अष्टा०– १।२।४६

१२८ सि० कौ०– १।२।४६

१२९. अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे·। अष्टा०– ५।३।७१

१३० अष्टा०– ५।३।६८

१३१ सि० कौ०– १।२।४६

१३२ महाभाष्य– १।२।४५

१३३ निरुक्त १।१

१३४. जै० व्या०– द्वित्यीयाध्याय के बाद

१३५ श० श० प्र० कारिका– १४

१३६ ओङ्कार पृच्छाम – को धातुः? किम् प्रातिपादिकम्? गो० ब्रा०– १।१।२४

१३७ नामाख्यातमुपसर्गो निपातश्चत्वार्याहु· पदजातानि शाब्दा ।। ऋ० प्रा०– १२।१७

१३८ शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते। तदक्षरविधौ युक्त नामेत्याहुर्मनीषिण·।। बृ०दे०–

१।४२

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तय·। तन्नाम कवय प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयो·।।

बृ०दे०– १।४३

१३९ तच्चतुर्धा। नामाख्यातोपसर्गनिपाता ।। वा० प्रा०– ८।५२-५३

१४० चतुर्णाम् पदजातानाम् नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम् . . । शौ० च० आ० १।१

१४१ का० कृ० व्या०– सू०-१२८

१४२ का० कृ० व्या० सू०– १२८

१४३ सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरुक्त– १।१।१

१४४ फिडिति प्रातिपदिकस्य पूर्वाचार्य सञ्ज्ञा। शब्देन्दुशेखर फिट् सू०-१

१४५ ना० शा० १५।२५

१४६. धातुप्रत्ययहीनं यत्स्यात् प्रातिपदिकन्तु तत्। अ०पु० ३५१।२३

१४७. अर्थवत् प्रातिपदिकम् धातुप्रत्ययवर्जितम्। ना० पु० २।१६।३

१४८ धातुविभक्तिवर्जम् अर्थवल्लिङ्गम्। कातन्त्र व्या०, च० वृ० न० प्र० १।१

१४९. अधु मृत्। कृद्धृत्सा·। जै० व्या०– १।१।५-६

१५०. सरस्वतीकण्ठाभरण– १।१।५-७

१५१. अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम्। सि० हे० शब्दा०– १।१।२७

१५२. धातुविभक्तिवर्जमर्थवन्नाम। शब्दा– १।२।२

१५३. सारस्वतव्या०– पूर्वार्द्ध - ७।२

१५४. मु० बो० व्या०– सू० १४

१५५. अधातु विभक्त्यर्थवत् प्रातिपदिकम्। सु० व्या०– २।२।१

१५६ शब्दोऽर्थवल्लिङ्गसञ्ज्ञो विभक्तिधातुवर्जितः। प्र० र० मा०– २।१

१५७ प्र० र० मा०– २।६

१५८ अधातुविष्णुभक्तिकमर्थवन्नाम। ह०ना०व्या०– सू - १४८

१५६ अष्टाध्यायी– १।३।१

१६० काशिकावृत्ति– १।३।१

१६१ न्यास– १।३।१

१६२ सिद्धान्त कौमुदी बालमनोरमा सज्ञा प्रकरण– १।३।१

१६३ अष्टाध्यायी– ३।१।३२

१६४. काशिकावृत्ति– ३।१।३२

१६५ सि० कौ०– तत्वबोधिनी - ३।१।३२

१६६. अष्टा०– १।३।१

१६७. न्यास– ३।१।३२

१६८. निरुक्त– १।६।२०

१६६. व्याकरण सि० सुधा– पृष्ठ – ६४४

१७० महाभाष्य प्रदीप– १।३।१

१७१ ओङ्कार पृच्छामः को धातुः?.. ... गो० ब्रा० - १।१।२४

१७२ धातुर्दधाते.। निरुक्त - १।६।२०

१७३. धातु लिङ्ग विभक्तिञ्च ....। बृहद्देवता - २।१०१

१७४. उपसर्गस्य धातावेकाक्षरे नामभूते। ऋ० त० - ५।२।६

१७५. गतिपूर्वो यदा धातु क्वचित् ....। अ० प्रा०-१।१।११

१७६. धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्। का० कृ० व्या०, सू० १ इत्यादि

१७७ प्रातिपादिकार्थयुक्तान् धात्वर्थान्नुत्सृजन्ति ये स्वार्थै.। ना० शा० १५।२६

१७८ . . भूवाद्या धातव स्मृता । अ०पु०–३५८।६

१७६. भूवाद्या धातव· प्रोक्ता सनाद्यन्तास्तथा तत । ना० पु० - २।१६।२१

१८० क्रिया भावी धातु । कातत्र व्या० – ३।१।६, तेधातव । कात० व्या०- ३।२।५०

१८१. चा० व्या०– १।३।११६ इत्यादि मे

१८२ भूवादयो धु । जै० व्या० १।२।१ और तदन्ता धव । – जै० व्या० - २।१।२६

१८३ क्रियार्थो धातु । शा० व्या०– १।१।२२

१८४. भूवादि क्रियावचनो धातु·।

चुलुम्पादिश्च,। सनाद्यन्ताश्चाणिङः। सरस्वती कण्ठा– सू० १।१।२-४

१८५ क्रियार्थो धातु·। सि० हे० शब्दा० - ३।३।३

१८६. क्रियार्थ धातु·। शब्दा०– ३।१।१

१८७. सारस्वतव्याकरण उत्तरार्द्ध– १।२

१८८. भवादिर्धुः। मु० बो० व्या०, सू०-११

१८६ भूवादिसनाद्यन्ता धातव । सु० व्या०– ३।१।४६

१६० एधादयो धातव स्यु । प्र० र० मा० २।३

१६१ भूसनन्ताद्या धातव । ह०ना०व्या० - सू० - ३६६

१६२ अष्टा०– १।४।३

१६३. अष्टा०– ७।१।३६

१६४. सि० कौ०– १।४।३

१६५. अष्टा०– ७।३।१०७

१६६ अष्टा०– १।४।५

१६७ अष्टा०– १।४।४

१९८. सि० कौ०– १।४।५

१९९ अष्टा०– १।४।६

२०० सि० कौ०– १।४।६

२०१. सि० कौ०– १।४।६

२०२ पदमञ्जरी– १।४।३

२०३ आख्याग्रहणसामर्थ्यान्नियम आश्रीयते स्त्रियमेव यावाचक्षाते न तु लिङ्गान्तरमपीत्यर्थ ।
महाभाष्य प्रदीप– १।४।३

२०४. ईदूत्स्त्र्याख्यौ नदी। का० व्या० – २।१।६

२०५. ईऊ लक्ष्मी गोपी सञ्ज्ञा नदी सञ्ज्ञा च। ह० ना० व्या०, सू०– २९८

२०६ य्वौ स्त्र्याख्यौ मु । जै० व्या०– १।२।९२

२०७ यूत्स्त्र्येवदी। मु० बो० व्या०– सू० स० - ९६

२०८ अष्टा०– १।४।७

२०९ अष्टा०– १।४।३

२१०. अष्टा०– १।४।६

२११ सि० कौ०– १।४।७

२१२ अष्टा०– १।४।१

२१३ अष्टा०– १।४।८

२१४. सि० कौ०– १।४।८

२१५ अष्टा०– १।४।९

२१६ सि० कौ०– १।४।९

२१७ अष्टा०– १।४।१३

२१८ सि० कौ०– १।४।१३

२१६ अष्टा०– १।४।१८

२२० अष्टा०– १।४।१७

२२१. परिभाषेन्दुशेखर– १।३३

२२२ सि० कौ०– १।४।१८

२२३ अष्टा०– १।४।१

२२४ अष्टा०– १।४।१६

२२५ सि० कौ०– १।४।१६

२२६ अष्टा०– ६।४।१३१

२२७ अष्टा०– १।४।२०

२२८ सि० कौ०– १।४।२०

२२६ म० भा० प्रदीप– १।४।२०

२३० न्यास– १।४।२०

२३१. पदमञ्जरी– पृ० - ६

२३२ जै० व्या०– १।२।१०७-१०८

२३३ अष्टा०– १।४।५६

२३४ अष्टा०– १।४।६७

२३५ का० वृ०– १।४।५६

२३६ अष्टा०– ३।४।१३

२३७ महाभाष्य– १।४।५६

२३८ महाभाष्य– १।४।५६

२३९ अष्टा०– १।४।५७

२४० काशिका वृत्ति– १।४।५७

२४१ अष्टा०– १।४।५८

२४२. सि० कौ०– १।४।५८

२४३ ऋ० प्रा०– १२।२५

२४४ वाक्यपदीय– २।१।६२

२४५ किञ्च 'पर्वताद्आ' इत्यादौ पर्वतादर्वागित्यर्थ प्रतीतेस्तत्र वाचकत्वमेवेति निरुक्ते स्पष्टम्। द्योत्यत्वे हि पञ्चमी न स्यात् तस्य विशेषणता च स्यात्। वै० सि० ल० म०, नि०, नि० - २३

२४६ वै० सि० ल० मञ्जूषा, नि०नि० १७

२४७. वाक्यपदीय २।१६४

२४८ इयन्त इति सख्यानम् निपातानाम् न विद्यते। बृहद्देवता - २।६३

२४९ ओङ्कार पृच्छाम । को धातु॰ किम् प्रातिपदिकम्? क स्वर ? उपसर्गो निपात ?। गो० ब्रा० १।१।२४

२५० निरुक्त १।२।१

२५१ इतरे निपाता । ऋ० प्र०– १२।२१

२५२. तच्चतुर्धा। नामाख्यातोपसर्गनिपाता । वा० प्रा०– ८।५२-५३

२५३. चतुर्णाम् पदजातानाम् नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्.........। शौ०च०आ० १।१

२५४ कमिति निपात॰। अ० प्रा०– १।३।४

२५५ ना० शा०– १५।२७

२५६ अ० पु०– ३५६।२८

२५७ चाद्या निपाता ... .। ना० पु० २।१७।८३

२५८. ओदन्ता अ, इ, उ, आ निपाता· स्वरे प्रकृत्या। का तन्त्र व्या०– १।३।४२

२५९. जै० व्या०– १।२।१२७-१२८ आदि

२६० सरस्वती कण्ठभरण– १।१।११७-११८ आदि

२६१ सारस्वतव्याकरण पू०– १५।१

२६२ मु० बो० व्या० सू०, स०– १६

२६३ निपाताश्चादयोऽसत्त्वे। सु० व्या०– १।१।२६

२६४ प्र० र० मा०– १।७१

२६५ चादयो निपातसज्ञा । ह० ना० व्या० सूत्र - ३६५।

२६६ अष्टा०– १।४।५६

२६७ का० वृ० १।४।५६

२६८. अष्टा०– ८।४।१४

२६९ तेप्राग्धातो । अष्टा-– १।४।८०

२७० छन्दसि परेऽपि। अष्टा०– १।४।८१

२७१ व्यवहिताश्च। अष्टा०– १।४।८२

२७२ मरुच्छब्दस्योपसख्यानम्। महाभाष्य– १।४।५६

२७३. श्रच्छब्दस्योपसख्यानम्। महाभाष्य– १।४।५६

२७४ सि० कौ०– ८।४।१६

२७५ दुर षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्य·। सि० कौ०– ८।४।१६

२७६ वा० पदीय– २।१८०

२७७ नित्योधातूपसर्गयो । सि० कौ० - भ्वादिगण - श्लोक वार्तिक

२७८ नर्निबद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायन । निरुक्त– १।१

२७६ नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसयोगद्योतका भवन्ति। निरुक्त– १।१

२८० उच्चावचा. पदार्था भवन्तीति गार्ग्य ।। निरुक्त - १।१

२८१. निरुक्त– १।१

२८२. अभिनव शाकटायनीय धातु पाठ - श्लोक - ७

२८३ अभि० शा० धा० पा० - श्लो० - ५

२८४ म० प०' न० व० स० सं० - ७

२८५ महानाम्नीनामुपसर्गानुपसृजति। ऐ० ब्रा० - १६।४

२८६. क. प्रत्यय ? क. स्वरः? उपसर्गो निपात.। गो० ब्रा० १।१।२४

२८७ निरुक्त - १।१।१

२८८. प्राभ्या परानिर्दुरनुव्युपापसपरिप्रतिनूयत्यधि सूदवापि।

उपसर्गा विशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम्।। ऋ०प्रा० - १२।२०

२८६ उपसर्गो विशेषकृत्। ऋ० प्रा० - १२।२५

२६०. उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि। बृहदेवता - १।३६

उपसर्गास्तु विज्ञेया क्रियायोगेन विशति ।।

विवेचयन्ति ते ह्यर्थ नामाख्यातविभक्तिषु।। वृहद्देवता - २।६४

२६१. अछ श्रदन्तरित्येतान् आचार्य शाकटायन.।।

उपसर्गान् क्रियायोगान् मेने ते तु त्रयोऽधिका ।। तै० प्रा० १।१।१५

२६२ आप्रावापोपाभ्यधिप्रतिपरिविनीत्युपसर्गा.।। तै० प्रा० १।१।१५

२६३ उपसर्गो विशेषकृत्। वा० प्रा० ८।५५

२६४. चतुर्णापदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानाम्.......। शौ०च०आ० १।१

२६५ उपसर्ग सामर्थ्ये। ऋ० त० - ३।५।५

२६६ कृदन्ते ह्युपसर्गे ...। अ० प्रा० - १।१।१०

२६७ का० कृ० धातु वृत्ति - १।६२३

२६८ प्रातिपादिकार्थयुक्तान् धात्वर्थानुत्सृजन्ति ये स्वार्थे ।

उपसर्गाद्युपदिष्टास्तस्मात्..... . । ना० शा० १५।२६

२६६. कातन्त्र व्या० - ४।२।६७

३०० प्रादि । क्रियायोगे गि । जै० व्या० १।२।१२६, १३०

३०१ शा० व्या० - १।१।२५

३०२ स०क०भ० - १।१।१२८ - १३०

३०३ सि० हे० शब्दा० - ३।१।१

३०४. शब्दा० - ३।२।७

३०५. सारस्वत व्या० पू० - १५।८

३०६. मु० बो० - सू० सं० - १०

३०७. प्रादुपसर्गः प्राग्धातो.। सु० व्या० - १।१।२७

३०८. प्र० र० मा० - ८।८।१

३०६ क्वचिद् भिनत्ति धात्वर्थ क्वचित् तमनुवर्तते।

विशिनष्टि तमेवार्थम् उपसर्गगतिस्त्रिधा।। प्र० र० मा० ८।८।३

३१०. प्रादयः उपेन्द्रसञ्ज्ञा धातुयोगे, ते च प्राक्। ह० ना० मृ० व्या०, सू० स० - ४०७

३११. अष्टा०– ६।१।४

३१२. सि० कौ० – ६।१।४

३१३. महाभाष्य– ६।१।४

३१४ अष्टा०– ६।१।१

३१५ अष्टा०– ८।१।१

३१६ निरुक्त– १०।२७

३१७. दोऽभ्यासे। ऋ०– ४।३।५

३१८. अभ्यासस्य, अभ्यासस्य दीर्घश्छन्दसि– अ०प्रा० - २।२।१६, ३।३।१३

३१९ पूर्वोऽभ्यास । का० कृ० धातु व्याख्यान सूत्र– ७७ इत्यादि।

३२० पूर्वोऽभ्यास,। का० व्या० ३।३।४

३२१ पूर्वश्च। जै० व्या०– ४।३।६

३२२. द्वे पूर्व· सि·। मु० बो० सू०– ५३८

३२३ अष्टा०– ६।१।५

३२४ अष्टा०– ६।१।१

३२५. सि० कौ०– ६।१।५

३२६. अष्टा०– ६।१।६

३२७. सि० कौ०– ६।१।६

३२८ अष्टा०– ७।१।७८

३२९ निरुक्त– ३।२ इत्यादि

३३० का० कृ० धा० व्या०, सूत्र– ७८

३३१ कातन्त्र व्या०– ३।३।५

३३२. जै० व्या०– ४।३।४

पञ्चम अध्याय

प्रत्ययसम्बन्धी संज्ञासूत्र

(१) घ संज्ञा

सूत्रकार दाक्षीपुत्र पाणिनि 'तरप्' और 'तमप्' प्रत्ययो के वैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिए उनकी 'घ सज्ञा का विधान 'तरप्तमपौघ. '[१] सूत्र द्वारा करते है। सूत्र मे 'घ' सज्ञा है तथा 'तरप्' एव 'तमप्' सज्ञी। सूत्र का अभिप्राय है कि 'तरप्' और 'तमप्' प्रत्यय की 'घ' सज्ञा हो।[२] जैसे– 'किन्तमाम्' उच्चैस्तम , लघुतर आदि।

यह सज्ञा पाणिनि की स्वकल्पना प्रसूत है। इसे अन्वर्थक भी नही कहा जा सकता। शास्त्र मे केवल लाघव की दृष्टि से इसका व्यवहार सूत्रकार ने किया है। यह सज्ञा न तो पाणिनि के पूर्ववर्ती और न ही पश्चवर्ती, किसी भी ग्रन्थ मे उपलब्ध नहीं होती।

अष्टाध्यायी मे घ सज्ञा के प्रयोग– प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	नाद् घस्य	८।२।१७	नुडागम	सुपथिन्तर.
२	घ-रूप-कल्प-चेलड्-ब्रुव गोत्र मत हतेषु ङ्योनेकाचो ह्रस्व	६।३।४३	ह्रस्वादेश	ब्राह्मणितरा ब्रह्मणितमा
३	घ-काल-तनेषुकाल नाम्न	६।३।१७	सप्तमी का अलुक्	पूर्वाह्णेतमे

(२) सर्वनाम स्थान संज्ञा

सूत्रकार महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे सर्वनाम स्थान सज्ञा का विधान अष्टाध्यायी मे दो सूत्रों द्वारा किया है। जिसमे प्रथम सूत्र है–''शि सर्वनामस्थानम्''[३] सूत्र मे 'सर्वनामस्थानम्' सज्ञा है और सक्षी है– शि। सूत्रार्थ है – 'शि' की सर्वनामस्थान सज्ञा हो।[४] 'शि' से अभिप्राय नपुसक अङ्ग से परे 'जस् और शस्' के स्थान पर होने वाले 'शि' आदेश से है। सर्वनाम स्थान संज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–

''सुडनपुसकस्य''।[५] सूत्र मे 'शि सर्वनाम स्थानम्' से 'सर्वनामस्थानम्'' की अनुवृत्ति होगी। 'सुट्' से अभिप्राय 'सु, औ, जस्, अम् और औट् से है। इसमे 'सर्वनामस्थानम्' सञ्ज्ञा है और 'अनपुसकस्य सुट्' सञ्ज्ञी। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा–'नपुसक लिङ्ग के अतिरिक्त 'सुट्' अर्थात् 'सु' आदि आरम्भ की पाँच विभक्तियाँ सर्वनामस्थान सञ्ज्ञक होती है।[६] जैसे–वनानि, राजा, राजानौ, राजान·, राजानम्, राजानौ इत्यादि। इनमे, 'वनानि' ''शि सर्वनामस्थानम्'' का उदाहरण है, शेष 'सुडनपुसकस्य' के।

'सर्व समस्तम् अविकृत नाम तिष्ठत्यस्मिन्निति सर्वनामस्थानम्' व्युत्पत्ति के आधार पर इस सञ्ज्ञा को अन्वर्थक भी माना जा सकता है। पूर्वाचार्यो ने अथवा अर्वाचीन वैय्याकरणो ने इस सञ्ज्ञा का प्रयोग नही किया है। केवल शास्त्रीय कार्य सम्पादन निमित्त इस सञ्ज्ञा की उद्भावना आचार्य पाणिनि ने की है। अष्टाध्यायी मे इस सञ्ज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्न है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्रसंख्या	कार्य	उदाहरण
१.	पथिमथो सर्वनामस्थाने	६।१।१६६	आदि उदात्त	अय पन्था
२	सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ	६।४।८	नान्त उपधा को दीर्घ	ज्ञानानि, राजा
३	उगिदचा सर्वनामस्थानेऽधातो	७।१।७०	नुम् का आगम	मघवान्
४.	इतोऽत् सर्वनामस्थाने	६।१।८६	इकार को अकार	पन्था·

(३) अपृक्त संज्ञा

अष्टाध्यायी के तीसरे अध्याय से लेकर पाँचवे अध्याय पर्यन्त जो 'कृत्' और तद्धित प्रभृति प्रत्यय कहे गये है, उनमे व्यञ्जन से रहित स्वर और स्वर से रहित व्यञ्जन रूप एकवर्ण मात्र के लिए अपृक्त सञ्ज्ञा का विधान करते हुए आचार्य पाणिनि ने कहा है कि ''अपृक्त एकाल् प्रत्यय ''[७] इसका अभिप्राय है कि एक वर्ण वाले प्रत्यय की अपृक्त सञ्ज्ञा होती है। वस्तुतः सूत्र मे एक पद के ग्रहणाभाव मे भी कार्य सिद्धि हो जाती किन्तु एक के ग्रहण से पाणिनि ने यह ज्ञापित किया है कि इस सूत्र के अलावा वर्ण का ग्रहण होने पर जाति का ही ग्रहण होता है। अपृक्त शब्द 'न पृक्त इति अपृक्तः'' विग्रह के आधार पर नञ् तत्पुरुष समास द्वारा निष्पन्न हुआ है। 'पृची सम्पर्के'' धातु से भाव अर्थ मे 'क्त ' प्रत्यय होकर निष्पन्न 'पृक्त' शब्द का अर्थ है 'मिश्रित'। और उससे भिन्न हुआ, 'अमिश्रित'। किससे

अमिश्रित? इस जिज्ञासा का समाधान है कि दूसरे वर्णो से अमिश्रित। इस प्रकार यह सज्ञा अन्वर्थक हुई।

आचार्य पाणिनि के पूर्व प्रातिशाख्यो में इस सज्ञा का बहुश· प्रयोग प्राप्त होता है। ऋक्प्रातिशाख्य मे अनेक स्थलों पर अपृक्त पद का प्रयोग हुआ है।[८] वाजसनेयि प्रातिशाख्य मे एक वर्ण वाले पद की अपृक्त सज्ञा का विधान किया गया है।[९] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य मे भी एक वर्ण वाले पद की अपृक्त सज्ञा का विधान किया गया है।[१०] यहाँ पर त्रिभाष्य-रत्नकार का अभिमत है कि अपृक्त का अभिप्राय है–व्यञ्जन से असयुक्त।[११] त्रिभाष्यरत्नकार के इस कथन से ज्ञात होता है कि प्रत्ययभूत, स्वर रूप वर्ण की अपृक्त सज्ञा उन्हे अभीष्ट थी। इसीलिये तैत्तिरीय प्रातिशाख्य मे अपृक्त सज्ञा सबन्धी कार्य केवल स्वरस्थलो पर देखा जाता है। शौनकीया चतुराध्यायिका[१२] मे अपृक्त सज्ञा का विधान तो नही किया गया है किन्तु व्यञ्जन से न मिले हुए अकेले स्वर के लिए अपृक्त संज्ञा का प्रयोग किया गया है। काशकृत्स्न व्याकरण मे 'अपृक्त एकवर्ण· प्रत्यय·'[१३] कहकर एक वर्ण वाले प्रत्यय की अपृक्त सज्ञा का स्पष्ट विधान किया गया है।

यहॉ पर ध्यातव्य है कि प्रातिशाख्यों मे जहाँ व्यञ्जन से असयुक्त स्वर की अपृक्त सज्ञा का विद्यान किया गया है, वही काशकृत्स्न व्याकरण और आचार्य पाणिनि ने एक वर्ण मात्र वाले प्रत्यय की अपृक्त सज्ञा का विधान किया है। इसके बावजूद पाणिनि द्वारा अपृक्त के जो भी कार्य दिखाये गये है, वे केवल हल् प्रदेश मे ही दृष्टिगोचर होते है। सम्भवत इसीलिये नागेश भट्ट ने कहा है कि– ''अपृक्त-प्रदेशेषु हल् ग्रहणेनैव सिद्धे सज्ञाविधानमदृष्टार्थम्।''[१४]

आचार्य पाणिनि के पश्चवर्ती अर्वाचीन वैय्याकरणो ने इस सज्ञा का विधान नही किया है। अपृक्त सज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	**सूत्र**	**अ०पा०सू०सं०**	**कार्य**	**उदाहरण**
१.	वेरपृक्तस्य	६।१।६७	वकार का लोप	युङ्, विभ्राट
२.	हलङ्याब्भयो दीर्घात् सुतिस्यपृक्त हल्	६।१।६८	अपृक्त हल् का लोप	सखा, कुमारी

३	गुणोऽपृक्ते	६।३।६१	गुण	और्णोत्, और्णो ।
४	अस्ति सिचोऽपृक्ते	७।३।६६	इडागम	आसीत्,
५.	रुदश्च-पचभ्य	७।३।६८	इडागम	अस्वपीत्, अश्वसीत्।
६	अड् गार्ग्य गालवयो	६।३।६६	अडागम	अस्वपत्, अश्वसत्।

(४) परस्मैपद संज्ञा

प्रातिशाख्यो मे स्वीकृत चतुर्विध पदों में से आख्यात के प्रकृति भूत धातु से होने वाले तिबादि प्रत्ययो के लिए परस्मैपद सज्ञा का विधान करते हुए सूत्रकार भगवान् दाक्षीपुत्र कहते है–''लः परस्मैपदम्''।[१५] इसका अभिप्राय है कि लादेश परस्मैपद सज्ञक होते हैं।[१६] वस्तुत समस्त लादेशो के लिए परस्मैपद सज्ञा का विधान सामान्यतया किया गया है किन्तु 'तडानावात्मनेपदम्'[१७] सूत्र द्वारा 'तङ्' प्रत्ययो के विषय मे परस्मैपद सज्ञा का बाध हो जाने के कारण तिङ् प्रत्याहार के प्रारम्भ के नौ प्रत्ययो की ही परस्मैपद सज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त 'लट्' के स्थान पर होने वाले शतृ[१८] प्रत्यय तथा लिट् के स्थान पर होने वाले 'क्वसु'[१६] की भी परस्मैपद सज्ञा होती है। आत्मनेपद सज्ञा द्वारा परस्मैपद सज्ञा का बाध होता है किन्तु ''सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु''[२०] सूत्र मे परस्मैपद के ग्रहण की ज्ञापकता के कारण प्रथम पुरुषादि सज्ञाओं के द्वारा परस्मैपद संज्ञा का बाध नही होता। वार्तिककार के ही शब्दो मे–''सिचि वृद्धौ तु परस्मैपदग्रहण ज्ञापकपुरुषाबाधकत्वस्य। व्याकरण शास्त्र विशारदो ने ''परस्मै परार्थ परप्रयोजनम् वा पद्यते ज्ञायते येन तत् परस्मैपदम्'' व्युत्पत्ति के आधार पर इसे अन्वर्थ सज्ञा माना है। अन्वर्थक होने के कारण ही जहाँ क्रिया फल कर्तृगामी होता है, वहा आत्मनेपद होता है और जहाँ परगामी होता है, वहाँ परस्मैपद होता है। हरदत्त के अनुसार आचार्य पाणिनि ने पूर्वाचार्य परम्परा का निर्वाह करते हुए इसे महासज्ञा के रूप मे विहित किया है। प्रदीपकार कैय्यट के अनुसार परस्मैपद और आत्मनेपद सज्ञाओं के स्थान पर वैय्याकरणो के मत मे आत्मनेभाषा और परस्मैभाषा शब्दो का व्यवहार होता रहा है।[२१] आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि ने भी ''न चैते क्वचिद् व्याकरणे कृते, आभ्यामपि वैय्याकरणा व्यवहरन्ति''[२२] कहकर आत्मेनपद और परस्मैपद के लिए 'आत्मनेभाषा और परस्मैभाषा पदो का प्रयोग स्वीकार किया है।

अष्टाध्यायी के पूर्व के सस्कृत वाड्मय मे अथर्ववेद प्रातिशाख्य[२३] मे परस्मै भाषा और काशकृत्स्न व्याकरण[२४] मे परस्मैपद शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है किन्तु वहा इनकी कोई परिभाषा नही प्रस्तुत की गयी है। अग्नि पुराण मे[२५] तिबादि नौ प्रत्ययों की परस्मैपद सज्ञा कही गयी है। नारद पुराण[२६] मे भी अग्नि पुराण के समान ही परस्मैपद सज्ञा का विवेचन उपलब्ध होता है।

पाणिनि से अर्वाचीन कातन्त्र व्याकरण में ''अथपरस्मैपदानि''[२७] सूत्र द्वारा परस्मैपद सज्ञा का विधान किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण मे परस्मैपद के स्थान पर 'म' सज्ञा का विधान किया गया है।[२८] तदनुसार लकारादेशो के स्थान मे होने वाले 'व्य' (प्रत्ययो) की 'म' सज्ञा होती है। सरस्वती कण्ठाभरण मे अष्टाध्यायी के समान ही परस्मैपद सज्ञा और इसके सज्ञियो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।[२९] आचार्यहिमचन्द्र ने कातन्त्र व्याकरण के समान परस्मैपद सज्ञा का विधान किया है।[३०] आचार्य मलयगिरि ने आचार्य हेमचन्द्र के समान ही परस्मैपद सज्ञा का विधान किया है[३१] और इसके लिए ''परस्मै'' शब्द का भी प्रयोग किया है।[३२] सारस्वत व्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने ''नवपरस्मैपदानि''[३३] सूत्र द्वारा परस्मैपद सज्ञा का विधान किया है। मुग्धबोधकार आचार्य बोपदेव ने पूर्व के 'नव' परस्मैपद (प्रत्ययो) की 'प' सज्ञा का विधान किया है।[३४] सुपद्म व्याकरण में लकारो के स्थान मे विहित 'तिङ् के प्रारम्भ मे नौ प्रत्यय 'शतृ' तथा 'क्वसु' की परस्मै सज्ञा का विधान किया है।[३५] प्रयोगरत्नमाला मे भी 'तिङ्' के आदि मे आने वाले नौ प्रत्ययों की परस्मैपद सज्ञा विहित है।[३६] हरिनामामृत व्याकरण में आदि के नौ प्रत्ययों की परस्मैपद के स्थान पर 'परपद' सज्ञा का विधान किया गया है।[३७]

अष्टाध्यायी में अधोलिखित सूत्रो में परस्मैपद सज्ञा का प्रयोग किया गया है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	अनुपराभ्या कृञ	१।३।७९	परस्मैपद	अनुकरोति, पराकरोति।
२	व्याङ्परिभ्योरम	१।३।८३	परस्मैपद	विरमति, आरमति, परिरमति।
३.	प्राद्वह	१।३।८१	परस्मैपद	प्रवहति

४.	परस्मैपदानाणलतुसुस्थलथु	३।४।८२	णलादेश	बभूव, बभूविम।
	सणल्वमाः			
५	सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु	७।२।१	वृद्धि	अवैषीत् असौषीत् अकार्षीत्।।

(५) आत्मनेपद संज्ञा

सूत्रकार तिबादि लादेशो के लिए सामान्य रूपेण परस्मैपद सज्ञा कहकर ''तडानावात्मनेपदम्''[३८] सूत्र द्वारा उसके अपवाद रूप आत्मनेपद सज्ञा का विधान करते है। सूत्र का तात्पर्य है कि तड् प्रत्याहार, शानच् और कानच् प्रत्ययो की आत्मनेपद संज्ञा हो।[३९] यह सज्ञा परस्मैपद सज्ञा का अपवाद है। तड् प्रत्याहार का अभिप्राय है– तिङ् के अन्तर्गत 'त' प्रत्यय से लेकर 'महिङ्' प्रत्यय पर्यन्त आने वाले नौ प्रत्यय। सूत्र मे आये हुए 'आन्' पद से शानच् और कानच् का ही ग्रहण किया जाएगा, न कि चानश् आदि का। इसलिए ही ''कतीहनिध्नाना·'' इत्यादि स्थलो पर परस्मैपदी धातुओं से भी 'चानश्' का प्रयोग उपलब्ध होता है। 'शानच्' का विधान ''लट शतृ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे[४०] सूत्र से 'लट्' के स्थान पर और ''लिट· कानज्वा''[४१] से लिट् के स्थान पर कानच् का विधान होता है।

व्याकरणशास्त्रवेत्ताओं ने ''आत्मने आत्मार्थः- आत्मप्रयोजनम् वा पद्यते ज्ञायते येन तदात्मने पदम्'' व्युत्पत्ति के आधार पर इसे अन्वर्थक संज्ञा माना है। प्रदीपकार कैय्यट के अनुसार व्याकरण सम्प्रदाय मे आत्मेनपद के स्थान पर आत्मने भाषा शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है।[४२]

अष्टाध्यायी के पूर्व सस्कृत वाङ्मय मे सर्वप्रथम अथर्ववेद प्रातिशाख्य[४३] में आत्मनेभाषा और काशकृत्स्न[४४] व्याकरण मे आत्मनेपद शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। किन्तु उभयत्र उनकी परिभाषा नही मिलती। अग्नि पुराण में 'तिङ्' के अन्तर्गत अन्तिम नौ प्रत्ययो की आत्मनेपद संज्ञा का विधान किया गया है।[४५] नारद पुराण में भी 'त आते अन्ते, से आथे ध्वे, ए वहे तथा महे' की आत्मनेपद सज्ञा को विहित किया गया है।[४६] वैसे इस पुराण में आत्मने भाषा शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[४७] आत्मनेपद और परस्मैपद दोनो के लिए उभयेभाषा शब्द भी नारद पुरुष मे व्यवहृत हुआ है।[४८]

अष्टाध्यायी से अर्वाचीन कातन्त्र व्याकरण मे आत्मनेपद सज्ञा के स्थान पर इसके एकदेश

''आत्मने'' सज्ञा का विधान किया गया है।[४६] आचार्य देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण मे आत्मनेपद के स्थान पर 'द' सज्ञा का विधान किया है।[५०] सरस्वतीकण्ठाभरण मे अष्टाध्यायी के समान ही आत्मनेपद सज्ञा विहित है।[५१] हेमचन्द्र ने बाद के नौ प्रत्ययो और 'कान्' तथा 'आनश्' की आत्मनेपद सज्ञा का विधान किया है।[५२] इसके साथ ही आत्मनेपद के स्थान पर उन्होने आत्मने शब्द का भी प्रयोग किया है।[५३] आचार्य मलयगिरि ने हेमचन्द्र का अनुकरण करते हुए आत्मनेपद सज्ञा का विधान [५४] और आत्मने शब्द का प्रयोग किया है।[५५] सारस्वत व्याकरण मे आचार्य अनुभूति स्वरूप ने ''पराण्यात्मने-पदानि''[५६] इस स्वोपज्ञवृत्ति द्वारा आत्मनेपद सज्ञा का विधान किया है। आचार्य बोपदेव ने मुग्ध बोध[५७] व्याकरण मे बाद के नौ 'त्य' (प्रत्ययो) के लिए 'म' (आत्मनेपद) सज्ञा का विधान किया है। आचार्य पद्मनाभदत्त[५८] ने लटादि लकारो के स्थान मे विहित बाद के नौ प्रत्ययो तथा 'आन' = शान और कान् और तङ् की आत्मने पद संज्ञा का विधान किया है। प्रयोगरत्नमाला[५९] मे भी आत्मने पद सज्ञा का विधान किया गया है। आचार्य जीव-गोस्वामी[६०] ने आत्मनेपद सज्ञा के स्थान पर 'आत्मपद सज्ञा का विधान किया है, किन्तु सज्ञी का स्वरूप पूर्ववर्ती व्याकरणो के समान ही है।

अष्टाध्यायी मे आत्मनेपद सज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	अनुदात्तङित आत्मनेपदम्	१।३।१२	आत्मनेपद	आस्ते, शेते।
२	नेर्विश	१।३।१७	आत्मनेपद	निविशते।
३.	व्यक्तवाचा समुच्चारणे	१।३।४८	आत्मनेपद	सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणा
४.	आत्मनेपदेष्वनत·	७।१।५	झस् को अत् आदेश	ऐधिषत।
५	आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्	२।४।४४	हन् धातु को वध आदेश	अवधिष्ट।

(६) प्रथममध्यमोत्तम संज्ञा

आचार्य पाणिनि 'एक सज्ञा के अधिकार में कही-कहीं अनेक संज्ञाएं भी हो सकती है', इस तथ्य को ज्ञापित करने के लिये परस्मैपद और आत्मनेपद संज्ञक प्रत्ययों के लिए पुन· प्रथम, मध्यम,

उत्तम सञ्ज्ञा का विधान करते हुए कहते है कि–''तिङ्स्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमा ।[६१] उक्त सूत्र मे ''ल. परस्मैपदम्''[६२] सूत्र से 'परस्मैपदम्' और 'तङानावात्मनेपदम्''[६३] सूत्र से 'आत्मनेपदम्' का अनुवर्तन होगा और विभक्ति विपरिणाम होकर दोनो 'षष्ठ्यन्त' हो जायेगे। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा–परस्मैपद मे तीनो त्रिक् क्रम से प्रथम, मध्यम, उत्तम, उत्तम सञ्ज्ञक होते है।[६४] आत्मनेपद मे भी तीनो त्रिक् क्रमश प्रथम, मध्यम और उत्तमसञ्ज्ञक होते है। प्रथम पुरुष का प्रयोग अन्य के अर्थ में, मध्यम पुरुष का प्रयोग युष्मद् के अर्थ मे और उत्तम पुरुष का प्रयोग अस्मद् अर्थ मे होता है। प्रथमादि के साथ पुरुष सञ्ज्ञा का व्यवहार प्राचीन आचार्यो के प्रयोग के आधार पर जाननी चाहिए।[६५] वस्तुत. इन महासञ्ज्ञाओं का शास्त्र मे व्यवस्थापन लोकव्यवहार के अनुसार ही प्रतीत होता है। क्योकि लोक मे भी परोक्ष विषय मे प्रथम पुरुष तथा प्रत्यक्ष विषय में मध्यम और उत्तम पुरुष का प्रयोग देखा जाता है। इस सन्दर्भ मे आचार्य यास्क का अधोलिखित कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जो उन्होने ऋचाओं के त्रैविध्य के प्रतिपादन के निमित्त कहा है–

''तास्त्रिविधा ऋच । परोक्षकृता , प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृता· सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृतामध्यमपुरुषयोगा । त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा.। अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना''।[६६]

अष्टाध्यायी से पूर्व पारिभाषिक संज्ञा के रूप मे मध्यम शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्व-प्रातिशाख्य मे मिलता है।[६७] काशकृत्स्न व्याकरण में भी प्रथमादि के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है।[६८]निरुक्त मे भी प्रथम, मध्यम और उत्तम शब्द सञ्ज्ञा के रूप मे प्रयुक्त हुए है।[६९] अग्निपुराण[७०] और नारद पुराण[७१] मे भी प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष का व्यवहार सञ्ज्ञा के रूप मे हुआ है।

आचार्य पाणिनि के बाद के व्याकरण ग्रन्थों में कातन्त्र-व्याकरण[७२] में परस्मैपद संज्ञक और आत्मनेपद सञ्ज्ञक प्रत्ययो के तीन-तीन त्रिकों की प्रथम, मध्यम और उत्तम सञ्ज्ञाए कही गयी हैं। चान्द्र व्याकरण मे मध्यम[७३] और उत्तम[७४] पद का प्रयोग विना परिभाषा के ही किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण,[७५] सिद्धहेमशब्दानुशासन[७६] और शब्दानुशासन[७७] में प्रथम, मध्यम और उत्तम के स्थान पर अन्य, युष्मद् और अस्मद् संज्ञाओं का विधान किया गया है। शाकटायन[७८] व्याकरण मे भी विना

परिभाषा के ही प्रथम, मध्यम और उत्तम के स्थान पर अन्य, युष्मद् और अस्मद् का प्रयोग किया गया है। भोजदेव ने अष्टाध्यायी के समान ही प्रथम, मध्यम और उत्तम सञ्ज्ञाओं का व्यवहार किया है।[७९] सारस्वत व्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने प्रथम, मध्यम और उत्तम सञ्ज्ञाओं का प्रयोग किया है।[८०] मुग्धबोधकार ने प्रथम, मध्यम और उत्तम सञ्ज्ञाओं के स्थान पर 'लि' युष्मद् और अस्मद् सञ्ज्ञाओं का विधान किया है।[८१] सुपद्म व्याकरण में भी 'तिङो' के त्रिक् की प्रथम, मध्यम, उत्तम सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।[८२] प्रयोगरत्नमाना [८३] और हरिनामामृत व्याकरण[८४] में भी प्रथम, मध्यम और उत्तम सञ्ज्ञाए व्यवहृत हुई है।

अष्टाध्यायी में इन सञ्ज्ञाओं के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सू०	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	शेषे प्रथम·	१।४।१०८	तिङ् प्रत्यय	पचति, पचत , पचन्ति
			एधते, एधेते, एधन्ते।	
२	युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे-स्थानिन्यपि मध्यम	१।४।१०५	तिङ् प्रत्यय	पठसि, पठथ , पठथ एधसे, एधाथे, एधध्वे।
३	प्रहासे च मन्योपपदेमन्यते-रुत्तम एकवच्च।	१।४।१०६	इट् प्रत्यय	एहिमन्ये, ओदन भोक्ष्यसे इति नहि भोक्ष्यसे भुक्त सोऽतिथिभि·।।
४	अस्मद्युत्तम	१।४।१०७	मिबादि प्रत्यय	गच्छामि, गच्छाव , गच्छाम , यजे, यजावहे, यजामहे।
५.	णलुत्तमो वा	६।१।६१	णिद्भाव	चखाद, जगाद।
६	आडुत्तमस्य पिच्च	३।४।९२	आडागम	भवानि।
७.	स उत्तमस्य	३।४।९८	सकार का लोप	करवाव, करवाम।

(७) एक वचन, द्विवचन, बहुवचन

आचार्य पाणिनि ने जिन प्रत्ययो के लिए परस्मैपद और आत्मनेपद तथा प्रथम, मध्यम और उत्तम (पुरुष) सज्ञाओं का विधान किया है। उन्हे के लिए क्रमश एकवचन द्विवचन एव बहुवचन सज्ञाओं का विधान करते हुए कहते है कि–''तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकश ।[८५] इसका अभिप्राय है कि तिड् के जिन त्रिको की प्रथमादि सज्ञा की जा चुकी है उनके तीन प्रत्ययो की क्रमश एकवचन, द्विवचन और बहुवचन सज्ञा हो।[८६] इसके अतिरिक्त सूत्रकार 'सुप [८७] सूत्र द्वारा भी एकवचन, द्विवचन और बहुवचन सज्ञाओं का विधान करते है। इस सूत्र मे प्रथम सूत्र से एकवचन, द्विवचन और बहुवचन सज्ञा वाले हो।[८८] प्रथम सूत्र मे 'तानि' पद के ग्रहण के कारण परस्मैपदादि सज्ञाए भी सम्भव हो जाती हैं अन्यथा एक सज्ञाधिकार की प्रवृत्ति होने लगती। शास्त्रीय प्रयोग मे एकत्व और बहुत्व सदैव अविवक्षित होता है क्योकि जात्युद्दिष्ट प्रयोगो में कब एकत्व का प्रयोग होगा अथवा बहुत्व का, इसका इदमित्थ निर्धारण नही किया गया है किन्तु द्वित्व का प्रयोग व्यक्तिद्वय के उद्दिष्ट होने के कारण सर्वत्र विवक्षित ही होता है। जैसा कि भर्तृहरि ने स्वयं कहा है–

''एकत्वं वा बहुत्व वा केषाञ्चिदविवक्षितम्।

तद्धि जात्यभिधानाय द्वित्वं तु स्याद् विवक्षितम्।।[८९]

इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं उपलक्षण होता है, वहाँ द्वित्त्व भी अविवक्षित हो जाता है, ऐसा व्याकरणशास्त्र विशारदो का अभिमत है।''

प्रौढमनोरमाकार आचार्य भट्टोजिदीक्षित के अनुसार वचन शब्द सख्यापरक है[९०] और सख्या के रूप में पूर्वाचार्यो द्वारा व्यवहृत भी है।[९१] व्याकरणशास्त्रविदो के अनुसार एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन सज्ञा, ''एकत्वमुच्यतेऽनेन तदेकवचनम्, द्वित्वमुच्यतेऽनेन तद्विवचन, बहुत्त्वमुच्यतेऽनेन तद्बहुवचनम्'' व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है। लोक में भी जहाँ एकत्व अभिप्रेत होता है, वहाँ एकवचन, द्वित्व के अभिप्रेत होने पर द्विवचन और बहुत्व के अभिप्रेत होने पर बहुवचन का प्रयोग होता है। सम्भवतः इसी लोक दृष्टान्त के आधार पर शास्त्र मे भी यह व्यवस्था सम्पन्न की गयी है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती सस्कृत वाड्मय मे सर्वप्रथम गोपथ ब्राह्मण मे वचन शब्द का

प्रयोग हुआ है[९२], जो एकवचन, द्विवचन और बहुवचन का वाचक है। निरुक्त मे भी एकवचन[९३], द्विवचन[९४] और बहुवचन[९५] का स्पष्टत प्रयोग हुआ है। बृहद्देवता मे भी वचन शब्द एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के लिए प्रयुक्त किया गया है।[९६] ऋक्तन्त्र मे एकवचन शब्द का प्रयोग हुआ है।[९७] अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे एकवचन[९८], द्विवचन[९९] और बहुवचन[१००] शब्द का प्रयोग किया गया है जो व्याख्याकारो के अनुसार एकवचन, द्विवचन और बहुवचन का बोधक है।[१०१]अग्निपुराण मे भी एकवचन, द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग किया गया है।[१०२]

अष्टाध्यायी से बाद के व्याकरण ग्रन्थो मे कान्तन्त्र व्याकरण मे विना परिभाषा के ही एकवचन[१०३], द्विवचन[१०४] और बहुवचन[१०५] शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य चन्द्रगोमिन् ने एकवचन के लिए 'एक' द्विवचन के लिए 'द्वि' और बहुवचन के लिए 'बहु' शब्द का प्रयोग किया है।[१०६] आचार्य देवनन्दी ने चन्द्रगोमिन् के समान ही एक, द्वि और बहु सज्ञाओं का प्रयोग किया है।[१०७] शाकटायन व्याकरण मे भी जैनेन्द्र व्याकरण का अनुसरण किया गया है।[१०८] सरस्वतीकण्ठाभरण मे अष्टाध्यायी के समान ही एकवचन, द्विवचन और बहुवचन की सज्ञा का विधान किया गया है।[१०९] सिद्धहेमशब्दानुशासन[११०] और शब्दानुशासन[१११] में भी चान्द्रव्याकरण के समान एक, द्वि, और बहु, सज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। सारस्वत व्याकरण मे यद्यपि, एकवचन, द्विवचन और बहुवचन सज्ञाओं का विधान तो नहीं किया गया है किन्तु अनेक स्थलों पर एकवचन, द्विवचन और बहुवचन शब्दो का प्रयोग किया गया है।[११२] मुग्धबोध व्याकरण में एकवचन के लिए 'व्व', द्विवचन के लिए 'द्र' और बहुवचन के लिए 'ब्व' सज्ञाए व्यवहृत हुई है।[११३] सुपद्मव्याकरण मे 'सुप्' और तिङ् के तीन-तीन त्रिक मे से प्रत्येक की क्रमश एकत्त्व, द्वित्व और बहुत्व की विवक्षा में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन सज्ञा होती है।[११४] प्रयोगरत्नमाला मे भी एकवचन, द्विवचन और बहुवचन सज्ञा का विधान किया गया है।[११५] हरिनामामृतव्याकरण मे एकत्त्व, द्वित्त्व और बहुत्त्व की विवक्षा मे एकवचन, द्विवचन और बहुवचन सज्ञाओं का विधान किया है।[११६]

अष्याध्यायी मे एकवचन सज्ञा का प्रयोग निम्न सूत्रो मे किया गया है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने	१।४।२२	एकत्व के लिए एकवचन का विधान	बालोऽयमागच्छति।
२	द्विगुरेकवचनम्	२।४।१	एकवचनत्व	पञ्चगवम्, त्रिलोकम्।
३	एकवचन सम्बुद्धि	३।३।४६	सम्बुद्धि सज्ञा	हे राम! हे हरे!
४.	एकवचनस्य च	७।१।३१	ङसि को अत् आदेश	त्वत्, मत्।
५	तवकममकावेकवचने	४।३।३	तवक और ममक आदेश	तावकीन:, मामकीन:।
६	त्वमावेकवचने	७।२।९७	त्व और म आदेश	त्वाम्, माम्।
७	ते मयावेकवचनस्य	८।१।२२	ते और मे आदेश	दत्तात्ते मेऽपि शर्म स । स्वामी ते मेऽपि स हरि ।

अष्टाध्यायी मे द्विवचन सज्ञा के प्रयोग स्थल अधोलिखित है–

क्र०सं०	सू०	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने	१।४।२२	द्वित्व के लिये द्विवचन का विधान	तौगच्छत:, ब्राह्मणौ पठत ।
२	तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचन नित्यम्	१।२।६३	बहुवचन के लिए द्विवचन	तिष्यपुनर्वसू
३	द्विवचन विभज्योपदे-तरवीयसुनौ	५।३।५७	तरप् और ईयसुन् प्रत्यय	लघुतर , लघीयान्।
४	ई च द्विवचने	७।१।६६	ईकार को उदात्त आदेश	अक्षीभ्यो ते नासिकाभ्याम्

५	प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्	७।२।८८	आकार रूप अन्तादेश	युवाम आवाम्

एवमेव अष्टाध्यायी मे बहुवचन सज्ञा के प्रयोगस्थल है–

१.	बहुषु बहुवचनम्	१।४।२१	बहुवचन का विधान	बालका· पठन्ति गच्छन्तो हसन्ति
२.	जात्याख्यायामेकस्मिन्बहु-वचनमन्यतरस्याम्	१।२।५८	बहुवचन का विधान	ब्राह्मणाः पूज्याः।
३.	बहुवचने झल्येत्	७।३।१०३	अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश	रामेभ्य·, बालेभ्य ।
४.	बहुवचनस्य वस्नसौ	८।१।२१	वस् और नस् आदेश	व , न·।
५	एत ईद् बहुवचने	८।२।८१	ईत् आदेश	अमी।

(८) विभक्ति संज्ञा

अष्टाध्यायी मे 'सुप् और तिङ्' की परस्मैपद और आत्मनेपद, प्रथम, मध्यम और उत्तम तथा एक वचन, द्विवचन, और बहुवचन सज्ञाए करने के पश्चात् आचार्य पाणिनि पुन· सुप्– और तिङ् की विभक्ति सज्ञा का विधान 'विभक्तिश्च''[११७] सूत्र द्वारा करते है। सूत्र मे 'सुप·'[११८] सूत्र से 'सुपः' शब्द का अनुवर्तन और ''तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमा·''[११९] सूत्र से ''तिङ्'' पद के अनुवर्तन के पश्चात् विभक्ति विपरिणाम होगा। तत्पश्चात् सूत्रार्थ निष्पन्न होगा–'सुप्' और 'तिङ्' विभक्ति सज्ञक होते है।[१२०] आचार्य पाणिनि 'सुप्' और 'तिङ्' के अतिरिक्त कुछ तद्धित प्रत्ययो का भी'' ''प्राग्दिशो विभक्ति ।''[१२१] सूत्र द्वारा विभक्ति सज्ञा का विधान करते है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि–यहाँ से लेकर ''दिक्शब्देभ्य सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देश-कालेष्वस्ताति·''[१२२] सूत्र से पूर्व के छब्बीस सूत्रो से किये जाने वाले प्रत्ययो की विभक्ति सज्ञा हो।[१२३] चाहे 'सुप्' हो या 'तिङ्' अथवा तद्धित

प्रत्यय। इनकी विभक्ति सज्ञा करने का उद्देश्य ''न विभक्तौ तुस्मा.''[१२४] सूत्र द्वारा इत्सज्ञा का निषेध है।

व्याकरणशास्त्रविदो के अनुसार ''विभज्यतेऽनया प्रातिपदिकार्थ इति विभक्ति.[१२५] व्युत्पत्ति के आधार पर विभक्तिसज्ञा अन्वर्थक है। यद्यपि प्रत्येक सुप् प्रत्ययो की विभक्ति सज्ञा होती है तो भी पूर्वाचार्यो के द्वारा मुख्य रूप से सात विभक्तियों का ही व्यवहार किया गया है। आचार्य भट्टोजिदीक्षित के ही शब्दो मे-''तत्र सु, औ, जस् इत्यादीनाम् सप्तानाम् त्रिकाणाम् प्रथमादय सप्तम्यन्ता· प्राचाम् सज्ञास्ताभिरिहापि व्यवहार ।''[१२६]

पारिभाषिकसज्ञा के रूप मे अष्टाध्यायी से प्राचीन सस्कृत-वाड्मय मे विभक्तिसज्ञा का प्रयोग सर्वप्रथम गोपथ ब्राह्मण मे उपलब्ध होता है।[१२७] इसके पश्चात् निरुक्त,[१२८] बृहद्देवता[१२९], वाजसनेयि प्रातिशाख्य[१३०], ऋक्तन्त्र[१३१], अथर्ववेद प्रातिशाख्य[१३२] प्रातिशाख्य और काशकृत्स्न व्याकरण[१३३] व्याकरण मे भी विभक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु इन ग्रन्थो में इनके स्वरूप का विवेचन नही किया गया है। नाट्यशास्त्र[१३४] मे भी विभक्ति संज्ञा का विधान किया गया है। अग्निपुराण[१३५] और नारदपुराण[१३६] मे भी विभक्ति सज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है।

पाणिनि के पश्चात कातन्त्र व्याकरण[१३७], जैनेन्द्र व्याकरण[१३८] व्याकरण, शाकटायन व्याकरण[१३९], सरस्वती कण्ठाभरण[१४०], सिद्धहेमशब्दानुशासन[१४१] और शब्दानुशासन[१४२] में भी विभक्ति सज्ञा का विधान किया गया है। सारस्वत व्याकरण मे विभक्ति संज्ञा विधायक कोई सूत्र तो नहीं है किन्तु आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने स्वोपज्ञवृत्ति में विभक्ति पद का प्रयोग किया है।[१४३] मुग्धबोधकार ने 'सि' आदि तथा तिप् आदि की विभक्ति सज्ञा के स्थान पर उसके एक देश 'क्ति' संज्ञा का विधान किया है।[१४४] आचार्य पद्मनाभ दत्त ने सुप् और तिङ् को विभक्ति सज्ञक कहा है।[१४५] प्रयोगरत्नमाला मे भी 'सुप्' और तिङ् की विभक्ति सज्ञा का विधान किया गया है।[१४६] आचार्य जीवगोस्वामी ने 'सु' आदि और तिबादि की विभक्ति के स्थान पर 'विष्णुभक्ति' सज्ञा का विधान किया है।[१४८]

अष्टाध्यायी मे विभक्ति संज्ञा के प्रयोग क्षेत्र निम्नलिखित है-

क्र०सं०	सू०	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	न विभक्तौ तुस्मा	१।३।४	इत्सञ्ज्ञा का निषेध	रामा , एधेते, एधसे
२	अष्टन आ विभक्तौ	६।२।८४	आत्व	अष्टौ, अष्टाभि ।
३	ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्	६।३।१३२	दीर्घ	यदोषधीभ्य·।
४.	इकोऽचि विभक्तौ	६।१।७३	नुमागम	वारिणी
५.	प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण-वचनमात्रे प्रथमा	२।३।४६	प्रथमा विभक्ति	कृष्ण , श्री· ज्ञानम्, तट·।।

(६) आमंत्रित संज्ञा

अष्टाध्यायी मे आचार्य पाणिनि ने आमत्रित सज्ञा का विधान 'सामन्त्रितम्'<१४८> सूत्र द्वारा किया है। सूत्र मे 'सा' इस सर्वनाम से सम्बोधन मे विहित प्रथमा का परामर्श होता है। तदनुसार सूत्रार्थ होगा–सम्बोधन मे जो प्रथमा तदन्त शब्द रूप की 'आमत्रित सज्ञा होती है।[१४९] जैसे–''अग्न' 'इन्द्र', 'वरुण', 'मित्र', 'देवा', यहॉ पर ''आमत्रितस्य च''[१५०] सूत्र द्वारा आदि उदात्तता होती है। ''इम मे 'गङ्गे' 'यमुने', सरस्वति। इस वाक्य मे ''आमत्रितस्य च'[१५१] सूत्र द्वारा आमत्रित सज्ञक गङ्गादि अनुदात्त और उसकी भी ''स्वरितात् सहितायामनुदात्तानाम्''<१५२ सूत्र से एकश्रुति होती है।।

यद्यपि ''सज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति'' इस न्याय से यह सज्ञा तदन्त की नहीं होनी चाहिए। किन्तु महासज्ञाकरण के कारण यह ज्ञात होता है कि यह सज्ञा तदन्त की ही होगी, अन्यथा सज्ञाकरण ही व्यर्थ हो जाएगा। महागज्ञा होने के कारण यह अन्वर्थक सज्ञा है। जैसा कि पदमञ्जरीकार हरदत्त ने कहा है–

''महासज्ञाकरणमन्वर्थसज्ञाविज्ञापनम्'' 'आमत्रणमामत्रितमिति'। अभेदोपचारात् तत्साधने शब्दे वर्तते।[१५३]

पाणिनि के पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे उपलब्ध होने के कारण यह संज्ञा पूर्वाचार्य प्रणीत है, जिसे आचार्य पाणिनि ने भी शास्त्रीय कार्य सम्पादनार्थ स्वीकार किया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ''न–·

सप्तम्यामन्त्रितयो '[१५४] सूत्र द्वारा और अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे "आमन्त्रितादाद्युदात्तादाख्यात न निहन्यते"[१५५] आदि सूत्रो द्वारा आमन्त्रित सञ्ज्ञा का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। अर्वाचीन व्याकरणग्रन्थो मे आमन्त्रित सञ्ज्ञा का प्रयोग प्राय नही देखा जाता किन्तु कातन्त्र व्याकरण मे "आमन्त्रितेसि· सम्बुद्धि "[१५६] सूत्र द्वारा 'आमन्त्रित' पद का व्यवहार हुआ है।

अष्टाध्यायी मे आमन्त्रित सञ्ज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र संख्या	कार्य	उदाहरण
१.	आमन्त्रितस्य च	६।१।१९८	आद्युदात्त	अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवा
२.	आमन्त्रितस्य च	८।१।१९	अनुदात्त	इम मे गङ्गे यमुने सरस्वति
३.	वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयाऽस-मतिकोप-कुत्सनभर्त्सनेषु	८।१।८	आमन्त्रित का द्वित्व	देवदेव वन्द्योऽसि
४	आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके	८।१।५५	अनुदात्त निषेध	आम् पचसि देवदत्त।
५	आमन्त्रित पूर्वमविद्यमानवत्	८।१।७२	अविद्यमानवद्भाव	अग्ने तव, देवास्मान् पाहि।
६.	नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्।	८।१।७३	अतिदेश का निषेध	हरे दयालो न पाहि।

(१०) सम्बुद्धि संज्ञा

आचार्य पाणिनि सम्बोधन की प्रथमा विभक्त्यन्त की आमन्त्रित सञ्ज्ञा करने के पश्चात् सम्बुद्धि सञ्ज्ञा का विधान "एकवचन सम्बुद्धि·"[१५७] सूत्र द्वारा करते है। सूत्र का अभिप्राय है कि आमन्त्रित प्रथमा का जो एकवचन वह सम्बुद्धिसञ्ज्ञक होता है।[१५८] जैसे–हे राम! यहाँ पर सम्बुद्धि संज्ञा होने पर

''एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धे ''[१५९] सूत्र से 'सु' का लोप होता है। और हे हरे। यहाँ पर ''ह्रस्वस्य गुण ''[१६०] सूत्र से गुणादेश और 'सु' का लोप होता है। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि जब एकवचन की ही सम्बुद्धि सञ्ज्ञा होनी है तो क्यो नही आचार्य पाणिनि ने 'सु. सम्बुद्धि ' सूत्र बनाकर लाघव पक्ष नही अपनाया? वस्तुत सम्बोधन मे प्रथम का अधिकार होने से सप्तमी विभक्ति के बहुवचन 'सु' को 'सम्बुद्धि सञ्ज्ञा होने की आशङ्का का भी निवारण स्वत हो जाता है। यही नही 'सञ्ज्ञा विधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति'' परिभाषा के आधार पर तदन्तविधि का निषेध भी हो जाता है। ''ह्रस्वस्य गुणः'' सूत्र द्वारा सम्बुद्धि के परे रहने पर अङ्ग के गुण विधान के कारण भी तदन्त विधि सम्भव नही है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि सूत्रकार ने एकवचन का ग्रहण तदन्तविधि के निवारणार्थ किया है तो यह तर्क भी खण्डित हो जाता है। इन्ही तर्को के आधार पर बालमनोरमाकार वासुदेव दीक्षित[१६१] और नागेशभट्ट[१६२] जैसे विद्वानो ने ''सु सम्बुद्धि '' सूत्र निर्माण को ही उचित माना है, जबकि न्यासकार[१६३] ने सूत्रकार के ही मत का समर्थन किया है।

सम्बुद्धि सञ्ज्ञा ''सम्बुद्ध्यते अभिमुखो भवति यया सा सम्बुद्धिः'' व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है। यद्यपि यह सञ्ज्ञा पूर्व-व्याकरण ग्रन्थो मे उपलब्ध नही होती। जिससे यह प्रतीत होता है कि यह आचार्य पाणिनि प्रणीत सञ्ज्ञा है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[१६४] और मुग्धबोध व्याकरण में 'आमन्त्रिते सि सम्बुद्धि ''[१६५] सूत्र द्वारा सम्बुद्धि सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण में सम्बुद्धि के स्थान पर 'कि'[१६६] सञ्ज्ञा का विधान किया गया है।

अष्टाध्यायी मे सम्बुद्धि संज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्न है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः	६।१।६९	हल्लोप	हे राम! हे हरे!
२	सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे	१।१।१६	प्रगृह्य सञ्ज्ञा	विष्णो इति
३.	अम् सम्बुद्धौ	७।१।९९	अम् का आगम	हे अनड्वन्!
४	सम्बुद्धौ च	७।३।१०६	आप् को एकार	हे रमे!
५	सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ	६।४।८	उपधा को दीर्घ	सखा।

(११) प्रत्यय संज्ञा

सूत्रकार महर्षि पाणिनि ने पद की सिद्धि के लिए कल्पित प्रकृति-प्रत्यय मे से सर्वप्रथम प्रकृति रूप मूलधातु और प्रातिपदिक का निरूपण अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय मे किया है। द्वितीय अध्याय मे समासादि पर विचार किया है। तृतीय अध्याय का प्रारम्भ दाक्षीपुत्र भगवान् शालङ्कि प्रत्यय विचार से करते है। उन्होने प्रत्यय सज्ञा का विधान अधिकार सूत्र के माध्यम से किया है। उनके द्वारा विहित सूत्र है ''प्रत्यय ''।[१६७] इसका अभिप्राय है कि पञ्चम अध्याय पर्यन्त जिनका विधान किया जायेगा, प्रकृति उपपद उपाधि और विकार को छोड़कर वे प्रत्यय सज्ञक होगे।[१६८] इस पर प्रश्न उठता है कि अधिकार सूत्र के बजाय ''गुप्तिज्किद्भ्य· सन्''[१६९] से सकार और 'उर· प्रभृतिभ्य·कप्''[१७०] से पकार का ग्रहण करके 'प्रत्ययः सप्' सूत्र का निर्माण सूत्रकार ने क्यों नही किया? जिससे इसके अन्तर्गत आने वाले सभी की प्रत्यय सज्ञा हो जाती है। इसका समाधान यह है कि प्रत्यासत्तिन्याय से 'कप्' के स्थान पर 'क्यप्' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होने लगता जिससे 'कप्' प्रत्यावधि का बोध न हो पाता। इसलिए स्पष्ट-प्रतिपत्ति के लिए सूत्रकार ने अधिकार सूत्र का आश्रय ग्रहण किया। प्रत्यय सज्ञा के अन्तर्गत ''गुप्तिज्किद्भ्य· सन्'' इत्यादि सूत्रो द्वारा बोधित गुपादि प्रकृतियो, ''स्तम्बकर्णयो· रमिजपो ''[१७१] इत्यादि सूत्रो मे उल्लिखित स्तम्बादि उपपदों, हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ''[१७२] इत्यादि सूत्रों में कथित पशु आदि उपाधियों 'हनस्त च''[१७३] इत्यादि सूत्रो में आये हुए तादि विकारो तथा ''त्रपुजतुनोः षुक्''[१७४] इत्यादि सूत्रों से होने वाले षुगादि आगमों की प्रत्यय संज्ञा नहीं होती।

प्रत्यय सज्ञा अर्थाश्रय होने के कारण अन्वर्थक होती है। विकार और आगम के प्रत्ययत्व निरसन के सन्दर्भ में भाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से इसकी अन्वर्थता का प्रतिपादन करते हुए कहा है –

''अर्थाश्रयकत्वाद्वा। अथवा अर्थाश्रयः प्रत्ययविधिः। परस्तमर्थ-सम्प्रत्यायति स प्रत्यय । किं वक्तव्यमेतत्? न हि - - - - - - - -। तत्र महत्याः सज्ञाया· करणे एतत्प्रयोजनम् - - - अन्वर्थ संज्ञा यथा विज्ञायेत - - - प्रत्याययतीति प्रत्यय । प्रत्याय्यते इति प्रत्ययः[१७५]।।'' न्यासकार आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि ने भी प्रत्यय को महासज्ञा और अन्वर्थक माना है। इसके साथ ही साथ आगम विकारादि के

प्रत्ययत्व का निषेध भी किया है। उन्हीं के शब्दो में–

''आगमविकारयोर्यद्यपि सज्ञासज्ञिसम्बन्धयोग्यतया प्रथमया निर्देशो विधेयत्त्वच्च प्राधान्य तथापि न भवति सज्ञा। यस्मात् प्रत्यय इति महती सज्ञा क्रियते। तस्या एतत्प्रयोजनमन्वर्थसज्ञा यथा स्यात्। प्रतियन्त्यनेनार्थनिति प्रत्ययः। न च विकारागमाभ्या कञ्चनार्थ प्रतियन्ति।''[१७६]

महाभाष्यकार के अनुसार प्रत्ययो का अकेले प्रयोग नही हो सकता।[१७७] वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने भी कहा है कि यद्यपि प्रत्यय वाचक होते है, तो भी वे स्वतन्त्र प्रयोग के योग्य नही है।[१७८] प्रत्यय प्रकृति के साथ मिलकर ही अर्थप्रदायक होते है।

महाकवि कालिदास ने प्रकृति-प्रत्यय सयोग को लौकिक उदाहरण के द्वारा अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया है–

''ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।

सोऽभवद्वरवधूसमागम· प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः।।[१७९]

अष्टाध्यायी के पूर्व सस्कृत वाङ्मय में पारिभाषिक संज्ञा के रूप में प्रत्यय सज्ञा का सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण मे उपलब्ध होता है। किन्तु वहाँ इसका कोई स्वरूप विवेचन नही प्राप्त है।[१८०] ऋक् प्रातिशाख्य,[१८१] वाजसनेयि प्रातिशाख्य,[१८२] अथर्ववेद[१८३] प्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्र[१८४] और काशकृत्स्न व्याकरण[१८५] में 'प्रत्यय ' शब्द का प्रयोग हुआ है। अग्निपुराण[१८६] और नारदपुराण[१८७] में भी प्रत्यय पद का प्रयोग विहित है।

पाणिनि से अर्वाचीन कातन्त्र व्याकरण[१८८] में विना परिभाषा के ही प्रत्यय शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैनेन्द्र व्याकरण[१८९] मे प्रत्यय के स्थान पर 'त्य' सज्ञा का विधान 'अधिकार' सूत्र के माध्यम से किया गया है। शाकटायन व्याकरण[१९०] मे जो किसी के स्थान पर नहीं विहित होते हैं, उन्हे प्रत्यय जानना चाहिए और वे प्रकृति से पर मे होते है। सरस्वती काण्ठाभरण[१९१] मे अष्टाध्यायी के समान प्रत्यय सज्ञा का विधान किया गया है। सिद्धहेमशब्दानु-शासन[१९२] मे पञ्चम्यन्तार्थ से विहित को प्रत्यय कहा गया है। आचार्य मलयगिरि[१९३] ने प्रत्यय के सन्दर्भ में शाकटायन व्याकरण का अनुसरण किया है।

सारस्वतव्याकरण[१६४] मे प्रत्यय सज्ञा का विधान तो नही किया गया है किन्तु पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे इसका प्रयोग अवश्य किया गया है। मुग्धबोधकार[१६५] ने आचार्य देवनन्दी का अनुसरण करके 'त्य' सज्ञा का विधान किया है। आचार्य पद्मनाभदत्त[१६६] दत्त ने सुबादि की प्रत्यय सज्ञा और उसके प्रकृति से पर मे प्रयुक्त होने की बात कही है। प्रयोगरत्नमाला मे 'सुप् तिङ् और तद्धित को प्रत्यय कहा गया है।[१६७] आचार्य जीवगोस्वामी ने विना परिभाषा के ही प्रत्यय शब्द का प्रयोग किया है।[१६८]

नाट्यशास्त्र मे भी कहा गया है कि चूँकि वे अर्थो को पूरित (सम्पादित) करते है अर्थात् प्रकृति के साथ मिलकर अर्थो को प्रस्तुत करते है इसलिए उन्हें प्रत्यय कहा जाता है।[१६६]

अष्टाध्यायी मे प्रत्यय सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	प्रत्ययलोपेप्रत्ययलक्षणम्	१।१।६२	प्रत्ययाश्रितविधि	आशी , अतृणेट्।
२	प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप	१।१।६१	लुक्, श्लु, लुप् का विधान	कति, जुहोति जम्बू ।
३.	ष· प्रत्ययस्य	१।३।६	इत्सज्ञा	गार्ग्यायणी।
४	अप्रत्ययात्	३।३।१०२	अ प्रत्ययः	चिकीर्षा, पुत्रकाम्या।
५	क्विन् प्रत्ययस्य कु·	८।२।६२	कवर्ग आदेश	युङ्

(१२) कृत् संज्ञा

अष्टाध्यायी मे धातु से होने वाले तिङ् भिन्न प्रत्ययो के लिए कृत् सज्ञा का विधान सूत्रकार ने 'कृदतिङ्'[२००] सूत्र द्वारा किया है। इसका अभिप्राय है कि "धातो·"[२०१] सूत्र के अधिकार मे आये हुए 'तिङ्' प्रत्ययो को छोड़कर शेष प्रत्ययों की 'कृत्' सज्ञा होती है।[२०२] महाभाष्यकार ने सूत्र मे 'अतिङ्' ग्रहण का निराकरण युक्तिपूर्वक किया है। सर्वप्रथम उन्होंने एकदेशी मत को उपस्थापित किया है जिसके अनुसार 'अतिङ्' ग्रहण की सार्थकता प्रतीत होती है, उसके पश्चात् उन्होने 'अतिङ्' ग्रहण का विधिवत् खण्डन किया है। महाभाष्यकार के ही शब्दो मे–

''किञ्च स्यात् यद्यत्र कृत् सञ्ज्ञा स्यात्? कृत्प्रातिपदिकमिति प्रातिपदिकसञ्ज्ञास्यात्। प्रातिपदिकादिति स्वाद्युत्पत्ति· प्रसज्येत। नैष दोष । एकत्वादिष्वर्थेषु स्वादयो विधीयन्ते ते चात्रतिङोक्ता एकत्वादय इति कृत्वोक्तार्थत्वान्न भविष्यन्ति।''[२०३]

किन्तु भाष्यकार के इस अभिमत से वृत्तिकार आदि सहमत नही है। तदनुसार यदि 'अतिङ्' का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो 'पचेरन्' इत्यादि स्थलो पर नकार का लोप प्राप्त होने लगेगा और 'पपाच ब्राह्मणी' इत्यादि स्थलो पर टाप् की प्राप्ति होने लगेगी। पदमञ्जरीकार आचार्य हरदत्त के ही शब्दो मे– ''किञ्च तिङन्तस्य कृदन्त प्रातिपदिकमिति प्रातिपदिक-सञ्ज्ञाया 'पचेरन्' नलोप प्राप्नोति, पपाच ब्राह्मणी टाप्प्राप्नोति, सर्वत्र च स्वाद्युपत्तिः प्रसज्येत। तदेतदस्मादन्यार्थादतिङ् इति प्रतिषेधादेव सिद्धे चीयादित्यादौ ज्ञापक नाश्रयितव्यमिति वृत्तिकारो मन्यते स्म।''[२०४]

वस्तुत उभयमतो की समीक्षा के पश्चात् काशिकाकार का ही मत सूत्रकार के कृति वैचित्र्य के कारण ग्राह्य प्रतीत होता है। कृत्सञ्ज्ञा भी वैय्याकरणो के अनुसार 'अर्थप्रतीति करोतीति कृत् अथवा धातो· परत क्रियते इति कृत्' व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है।

अष्टाध्यायी से पूर्व सस्कृत वाङ्मय मे पारिभाषिक संज्ञा के रूप में 'कृत' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण मे उपलब्ध होता है।[२०५] 'गोभिल गृह्यसूत्र मे भी परिभाषिक सञ्ज्ञा के रूप में कृत् शब्द का प्रयोग हुआ है।[२०६] निरुक्त मे भी कृत् शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[२०७] बृहद्देवता[२०८] वाजसनेयिप्रातिशाख्य,[२०९] अथर्ववेद प्रातिशाख्य[२१०] तथा काशकृत्स्न व्याकरण[२११] मे भी कृत्सञ्ज्ञा का प्रयोग उपलब्ध होता है किन्तु इन ग्रन्थो मे इसकी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। अग्निपुराण[२१२] और नारदपुराण[२१३] मे भी बिना परिभाषा के ही कृत्संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

अष्टाध्यायी से पश्चवर्ती कातन्त्र व्याकरण,[२१४] जैनेन्द्र व्याकरण[२१५], शाकटायन व्याकरण[२१६], सरस्वतीकण्ठाभरण,[२१७] सिद्धहेमशब्दानुशासन,[२१८] और शब्दानुशासन[२१९] मे भी कृत्सञ्ज्ञा का विधान किया गया है। सारस्वतव्याकरण में भी आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने विना किसी परिभाषा के कृत्सञ्ज्ञा का प्रयोग किया है।[२२०] आचार्य बोपदेव,[२२१] आचार्य पद्मनाभदत्त,[२२२] आचार्य पुरुषोत्तम विद्यावागीश[२२३] और आचार्य जीवगोस्वामी[२२४] ने भी कृत्सञ्ज्ञा का प्रयोग किया है।

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे कृतसज्ञा का प्रयोग निम्न सूत्रो मे किया है।

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	कृन्मेजन्त	१।१।३६	अव्यय सज्ञा	स्मार स्मार, जीवसे
२	कृत्तद्धितसमासाश्च	१।२।४६	प्रातिपदिक सज्ञा	एधितव्यम्, एधनीयम्।
३.	कृत्यच	८।४।२६	न को णत्व	प्रयाणीयम्
४.	ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्	६।१।७१	तुगागम	इत्य , स्तुत्य वृत्य ।।

(१३) कृत्य संज्ञा

कृत् सज्ञक कुछ प्रत्ययो की कृत्य सज्ञा करने के लिये आचार्य पाणिनि ''कृत्या ''[२२५] अधिकार सूत्र का विधान करते है। इसका अभिप्राय है कि इस सूत्र का अधिकार ''ण्वुल्-तृचौ''[२२६] सूत्र के पहले तक होगा,[२२७] अर्थात् ''कृत्या.'' सूत्र के अनन्तर और 'ण्वुलतृचौ'' सूत्र के पहले के सूत्रों द्वारा विधीयमान प्रत्यय कृत्य सज्ञक होगे। काशिकाकार ने इस सूत्र में ''प्राङ्ण्वुलः'' पद का सन्निवेश कर दिया है। इस पर पदमञ्जरीकार श्री हरदत्त ने स्पष्ट रूप से इसे प्रक्षिप्त कहा है। उन्ही के शब्दो मे–''कृत्या इत्येतावदेव पठित सूत्रकारेण। वृत्तिकारस्तु भाष्ये पूर्वपक्ष रूपेण पठित सूत्रे प्रचिक्षेप। विचित्रा हि वृत्ते· कृतिर्वृत्तिकारेण।''[२२८] काशिकाकार के पूर्व महाभाष्य मे भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है। पूर्वपक्ष के रूप मे यह तथ्य प्रस्तुत किया गया है कि ''अर्हे कृत्यतृचश्च''[२२९] सूत्र मे तृच् का ग्रहण होने के कारण यह ज्ञापित होता है कि 'तृच्' की कृत्य सज्ञा नही होती। इस प्रकार तृच् के पूर्ववर्ती होने के कारण 'ण्वुल्' की कृत्य सज्ञा प्राप्त हो जायेगी। इसका समाधान भाष्यकार ने योगापेक्ष ज्ञापक द्वारा किया है। ''तयोरेव कृत्यक्तखलर्था ''[२३०] सूत्र के आधार पर कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म मे ही होते है। 'ण्वुल्' प्रत्यय भाव और कर्म मे नही होता। इसलिए स्पष्ट है कि 'ण्वुल्' की कृत्यसज्ञा नही होती। यदि ''प्राङ्ण्वुलः'' से केवल 'ण्वुल्' प्रत्यय ही स्वीकार किया जायेगा तो ''रोगाख्याया ण्वुल् बहुलम्'' सूत्र[२३१] पर्यन्त कृत्य सज्ञा न हो इसके लिए प्रत्यासत्तिन्याय का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। इसलिए 'प्राङ्ण्वुल' से अभिप्राय ''ण्वुल्-तृचौ'' सूत्र से पहले पढ़े गये प्रत्ययो की कृत्य संज्ञा मानना ही समीचीन है।

कृत्यसज्ञक प्रत्ययो का विधान भाव कर्म मे ही होता है। इसके अतिरिक्त विधान स्वरूपत होता है, न कि कृत्यतया। आचार्य जयकृष्ण ने सिद्धान्त कौमुदी की सुबोधिनी टीका मे इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है–

'यद्यपि कृत्यनामर्थो 'भव्यगेय'[२३२] इत्यादौ। कर्तापि, वह्य स्नानीयमित्यादौ करणादिरपि। तथापि न तत्र कृत्यत्वेन कर्त्रादिषु विधानम्। किन्तर्हि? स्वरूपेण। कृत्यतया विधान तु भावकर्मणोरेवेति भाव ।[२३३]

कृत्य प्रत्यय कारक और क्रिया के वाचक होते है। और कृत् प्रत्यय केवल कारको के वाचक होते है। यही कृत्य और कृत् प्रत्यय मे भेद है। कृत्य शब्द की निष्पत्ति डुकृञ्करणे धातु से ''विभाषा कृवृषो ''[२३४] सूत्र द्वारा विकल्प से 'क्यप्' प्रत्यय होकर हुई है। इस शब्द का अर्थ होगा–'कर्तु योग्यम् इति कृत्यम्''। इस व्युत्पत्ति के आधार पर कृत्य सज्ञा को वैय्याकरणो ने अन्वर्थक माना है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय में कहीं भी कृत्य सज्ञा का प्रयोग न होने के कारण यह तथ्य स्पष्ट होता है कि यह सज्ञा आचार्य पाणिनि की अपनी कल्पना है। पाणिनि के बाद के कातन्त्र व्याकरण में अष्टाध्यायी के समान ही कृत्यसंज्ञा विहित है।[२३५] यद्यपि जैनेन्द्र व्याकरण मे कृत्य संज्ञा के स्थान पर 'व्य' संज्ञा का विधान किया गया है[२३६] किन्तु तव्य[२३७] आदि संज्ञी अष्टाध्यायी के समान ही है। सरस्वतीकण्ठाभरण,[२३८] सिद्धहेमशब्दानुशासन[२३९] और शब्दानुशासन[२४०] मे भी अष्टाध्यायी के समान ही कृत्य सज्ञा का विधान किया गया है। किन्तु सज्ञियो की सख्या और स्वरूप मे अन्तर होना स्वाभाविक ही है। उदाहरणार्थ–पाणिनीय व्याकरण के 'अनीयर्'[२४१] के स्थान पर कातन्त्रादि व्याकरणो मे 'अनीय'[२४२] प्रत्यय प्राप्त होता है। किन्तु इन परिवर्तनों के कारण लौकिकभाषा के उदाहरणों की सिद्धि में कोई मौलिक अन्तर नहीं आता। सारस्वत व्याकरण[२४३] मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने स्वोपज्ञवृत्ति मे 'कृत्य' सज्ञा का विधान किया है। मुग्धबोध व्याकरण मे तव्यादि प्रत्ययो के लिए 'कृत्य' के स्थान पर 'ल्य' संज्ञा का विधान किया गया है।[२४४] सुपद्मव्याकरण[२४५] और प्रयोगरत्नमाना[२४६] में तव्यादि प्रत्यों की कृत्यसंज्ञा एव हरिनामामृत[२४७] व्याकरण में 'विष्णुकृत्य' सज्ञा विहित है। अग्नि-पुराण[२४८] और नारदपुराण[२४९] में भी तव्यादि प्रत्ययो की कृत्यसज्ञा का विधान किया है।

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कृत्यसञ्ज्ञा को निम्न सूत्रो द्वारा विहित किया है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	कृत्यल्युटो बहुलम्	३।३।११३	तव्यादि प्रत्यय	स्नानीयचूर्णम्,
			दानीयो विप्र.।	
२.	कृत्याश्च	३।३।१७१	तव्यादि प्रत्यय	अवश्य हरि.।
			सेव्य , शत देयम्	
३.	कृत्याना कर्तरि वा	२।३।७१	षष्ठी	मया मम वा सेव्यो हरि ।
४.	कृत्येरधिकार्थवचने	२।३।३१	तृत्तीया समास	वातच्छेद्यं तृण, काकपेया नदी
५.	कृत्यैर्ऋणे	२।१।४३	सप्तमी समास	मासे देयमृणम् पूर्वाह्णे गेयं साम

(१४) सत् संज्ञा

सूत्रकार आचार्य पाणिनि वर्तमान अर्थ मे होने वाले कृत् संज्ञक शतृ, शानच् प्रत्ययो की सत्सज्ञा का विधान ''तौ सत्''[२५०] सूत्र द्वारा करते है। सूत्र का अभिप्राय है कि शतृ और शानच् सत् सज्ञक होते है।[२५१] सूत्र मे 'तौ' पद के ग्रहण के कारण वर्तमान काल में होने वाले शतृ और शानच् प्रत्ययों के स्वरूप की ही सत्संज्ञा होती है, उनके वर्तमान आदि उपाधियो की नहीं। 'तौ' के अभाव मे भूतादि अर्थो मे शतृ और शानच् नही हो सक्ते। और न ही ''पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन''[२५२] सूत्र से ''द्विजस्य कुर्वन् कुर्वाणो वा'' अथवा ''ब्राह्मणस्य पक्ष्यन् पक्ष्यमाणो वा'' इत्यादि स्थलो पर समास निषेध होगा। 'तौ' ग्रहण करने की सार्थकता को महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने अत्यन्त सरल शैली मे प्रतिपादित किया है–

''अथ क्रियमाणेऽपि तौ ग्रहणे कथमेवासंसक्तयोरेतैर्विशेषैः सत्संज्ञा लभ्या? लभ्येत्याह। कथम्? तावितिशब्दत.। सदिति योगे क्रियमाणे तौ ग्रहण योगाङ्गं जायते। सति च योगाङ्गे योग विभाग करिष्यते। तौ। तावेतौ शतृशानचौ धातुमात्रात्परस्य प्रत्ययस्य भवतः। ततः सत्। सत्संज्ञौ भवत. शतृशानचाविति। इहापि तर्हि प्राप्नुतः कारक. हारक इति। अवधारणं लृटि विधानम् इति।

''लृट सद्वा''[२५३] इत्येतन्नयमार्थं भविष्यति। लृट् एव धातुमात्रात् परस्य नाऽन्यस्येति'' इति।[२५४]

व्याकरण शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् 'अस्' धातु से निष्पन्न शतृ प्रत्यायान्त 'सत्' शब्द को सज्ञा के रूप मे अन्वर्थक मानते है। 'सत्' शब्द के साहचर्य से छत्रिन्याय से 'शानच्' प्रत्यय भी सत्सज्ञक हो जाता है।

सत् सज्ञा आचार्य पाणिनि की स्वकल्पना प्रसूत सज्ञा है इसलिए पाणिनि के पूर्ववर्ती वाड्मय मे पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे सत् शब्द का कही प्रयोग उपलब्ध नही होता। अर्वाचीन वैय्याकरणो मे आचार्य देवनन्दी ने सत्सज्ञा का प्रयोग किया है।[२५५]

अष्टाध्यायी मे सत्सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्न है–

क्रमाङ्क	सूत्र	संख्या	कार्य	उदाहरण
१	लृट· सद्वा	३।३।१४	शतृ और शानच् का विधान	करिष्यन्त करिष्यमाण पश्य।

(१५) निष्ठा संज्ञा

आचार्य पाणिनि धातुओं से होने वाले कृत् प्रत्ययो में 'क्त' और 'क्तवतु' के वैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिए ''क्तक्तवतू निष्ठा''[२५६] सूत्र द्वारा निष्ठा सज्ञा का विधान करते हैं। सूत्र में 'क्तश्च' 'क्तवतुश्च' इति क्तक्तवतू'। यहा पर द्वन्द्व समास है। 'क्त ' और 'कतवतु' मे ककारानुबन्ध का विधान कित् कार्यो के लिए और उकारानुबन्ध का ग्रहण 'उगित्' कार्यो के लिए किया गया है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है–क्त और क्तवतु प्रत्यय निष्ठा सज्ञक होते है।[२५७] यहाँ पर क्त, क्तवतु की निष्ठा सज्ञा होगी और निष्ठा सज्ञा होने पर क्त, क्तवतु का विधान होगा। इस आधार पर अन्योन्याश्रय दोष की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योकि यहाँ पर भी सूत्रशाटक के समान भाविनी संज्ञा होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।[२५८] ''तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः''[२५९] सूत्र के आधार पर 'क्तः' प्रत्यय अकर्मक धातुओं से भाव मे और सकर्मक धातुओं से कर्म में होगा। क्तवतु प्रत्यय ''कर्तरि कृत्''[२६०] सूत्र के आधार पर कर्ता अर्थ मे होगा। क्त और क्तवतु प्रत्यय भूतकाल में वर्तमान धातुओं से ही होंगे। 'क्त ' प्रत्यय मे अनुबन्ध के लोप होने पर केवल तकार बचता है। तकार साम्य के आधार पर 'लोत·, गर्त·'

इत्यादि स्थलो पर, निष्ठा सज्ञा की आशङ्का नही करना चाहिए। क्योकि जो भूतकाल मे कर्ता, कर्म या भाव मे 'त' (क्त) का विधान होता है, उसी की निष्ठा सज्ञा होती है। इसीलिये भाष्यकार ने निष्ठा सज्ञा के सन्दर्भ मे समान शब्दो का प्रतिषेध कहा है। भाष्यकार आचार्य पतञ्जलि के ही शब्दो में–

''ये चेहाक्षिपन्ति–अनुबन्धो नान्यत्त्वकारो भवति–लुप्तत्वात्। यथा–कतरद्देवदत्तस्य गृहमिति पृष्ट· कश्चन निर्दिशति अदौ यत्रासौ काकः इति। तच्छ्रुवमानन्तर तस्मात् स्थानात् काके, उत्पतिते पृच्छाको न प्रत्येति। इदमेव देवदत्तस्य गृहम्'' इति। तथैव लोतः,-गर्त· इत्यादौ लुप्तेऽनुबन्धे तकारस्य समानरूपात्वात्तस्याऽपि निष्ठा सज्ञा मा भूदिति विज्ञापनार्थं निष्ठासज्ञाया समानशब्दाना प्रतिषेधो वक्तव्य ।''[२६१]

वैय्याकरणो ने 'नितरा तिष्ठतीति निष्ठा अथवा निष्पत्तिर्नाशो वा निष्ठापदार्थ ' व्युत्पत्ति के आधार पर निष्ठासज्ञा को अन्वर्थक माना है। आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे सर्वप्रथम काशकृत्स्न व्याकरण मे पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे निष्ठा सज्ञा का प्रयोग हुआ है।[२६२] इसके अतिरिक्त अग्निपुराण[२६३] और नारदपुराण[२६४] मे भी निष्ठा सज्ञा की चर्चा उपलब्ध होती है।

पाणिनि ने अर्वाचीन कातन्त्र व्याकरण,[२६५] सरस्वतीकण्ठाभरण,[२६६] सुपद्म[२६७] व्याकरण, सारस्वत[२६८] व्याकरण, प्रयोगरत्नमाला[२६९] और हरिनामामृत व्याकरण[२७०] मे अष्टाध्यायी के समान ही निष्ठा संज्ञा का विधान किया गया है। इनमे केवल आचार्य जीवगोस्वामी ने निष्ठा के स्थान पर विष्णुनिष्ठा संज्ञा का प्रयोग किया है। आचार्य देवनन्दी ने निष्ठा के स्थान पर 'त' संज्ञा का विधान किया है, किन्तु सज्ञी का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान ही है।[२७१]

अष्टाध्यायी मे 'निष्ठा सज्ञा' का प्रयोग निम्न सूत्रों मे किया गया है।

क्र०सं०	सू०	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	निष्ठा	२।२।३६	पूर्व निपात	कृतकृत्यः।
२.	श्वीदितो निष्ठायाम्	७।२।१४	इण् निषेध	उन्नः, उत्तः शून·।
३.	निष्ठायां सेटि	६।४।५२	णिच् का लोप	भावित·, भावितवान्।
४.	निष्ठायामण्यदर्थे	६।४।६०	दीर्घ	क्षीण , क्षीणवान्।।

५.	निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्वि दिधृष·	१।२।१६	कित् का अभाव	शयित ।
६.	स्फाय स्फीनिष्ठायाम्	६।१।२२	स्फाय् धातु की स्फी आदेश	स्फीत ।
७.	इण्निष्ठायाम्	७।२।४७	इट् का आगम	निष्कुषित ।।
८	क्लिश क्त्वानिष्ठयो	७।२।५०	इट् का आगम विकल्प से	क्लिशित , क्लिष्ट
९.	रदाभ्या निष्ठातो न· पूर्वस्य च दः	८।२।४२	निष्ठा के त को न पूर्व के द को न	छिन्न , शीर्ण
१०	निष्ठा	३।२।१०२	क्त और क्तवतु का विधान	स्नात मया स्तुतस्त्वया विष्णु विष्णुर्विश्व कृतवान्
११.	निष्ठा च द्वयजनात्	६।१।२०५	आद्युदात्त	दत्तः
१२.	निष्ठोपमानादन्यतरस्याम्	६।२।१६९	विकल्प से अन्तोदात्त	प्रक्षालितमुखः
१३.	निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम्	६।२।११०	पूर्वपद अन्तोदात्त	प्रधौतपाद·

(१६) सार्वधातुक संज्ञा

अष्टाध्यायी में धातुओं से होने वाले कृत और तद्भिन्न 'तिङ्' प्रत्ययो की सार्वधातुक सज्ञा का विधान करते हुए आचार्य पाणिनि कहते हैं–''तिङ्शित्सार्वधातुकम्।''[२७२] अर्थात् तिङ् प्रत्ययो और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होनी है।[२७३] यह सार्वधातुक सज्ञा ''धातो ''[२७४] सूत्र के अधिकार में होने के कारण 'हरीन्' इत्यादि स्थलो पर 'शस्' की सार्वधातुक सज्ञा नहीं होती, अन्यथा शित् होने के कारण सार्वधातुक संज्ञा और ''सार्वधातुकमपित्''[२७५] सूत्र से 'शस्' को 'ङिद्' भाव

और 'घेर्ङिति'[२७६] से गुण की प्राप्ति होने लगती है। इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायीकार ने 'धातो ' सूत्र के अधिकार मे विहित प्रत्ययो की वेद मे सार्वधातुक और आर्धधातुक सज्ञा का विधान किया है।[२७७] काशिकाकार के अनुसार आचार्य आपिशलि ने सार्वधातुका के स्थान पर सार्वधातुक सज्ञा स्वीकार की है[२७८]। आचार्य पाणिनि द्वारा नपुसक लिङ्ग मे 'सार्वधातुकम्' स्वीकार करने का सम्भवत. यह कारण रहा होगा कि –किसी पूर्वाचार्य ने सार्वधातुक सज्ञा का प्रयोग नपुसक लिङ्ग मे भी किया रहा होगा। वैय्याकरणो ने ''सर्वेषु धातुषु भव सर्वधातुकम्'' अथवा 'सर्वधातून् व्याप्नोति इति सार्वधातुकम्' व्युत्पत्ति के आधार पर इसे अन्वर्थक माना है। यद्यपि 'खश्' 'श्' 'शप्' श्नम् और 'श्नु' आदि प्रत्यय सार्वधातुक होने के बावजूद सभी धातुओं से नहीं होते। किन्तु तिबादि और शतृ शानच् जैसे शित् प्रत्ययो के सभी धातुओं से होने के कारण सार्वधातुक सज्ञा अन्वर्थक ही है क्योकि ''बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति'' इस न्याय के आधार पर शास्त्रकारों ने सार्वधातुक सज्ञा प्रत्ययों की स्वीकार की है।

अष्टाध्यायी के पूर्व सस्कृत वाङ्मय में पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे सार्वधातुक शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद[२७९] प्रातिशाख्य मे प्राप्त होता है किन्तु वहाँ इसकी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। काशकृत्स्न व्याकरण मे भी सार्वधातुक संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[२८०]

अष्टाध्यायी से बाद के व्याकरण ग्रन्थों मे कातन्त्र व्याकरण में सार्वधातुक संज्ञा का विधान किया गया है।[२८१] आचार्य देवनन्दी[२८२] ने सार्वधातुक के स्थान पर 'ग' संज्ञा का विधान किया है, किन्तु सज्ञी अष्टाध्यायी के समान ही है। सरस्वतीकण्ठाभरण[२८३] में महर्षि पाणिनि के समान ही सार्वधातुक सज्ञा, निरूपित है। सारस्वत व्याकरण मे यद्यपि सार्वधातुक संज्ञा का प्रतिपादन नही किया गया है किन्तु आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में ''सार्वधातुक''[२८४] शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। मुग्धबोधकार ने सार्वधातुक के स्थान पर 'र' संज्ञा का विधान किया है।[२८५] सुपद्म व्याकरण के अनुसार 'लट्, लोट्, लिङ् तथा लङ् के स्थान में विहित प्रत्ययो एव शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक सज्ञा माननी चाहिए।[२८६] प्रयोगरत्नमाला मे जहाँ सार्वधातुक के स्थान पर ''शित्''[२८७] सज्ञा का प्रयोग किया गया है वही हरिनामामृतव्याकरण में सार्वधातुक के स्थान पर ''कृष्णधातुक''[२८८] सज्ञा का विधान किया गया है।

अष्टाध्यायी मे सार्वधातुक सञ्ज्ञा का प्रयोग निम्न सूत्रों मे किया गया है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	सार्वधातुकमपित्	१।२।४	ङिद्भाव	एधेते।
२	सार्वधातुके यक्	३।१।६७	यक् प्रत्यय	भूयते, क्रियते।
३.	रुदादिभ्य· सार्वधातुके	७।२।७६	इडागम	रोदिति
४	सार्वधातुकार्धधातुकयो·	७।३।८४	गुण	भवति, भवत·, भवन्ति

(१७) आर्धधातुक संज्ञा

शालातुरीय भगवान् पाणिनि तिङ् शित् से भिन्न कृत् प्रत्ययो के लिए आर्धधातुक सञ्ज्ञा का विधान 'आर्धधातुक शेष·''[२८९] सूत्र द्वारा करते हैं। सूत्र मे 'शेष' पद का अभिप्राय तिङ् शिद् भिन्न से है। यह सूत्र 'धातो '[२९०] सूत्र के अधिकार के अन्तर्गत है। इसीलिए 'जुगुप्सते' इत्यादि स्थलो पर ''गुप्-तिज्किद्भ्य सन्''[२९१] से होने वाला सन् प्रत्यय, 'धातो·' सूत्र के अधिकार के अधिकार के अन्तर्गत न होने के कारण आर्धधातुक संज्ञक नहीं होता। फलत· उसे इडागम भी नहीं होता। सूत्र का अर्थ है कि तिङ् शिद् से भिन्न अन्य प्रत्यय, जो 'धातोः' के अधिकार मे कहे गये हैं, की आर्धधातुक संज्ञा होती है।[२९२] इस सूत्र के अतिरिक्त आचार्य पाणिनि ने ''लिट् च''[२९३] सूत्र के द्वारा लिट् के स्थान मे हुए तिङ् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा का विधान किया है। इसी प्रकार आशीर्वाद अर्थ मे 'लिङ्' के स्थान मे होने वाले तिङ् की आर्धधातुक सञ्ज्ञा का विधान सूत्रकार ने 'लिडाशिषि'[२९४] सूत्र द्वारा किया है। इसीलिए 'लविता' इत्यादि स्थलों मे 'तास्' के आर्धधातुक होने के कारण इडागम, पेचिथ इत्यादि स्थलों पर लिट्स्थानीय सिप् के आर्धधातुक होने के कारण इडागम तथा लविषीष्ट' इत्यादि स्थलों पर आशीर्लिङ्स्थानीय 'त' प्रत्यय के आर्धधातुक होने के कारण इडागम होता है। आचार्य पाणिनि ने 'छन्दस्युमयथा'[२९५] सूत्र द्वारा वेद' मे सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनो संज्ञाओं का विधान किया है जिसके फलस्वरूप ''वर्धन्तु त्वाशुष्टुतयः'', इत्यादि स्थलो मे सार्वधातुक तिप् के आर्धधातुक होने के कारण 'णिच्' का लोप और ''सासृवांसोविशृण्विरे'' इत्यादि स्थलों पर आर्धधातुक 'झ' प्रत्यय के सार्वधातुक हो जाने के कारण 'श्नु' और 'श्रु' धातु को 'शृ' आदेश होता है। वस्तुत· ''छन्दस्युभयथा''

सूत्र का सम्बन्ध अपने पूर्ववर्ती केवल 'लिडाशिषि''[२६६] से न होकर सार्वधातुक आर्धधातुक विधायक समस्त सूत्रो से है।

वैयाकरणो ने ''अर्धधातुषु भवम्आर्धधातुकम्'' व्युत्पत्ति के आधार पर आर्धधातुक सज्ञा को अन्वर्थक माना है। यद्यपि 'णवुल्' और 'तृच्' आदि प्रत्यय सभी धातुओं से होते है, तो भी 'घ' 'ल्युट्' और अच् आदि प्रत्ययो के सभी धातुओं से न होने के कारण बाहुल्येन आर्धधातुक सज्ञा अन्वर्थक है।

अष्टाध्यायी के पूर्ववर्ती सस्कृत वाड्मय मे पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे आर्धधातुक शब्द का प्रयोग 'काशकृत्स्न' व्याकरण मे उपलब्ध होता है।[२६७] जिससे यह प्रतीत होता है कि सार्वधातुक और आर्धधातुक सज्ञाएं पूर्वाचार्यो के द्वारा भी व्यवहृत थी। किन्तु काशकृत्स्न व्याकरण के अतिरिक्त वाड्मय में संज्ञा के रूप मे यह शब्द उपलब्ध नहीं होता।

अष्टाध्यायी के बाद के व्याकरण ग्रन्थों मे केवल भोजदेव और आचार्य पद्मनाभदत्त ने अपने ग्रन्थो मे आर्धधातुक संज्ञा का विधान किया है। दोनो मे केवल अन्तर यह है कि भोजदेव ने स्पष्टतया सन् प्रत्यय की भी आर्धधातुक सज्ञा की है और पाणिनीय ''छन्दस्युभयथा'' सूत्र को छोड़ दिया है।[२६८] सुपद्म व्याकरण मे शित् तथा लट्, लोट्, लिड्, लड् और लुड् के स्थान मे विहित प्रत्ययो से भिन्न प्रत्ययो को आर्धधातुक सज्ञक कहा गया है।[२६६] इनके अतिरिक्त सारस्वतव्याकरण मे आर्धधातुक सज्ञा का विधान तो नही किया गया है किन्तु आर्धधातुक शब्द का प्रयोग अवश्य किया गया है।[३००] जैनेन्द्र व्याकरण में आर्धधातुक के स्थान पर 'अग' संज्ञा का विधान किया गया है किन्तु इसके सज्ञी का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान ही है।[३०१] हरिनामामृत व्याकरण में भी कृष्णधातुक (सार्वधातुक) प्रत्ययो से भिन्न प्रत्ययो की रामधातुक सज्ञा (आर्धधातुक) प्रतिपादित की गयी है।[३०२]

अष्टाध्यायी में आर्धधातुक संज्ञा के प्रयोगस्थल अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	अ०पा०सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	आयादय आर्धधातुके वा	३।१।३१	आयादय	गोपायिता
२.	आर्धधातुकस्येड्वलादेः	७।२।३५	इडागम	बभूविथ बभूविव।
३.	अतो लोप	६।४।४८	अकार का लोप	गोपायाञ्चकार, गोपायाम्बभूव।

(१८) तद्धित

पूज्यपाद भगवान् पाणिनि कृदादि प्रत्ययो से भी व्यापिका और बलवती बतलाने के लिए कृत् प्रकरण के पश्चात् अधिकार सूत्र द्वारा तद्धित सज्ञा का विधान करते है–'तद्धिता '।।[३०३] इसका अभिप्राय है कि पाँचवे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त तद्धित का अधिकार है।[३०४] अर्थात् प्रकृत सूत्र से आगे पॉचवे अध्याय की समाप्ति तक जितने सूत्र है, उनके द्वारा जिन-जिन प्रत्ययो का विधान होता है, उन सभी प्रत्ययो को तद्धित कहा जाता है। यहाँ पर सन्देह होता है कि जैसे ''प्रत्यय ''[३०५] इस एकवचनान्त प्रयोग, अनेक सन् प्रभृतियो का प्रत्ययत्व निष्पन्न होता है उसी प्रकार ''तद्धित '' इस एकवचनान्त प्रयोग के द्वारा भी उसके अधिकार मे कहे गये प्रत्ययो का तद्धितत्व निष्पन्न हो जाएगा, फिर बहुवचनान्त प्रयोग करके मात्रावृद्धि के द्वारा आचार्यपाद ने ''अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवमन्यन्ते वैय्याकरणा·'' इस शास्त्र सम्मत सिद्धान्त का उल्लङ्घन क्यो किया? वस्तुत· सूत्रकार ने भविष्य मे प्रतिपादित किये जाने वाले प्रत्ययो के भी ग्रहण के निमित्त बहुवचनान्त प्रयोग किया है। न्यासकार आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि के ही शब्दो मे–

''एकवचन एव कर्तव्ये यद् बहुवचन क्रियते तस्यैतत् प्रयोजनम्– अनुक्ता ये तद्धिता लक्षणवाक्यैरनभिहितास्तेषामपि परिग्रहो यथा स्यात्।'' यथा–''पृथिव्या ञाञा'' वित्यादि न कर्त्तव्य भवति। बहुवचनेनैवानुक्ततद्धितपरिग्रहार्थेन तेषा सिद्धत्वे महत्त्या सञ्ज्ञाया करणे एतत् प्रयोजनम्- अन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत। तेभ्यो हितास्तद्धिता·। तदित्यनेन लौकिका वैदिकाश्च शब्दा· प्रत्यवमृश्यन्ते, तेषा व्युत्पाद्यत्वेन प्रकृतिविषयत्वात्। तेन तत्रैव भवन्त्यणादयो यत्र च भवन्तस्तेषामुपकारिणो भवन्ति। नान्यत्रेति।[३०६]

इसी प्रकार एक अन्य सन्देह उत्पन्न होता है कि तद्धिताधिकार यदि स्त्री प्रत्यय के पहले ही कर दिया जाता तो न तो ''ङ्याप्प्रातिपदिकात्''[३०७] सूत्र मे 'ङ्याप्' ग्रहण करने की आवश्यकता पडती और न ही 'प्राचां ष्फस्तद्धिते'[३०८] सूत्र मे तद्धित ग्रहण करने की। यही नहीं 'यस्येति च''[३०९] सूत्र मे 'ईकार' ग्रहण करने की भी आवश्यकता न पड़ती। ऐसा न करके सूत्रकार ने लाघव के बजाय गौरव पक्ष का समाश्रयण क्यो किया? इसका समाधान यह है कि 'ङ्याप्प्रातिपादिकात्'' सूत्र में 'ङ्याप्' ग्रहण

करने का प्रयोजन ''ड्याबन्त' से तद्धितों की उत्पत्ति हो, ड्याप् से पहले तद्धित प्रत्यय न होवे'' इस नियम को ज्ञापित करना था। स्त्री प्रत्यय के पूर्व तद्धिताधिकार हो जाने पर यह सिद्धान्त सुस्थापित न हो पाता। फलस्वरूप 'आर्यका'' और ''आर्यिका'' दोनो की सिद्धि न हो पाती, केवल 'आर्यिका' रूप ही बनता जो अनिष्टप्रसङ्ग होता। यही नही, ''लशक्वतद्धिते''[३१०] सूत्र द्वारा डीप् और डीष् तथा डीन् मे ङ्कार की इत्सज्ञा न होती, और 'पट्वी' 'मृद्वी' इत्यादि स्थलो पर ''ओर्गुण ''[३११] से गुण की प्राप्ति होने लगती। यदि यह कहा जाय कि ''यस्येति च'' सूत्र मे 'ईद्' ग्रहण से ही डीषादि मे तद्धितकार्याभाव ज्ञापित हो जायेगा, इसलिए टाप् के पहले तद्धिताधिकार में किसी प्रकार का दोष नही है। यह पक्ष भी स्वीकार्य नही है क्योकि 'कुरु' इत्यादि स्थलो पर ''ओर्गुण '' से गुण प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा। व्याकरणशास्त्र विशारदो ने ''तेभ्योहितास्तद्धिता''[३१२] अथवा तेभ्यस्छात्रेभ्यो हित सुकरत्वान्नानापदव्युत्पादकत्वाच्च तद्धित ''[३१३] व्युत्पत्ति के आधार पर तद्धित सज्ञा को महासज्ञा और अन्वर्थक माना है।

पारिभाषिक सज्ञा के रूप मे तद्धित शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग निरुक्त मे प्राप्त होता है[३१४] किन्तु वहाँ इसकी कोई परिभाषा प्राप्त नही होती। बृहद्देवता[३१५], वाजसनेयि प्रतिशाख्य[३१६] और अथर्ववेद प्रातिशाख्य[३१७] विना परिभाषा के ही यह शब्द उपलब्ध होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार जो लोप, प्रकृति-प्रत्यय विभाग, प्रकृति-प्रत्यय सयोग और यथार्थ कथनो के द्वारा अर्थो को पूरित (सम्पादित) करते है, उन प्रत्ययो को तद्धित जानना चाहिये।[३१८] अग्निपुराण में तद्धित पद का प्रयोग किया गया है।[३१९] तथा उसके त्रैविध्य की चर्चा करते हुए विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।[३२०] नारद्पुराण मे भी अपत्यार्थक आदि तद्धित प्रत्ययो की चर्चा की गयी है।[३२१] अष्टाध्यायी के पश्चात् जैनेन्द्र व्याकरण मे तद्धित के स्थान पर 'हृत्' सज्ञा का विधान अधिकार सूत्र द्वारा किया गया है।[३२२] किन्तु अण् आदि संज्ञी अष्टाध्यायी के समान ही है। शाकटायन व्याकरण,[३२३] सरस्वती कण्ठाभरण[३२४] और सिद्धहेमशब्दानुशासन[३२५] मे अण् आदि प्रत्ययों की तद्धित संज्ञा का प्रतिपादन अष्टाध्यायी के समान ही विहित है। आचार्य मलयगिरि ने शब्दानुशासन में तद्धित सज्ञा का प्रयोग किया है।[३२६] आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने ''हसातद्धितस्य लोपो ये''[३२७] सूत्र मे और अनेक सूत्रों की स्वोपज्ञ-वृत्ति मे तद्धित

शब्द का प्रयोग किया है।[३२८] आचार्य वोपदेव ने तद्धित के स्थान पर अणादि प्रत्ययो की 'त' सज्ञा का प्रतिपादन किया है।[३२९] सुपद्मव्याकरण,[३३०] प्रयोगरत्नमाला[३३१] और हरिनामामृतव्याकरण[३३२] मे भी तद्धित सज्ञा का विधान किया गया है। इन सभी व्याकरणो मे सज्ञी का स्वरूप न्यूनाधिकरूप से अष्टाध्यायी के ही समान है।

अष्टाध्यायी में तद्धित सज्ञा के प्रयोग वाले सूत्र निम्न है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	तद्धितश्चासर्व विभक्ति·	१।१।३८	अव्यय सज्ञा	पचतिकल्पम्, द्वि , बहुधा
२.	तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च	२।१।५१	कर्मधारयसमास	पौर्वशाल·, पञ्चगषधन·, दशकुमारि।
३.	यूनस्तिः	४।१।७७	तिप्रत्यय	युवतिः।
४.	तद्धितेष्वचामादेः	७।२।११७	वृद्धि	दाक्षिः, आदित्यः
५.	ह्रस्वात्तादौ तद्धिते	८।३।१०१	स को षत्व	निष्ट्यः।।

(१६) तद्राज संज्ञा

अष्टाध्यायीकार ने तद्राज सज्ञा का विधान दो सूत्रों द्वारा किया है। जिसमें प्रथम सूत्र है–''ते तद्राजा·''।[३३३] इसका अभिप्राय है कि 'अञ्' आदि की तद्राज सज्ञा होती है।[३३४] सूत्र मे 'तद्राज' सज्ञा है और सज्ञी है 'ते'। 'ते' इस सर्वनाम से ''जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्''[३३५] सूत्र से लेकर प्रकृत सूत्र पर्यन्त 'अञ्' 'अण्' 'ञ्यङ्', 'ण्य' और 'इञ्' आदि प्रत्यय गृहीत होते हैं। तद्राज सज्ञा का फल स्त्रीलिग के अतिरिक्त बहुत्व अर्थ मे विद्यमान तद्राज प्रत्ययो का लुक् है जिससे 'इक्ष्वाकवः' पञ्चाला· आदि शब्दो की निष्पत्ति होती है। तद्राज सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–''ञ्यादयस्तद्राजा ''[३३६]। सूत्रार्थ है–''पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्''[३३७] सूत्र से लेकर इस सूत्र के पूर्व तक कहे हुए प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है।[३३८] सूत्र मे संज्ञा 'तद्राज' है तथा सज्ञी है–'ञ्यादयः'। 'ञ्य' आदि सज्ञी की सीमा का सङ्केतार्थक प्रारम्भिक शब्द है–'ञ्यादयः। इस सूत्र का भी फल बहुवचन में तद्राज प्रत्ययों का लुक् है

जिससे लोहित ध्वजा ' कपोतपाका आदि शब्द निष्पन्न होते है। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार तद्राज सञ्ज्ञा अन्वर्थक है।[339] तस्य राजा इति तद्राज.' इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैसे अपत्यादि मे अणादि प्रत्यय होते है, वैसे राजार्थ मे भी होवे, इसी को अभिव्यक्त करने के लिए महर्षि पाणिनि तद्राज सञ्ज्ञा का विधान किया है। पूर्वाचार्यो द्वारा प्रयुक्त न होने के कारण यह सञ्ज्ञा शास्त्रीयकार्य सम्पादनार्थ पाणिनि की अपनी कल्पना है। पश्चवर्ती आचार्यो ने भी तद्राज सञ्ज्ञा द्वारा अभिप्रेत अर्थ की 'द्रि'[340] 'वि'[341] आदि[342] सञ्ज्ञाएं की है। अष्टाध्यायी मे तद्राज सञ्ज्ञा के प्रमुख प्रयोग-प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	तद्राजस्यबहुषुतेनैवास्त्रियाम्	२।४।६२	अञादिप्रत्ययो का लुक्	इक्ष्वाकव पञ्चाला.
२.	कम्बोजाल्लुक	४।१।१७५	अञादि प्रत्ययो का लुक्	कम्बोज.
३.	स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च	४।१।१७६	अञादि प्रत्ययों का लुक्	अवन्ती, कुन्ती
४.	दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः	५।३।११६	छ प्रत्यय	दामनीय.।
५	पर्श्वादि यौधेयादिभ्योऽणञौ	५।३।११७	अण् और अञ् प्रत्यय,	पार्शव., यौधेय ।

उद्धरणानुक्रमणिका

१ अष्टा - १।१।२२

२. सि०कौ० - १।१।२२

३. अष्टाध्यायी - १।१।४२

४. सि०कौ० - १।१।४२

५ अष्टाध्यायी - १।१।४३

६. सि०कौ० - १।१।४३

७ अष्टाध्यायी - १।२।४१

८. ऋक् - प्रा० - १।७५, २।६१, ११।३ इत्यादि।

९ एक वर्णः पदम् अपृक्तः। वा०प्रा० - १।१५१

१०. एक वर्ण पदम् अपृक्त.। तै०प्रा० - १।५४

११. तै०प्रा०, त्रिरत्न भाष्य - १।५४

१२. शौ०च०आ० - १।७२, १।७६, ४।११३

१३. का०कृ०व्या० - सू०स० - १०६

१४. शब्देन्दुशेखर - १।२।४१

१५. अष्टा० - १।४।६६

१६. सि० कौ० - १।४।६६

१७. अष्टा० - १।४।१०

१८ लट. शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे। अष्टा० - ३।२।१२४

१९ क्वसुश्च, अष्टा० - ३।२।१०७

२०. अष्टा० - ७।२।१

२१. महाभाष्य प्रदीप - ६।३।८

२२ न्यास - ६।३।७

२३. वर्णलोपागमह्रस्वदीर्घप्लुतआत्मनेभाषा, परस्मैभाषाऽपियन्त्यपियन्ति।'' अ०प्रा० - ३।४।७

२४. उदात्तानुबन्धः परस्मैपदम्। का०कृ०व्या०सू० - ६०

२५. पूर्व नव परस्मैपदम् - अ०पु० ३५८।५

२६. नारद पु० - २।१६।१८, २।१७।७३, ६६,

२७. कातन्त्र व्या० - ३।१।१

२८ लो मम्। जै० व्या०- १।२।१५०

२९. सरस्वती क० भ० - १।१।२३

३०. नवाद्यानि शतृक्वसू च परस्मैपदम्। सि०हे० शब्दा० - ३।३।१९

३१ नव-नव आद्यानि शतृक्वसूच परस्मैपदम्। शब्दा० - ३।१।१७

३२. शेषात् परस्मै। शब्दा० - ३।२।७०

३३. सारस्वत व्या० उत्तरार्द्ध - १।६

३४. मु० बो० व्या० - सू० - ५३१

३५ लस्तिङि पूर्वार्द्धम् शतृक्वसू च परस्मैपदम्। सु० व्या० ३।२।८७

३६. प्र० र० मा० - ८।९

३७. तिबादि नवनवानाम् पूर्वपूर्वाणि परपदसंज्ञानि। ह०ना०व्या० - सू०-३८४

३८ अष्टा० - १।४।१००

३६ सि० कौ० - १।४।१००

४०. अष्टा० - ३।२।१२४

४१. अष्टा० - ३।२।१०६

४२. महाभाष्य प्रदीप - ६।३।८

४३ अ०प्रा० - ३।४।७

४४. अनुदात्त तडानुबन्ध. आत्मनेपदम्। - का०कृ०व्या० - सू०सं० - ८८

४५. परे नवात्मनेपदम् । अ०पु० - ३५८।५

४६. . ... चात्मने पदम्। ना०पु० - २।१६।१८-१६

४७. ना०पु०- २।१७।२०

४८. ना०पु० - २।१७।६६

४६. नवपराण्यात्मने । का० व्या०- ३।१।२

५० इडान द । जै० व्या०- १।२।५१

५१ तडानास्त्वात्मनेपदानि। स०क०भ०- १।१।२४

५२ पराणिकानानशौ चात्मनेपदम्। सि०हे० शब्दा०- ३।३।२०

५३. सि० हे० शब्दा० - ३।३।८४

५४. पराणिकान आनशौ चात्मनेपदम्। शब्दा० - ३।१।१८

५५ 'आत्मने'। शब्दा० - ३।२।२ इत्यादि में

५६. सारस्वत व्याकरण उत्तरार्द्ध - स्वोपज्ञ वृत्ति - १।६

५७. मु०बो०व्या० - सूत्र - ५३१

५८. परद्धिमानश्चात्मनेपदम् तङ् वा। सु० व्या० - ३।२।८८

५६ एषा नवक-नवक यद्विभागतः। पूर्व परस्मैपद स्यात् वदपरन्त्वात्मनेपदम् - प्र०र०मा०-८।१०

६०. उत्तरोत्तराणि आत्मपद संज्ञानि। ह०ना०व्या०सू० - ३८५

६१. अष्टा० - १।४।१०१

६२. अष्टा० - १।४।६६

६३ अष्टा० - १।४।१००

६४. का०वृ० - १।४।१०१

६५ अव प्रथमादिषु पुरुषसज्ञा तु प्राचीनाचार्यशास्त्रसिद्धेति बोध्यम्।

६६ नि० - ७।१

६७. अस्ते प्रेषण्या मध्यमस्यैकवचनम्। अ०प्र०- २।१।११

भूतेऽद्यतन्या मध्यमस्यैकवचनम्। अ०प्र०- २।२।१५

६८. धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्। का०कृ०व्या०-सू०- १

६९. नि० - ७।१

७०. अ०पु० - ३५८।६-७

७१. ना०पु०- २।१६।१८-१६

७२. त्रीणि वीणि प्रथममध्यमोत्तमाः। कातन्त्र व्या०- ३।१।३

७३. युष्मदि मध्यमत्रयम्। चा०व्या० - १।४।१४६

७४. अस्मदि उत्तमम्। चा०व्या० - १।४।१४७

७५. मिडस्त्रिसोऽस्मद्युष्मदन्याः। जै०व्या० - १।२।१५२

७६. त्रीणि-त्रीण्यन्ययुष्मदस्मदि। सि०हे० शब्दा० - ३।३।१७

७७. त्रीणि त्रीणि अन्य युष्मद् अस्मदि। शब्दा० - ३।१।१५

७८ शा० व्या० - १।४।१-२

७९ तिङाम् त्रीणि त्रीणि प्रथम मध्यमोत्तमा । स०क०म० - १।१।२०

८० सा० व्या० उत्तरार्द्ध स्वो० वृ० - १।८

८१. लि युष्मदस्मदित्यादि त्रिशः। मु०बो०व्या० सू०- ६६५

८२. तिङान्त्रिश· प्रथममध्यमोत्तमा·। सु०व्या० - २।१।३०

८३. त्रय त्रय स्यात् प्रथममध्यमोत्तमैतयो·। प्र०र०मा० - ८।११

८४ नवकेषु त्रीणि त्रीणि प्रथमध्यमोत्तमपुरुष सञ्ज्ञकानि। ह०ना०व्या० सू०- ३८६

८५. अष्टा० - १।४।१०२

८६. सि०कौ० - १।४।१०२

८७ अष्टा० - १।४।१०३

८८. सि०कौ० - १।४।१०३

८९. वाक्यपदीय - ३।१५३

९०. विभक्तिवचनशब्दौ कारक संख्यापरौ। प्रौ०म०- १।१।४०

९१. वचनम् सख्येति तथैव प्राचां व्यवहारात्। प्रौ०म०- २।३।४६

९२. ओङ्कारं पृच्छाम· - - - -किम् लिङ्गम्, किम् वचनम्? इत्यादि। गो० ब्रा०- १।१।२४

९३. यत्र ह्येकवचनार्था प्रसिद्धं तद्भवति। नि० - ६।३।१६

९४. अपि वा मेदसश्च पशोश्च सात्वम् द्विवचनं स्यात् - नि०- ६।३।१६

९५. एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचन स्यात्। नि० - १२।१।७

९६. तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः। बृ०दे० - १।४३

९७. येकवचने। ऋ०त० - २।२।६

९८. अस्ते· प्रेषण्या मध्यमस्यैकवचनं। अ०प्र० - २।१।११ इत्यादि में

९९ . . . . गोपा इति द्विवचने। अ०प्रा० - २।१।१३

१००. द्विषो बहुवचनम्। अ०प्रा० - १।२।१

१०१ धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्। का०कृ०व्या० - सू० १

१०२. एकार्थे चैकवचनं द्व्यर्थे द्विवचन भवेत्। बहुसि बहुवचनम्- - - - - । अ०पु० ३५१।२८-२९

१०३. क्रियासमभिहारे सर्वकालेषुकमध्यमैकवचन पञ्चम्या । कातन्त्र व्या० -३।१।२१

१०४. द्विवचनमनौ। कातन्त्र व्या० - १।३।२

१०५. बहुवचनममी। कातन्त्र व्या० - १।३।३

१०६ एकद्विबहुषु। चा०व्या० - १।४।१४८

१०७. एक द्विबहवश्चैकश.। सुपश्च। जै०व्या० - १।२।१५५ - १५६

१०८. एकद्विबहौ। शा०व्या० - १।३।९८

१०९. तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकश·। स०क०भ० - १।१।२२

११० एकद्विबहुषु। सि०हे० शब्दा० - ३।१।१८

१११ एकद्विबहुषु। शब्दा० - ३।१।१६

११२. सारस्वत व्या० - पूर्वार्द्ध स्वो०वृ० - ७।३, सा०व्या०पू० - ७।४६, सा०व्या०पू०स्वो०वृ० - ७।६

११३. क्व, द्व, व्वान्येकद्विबहुष्वेकशः। मु०बो०सू० - १३

११४. सुप्तिङामृत्रिकमेकद्विबहुष्वेकवचनद्विवचनबहुवचनमेकश.। सु०व्या०- २।१।३५

११५. - - - - - - - - स्यु तान्येक द्विबहुवचनानि।

वाच्येष्वेक द्विबहुषु कार्याणि - - - - - - । प्र०र०मा०- २।६।१०

११६. एकद्विबहुत्वेष्वेक द्वि बहुवचनानि। ह०ना०व्या० सू०- ९५२

११७ अष्टा० - १।४।१०४

११८. अष्टा० - १।४।१०३

११९ अष्टा० - १।४।१०१

१२० सि०कौ० - १।४।१०४

१२१ अष्टा० - ५।३।१

१२२ अष्टा० - ५।३।२७

१२३ सि०कौ० - ५।३।१

१२४. अष्टा० - १।३।४

१२५ न्यासस पदमञ्जरी - १।२।४४, महाभा० प्र०उ० - १।२।४२

१२६. सि०कौ० - १।४।१०४

१२७. अथ ओङ्कार पृच्छामः - - - - - - - को विभक्तिः - - - - - -। गो०ब्रा०० १।१२४ इत्यादि में

१२८. यथार्थ विभक्ती । सन्नमयेत्। नि० - २।१।१

१२९ अष्टौयत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषुविभक्तय । बृ०दे० - १।४३

१३० ह्रस्वव्यञ्जनाभ्या भकारादौ विभक्ति प्रत्यये। वा०प्र०- ५।१३

१३१. विभक्ति लोप.। ऋ०त० - ३।१।६

१३२. एकारो विभक्त्यादेशश्छन्दसि। अ०प्रा० - १।१।२ इत्यादि मे

१३३ लिङ्गे किमि (चि) ति विभक्तावेतन्नाम। का०कृ०व्या० सू०-२

१३४. विभजन्त्यर्थ यस्माद् विभक्तयस्तेन ता प्रोक्ता । ना०शा० - १५।३०

१३५ द्वे विभक्ती सुप्तिङश्च सुप. सप्त विभक्तय ।। अ०पु० - ३५१।१, २, ३।

१३६. - - - - - - - सुपा सप्तविभक्तयः। ना०पु० - २।१६।२, ४, ५, ६, ७, ८।

१३७. तस्मात् परा विभक्तयः। कातन्त्र व्या० - २।१।२

१३८. विभक्ती, ते विभक्त्य.। जै० व्या० - १।२।१५७

१३९ त्रयी त्रयी विभक्ति । शा०व्या० - १।३।१८१

१४०. तिङ् सुपो विभक्ति.। स०क०भ० - १।१।१६

१४१. स्त्यादिर्विभक्ति.। सि०हे० शब्दा० १।१।१६

१४२ तिबादिर्विभक्ति । शब्दा० - १।२।३

१४३ सारस्वतव्याकरण पूर्वार्द्ध स्वोपज्ञवृत्ति व- ६८

१४४. सित्यादि क्ति । मु०बो० सू० - १२

१४५. सुसिडा त्रिकमेकद्विबहुष्वेकवचनद्विवचनबहुवचनमेकशो विभक्तिश्च। सु०व्या० २।१।३५

१४६ विभक्ती सुप् तिङौ स्मृते। प्र०र०मा० - २।४

१४७. स्वादि तिबाद्या विष्णुभक्तय । ह०ना०व्या० - १।१४६

१४८ अष्टा० - २।३।४८

१४९ का०वृ० - २।३।४८

१५० अष्टा० - ६।१।१६८

१५१ अष्टा० - ८।१।१६

१५२. अष्टा० - १।२।३६

१५३. पदमञ्जरी - २।३।४८

१५४. वा०प्र० - ३।१३६

१५५. अ०प्रा० - १।१।२३ आदि

१५६ का०व्या० - २।१।५

१५७ अष्टा० - २।३।४६

१५८. का०वृ० - २।३।४६

१५९. अष्टा० - ६।१।६६

१६० अष्टा० - ७।३।१०८

१६१. बा०म० - २।३।४६

१६२ सु• सम्बुद्धि इत्युचितम्। सम्बोधने च इत्यत सम्बोधने इत्यनुवृत्ते सप्तमी बहुवचने न दोष : - ल० शब्देन्दु शेखर

१६३ - न्यास - २।३।४६

१६४. का०व्या० - २।१।५

१६५. मु०बो० - सूत्र - ८०

१६६. जै० व्या० - १।४।५६

१६७. अष्टाध्यायी - ३।१।१

१६८ काशिका वृत्ति - ३।१।१

१६९ अष्टा० - ३।१।५

१७०. अष्टा० - ५।४।१५१

१७१ अष्टा० - ३।२।१३

१७२ अष्टा० - ३।२।२५

१७३. अष्टा० - ३।१।१०८

१७४ अष्टा० - ४।३।१३८

१७५. महाभाष्य - ३।१।१

१७६. न्यास - ३।१।१

१७७ महाभाष्य - ३।१।६४

१७८. वाक्यपदीय - २।११६४

१७६. रघुवश - ११।५६

१८०. ओङ्कार पृच्छाम --------क प्रत्यय ?। गो० ब्रा० - १।१।२४

१८१ द्विवर्ण प्रत्ययोऽन्यस्य। ऋ०प्रा० - ६।३४

१८२ प्रत्ययसवर्णमुदिशाकटायन । वा०प्र० - ३।६

१८३ यकारलोप प्रत्ययान्तर वा। अ०प्रा० - २।१।८ इत्यादि मे

१८४ व्यञ्जने-व्यञ्जने च प्रत्यये पूर्वान्त सस्वर भवति। ऋ०त० - २।३।२

१८५. प्रत्ययोत्तरपदयो:। का०कृ०व्या० स० - ३

१८६. उणादयोभिधास्यन्ते प्रत्ययाधातुत· परे। अ०पु० - ३५७।१

१८७. अर्थवत्प्रातिपदिकम् धातुप्रत्ययवर्जितम्। ना०पु० - २।१६।३ इत्यादि मे

१८८. प्रत्यय पर:। कातन्त्र व्या० - ३।२।१

१८६ त्य·। जै०व्या० - २।१।१

१६० प्रत्यय कृतोषष्ठ्या । पर·। शा०व्या० - १।१।४१, ४४।

१६१ ततो विधीयमान सनादिकाकप· प्रत्यय । स०क०भ० - १।१।६

१६२. अनन्त पञ्चम्या प्रत्यय । सि०हे० शब्दा - १।१।३८

१६३ प्रत्यय कृत अषष्ठ्यर्थस्य। शब्दा० - ६।२।१६

१६४. समासप्रत्यययो । सा०व्या०पू० - १८।३

१६५. परस्त्य·। मु०बो०सू० - १८

१६६ सुबाद्या प्रत्यया परे। सु०व्या० - २।२।२।।

१६७. विभक्तिस्तद्धिताख्यात् कृतास्तप्रत्यया: मता·। प्र०र०मा० - २।५

१६८. प्रत्यय: पर·। ह०ना०व्या० सू० - १५०

१६६. यस्मात् पूरयतेऽर्थान् प्रत्यय उक्तस्ततस्तस्मात्। ना० शा० - १५।२८

२०० अष्टा० - ३।१।६३

२०१ अष्टा० - ३।१।६१

२०२. महाभाष्य - ३।१।६३

२०३ यदमञ्जरी - ३।१।६३

२०४. काशिका वृत्ति - ३।१।६३

२०५ कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम्। गो०ब्रा० - १।१।२६

२०६. कृत नाम दद्यात्। गो०गृ०सू० - २।८।१४

२०७ अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा. कृतो भाष्यन्ते। नि० - २।१।३

२०८. क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहतो यदा स्यात्। वृद्दे० - १।४५

२०६ तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासा शब्दमयम्। वा०प्रा० - १।२६

२१०. कृदन्ते द्व्युपसर्गे। अ०प्रा० - १।१।१० इत्यादि मे।

२११. भूते भव्ये वर्तमाने भावे कर्तरि कर्मणि। प्रयोजके गुणे योग्ये धातुभ्य स्युः क्विबादय.। स्वर्वद् य. कृत्। ऋईर् यनि कृति च। का०कृ०व्या०, सू०-४५, ७१, ८५

२१२. कृतस्त्रिण्वपि विज्ञेया भावे कर्मणि कर्तरि। अ०यु० - ३५६।१

२१३. - - - - - - - कृतः कर्तरि कीर्तिता । ना०पु० - २।१६।८६

२१४. कृत्। कातन्त्र व्या० - ४।२।६१ (यह अधिकार सूत्र है।)

२१५. कृदमिङ्। जै० व्या० - २।१।८०

२१६. ध्याद्यतिङ्कृत्। शा०व्या० - १।१।४३

२१७. तव्यादय. प्राक् तिपः कृतः। स०क०भ० - १।१।११

२१८. आतुमोऽत्यादि कृत्। सि०हे० शब्दा० - ५।१।१

२१९. घ्यणादिः अतिबादिः कृत् सिद्ध । शब्दा० - ४।६।६१

२२०. सारस्वत व्या०, उत्तरार्द्ध - ३५।१।१

२२१ कृद्धो कः भावे । मु०बो०व्या० सू० - ६६५

२२२ कृद्बहुलम् । सु०व्या० - ४।१।१

२२३ कृत कर्तरि । प्र०र०मा० - ६।१।१

२२४. वक्ष्यमाण कृदादौ च । ह०ना०व्या० सू०- ४।४

२२५. अष्टा०- ३।१।६५

२२६ सिद्धान्तकौमुदी- ३।१।६५

२२७ अष्टा०- ३।१।१३३

२२८. पदमञ्जरी- ३।१।६५

२२९ अष्टाध्यायी- ३।३।१६९

२३० महाभाष्य- ३।१।६५

२३१ अष्टा०- ३।३।१०६

२३२. अष्टा०- ३।४।६८

२३३ सि०कौ० सुबोधिनी- ३।४।१४

२३४. अष्टा०- ३।१।१२०

२३५. ते कृत्याः । कातन्त्र व्या०- ४।२।१३०

२३६. ण्वोर्व्या. । जै०व्या०- २।१।८२

२३७ तव्यानीयौ । जै०व्या०- २।१।८३

२३८ प्राङ्ण्वुल कृत्या । स०क०भ० - १।१।१२

२३९. ते कृत्याः । सि०हे० शब्दा० - ५।१।४७

२४० वुण प्राक्कृत्या । शब्दा० - ४।१।१४

२४१ तव्यत्तव्यानीयर । अष्टा० - ३।१।९६

२४२ तव्यानीयौ । कातन्त्र व्या० - ४।२।६३

२४३ कृत्या पञ्चसमाख्याता ध्यण्क्यौ भावकर्मणो । सारस्वत व्या० उत्त० - ३५।७०।२८ के बाद स्वोवृ० श्लो०

२४४ मु०बो०व्या० सू० - ९८९

२४५. कृत्या प्राङ्णकात् । सु०व्या० - ४।१।८

२४६ प्र०र०मा० ६।९८५

२४७ विध्याद्यर्थे तव्यानीययत्क्यप् ण्यत्केलिमाविष्णुकृत्य सञ्ज्ञा ।
ते च प्रायो भावकर्मणो.। ह०ना०व्या०, सू० - १०११

२४८ तथा तव्यो ह्यनीयश्च कर्तव्यकरणीयकम् ।
देयम्, धेयम् चैवयतिण्यति कार्यञ्च कृत्यका.।। अ०पु० - ३५९।४

२४९. एधितव्यमेधनीयमिति कृत्ये निदर्शनम् ।
भावे कर्मणि कृत्या. स्यु. - - - - - - । ना०पु० - २।१६।८९

२५० अष्टा० - ३।२।१२६

२५१. का० वृ० - ३।२।१२७

२५२. अष्टा० - २।२।११

२५३. अष्टा० - ३।३।१४

२५४ महाभाष्य - ३।२।१२७

२५५ तौ सत् । जै० व्या० २।२।१०५

२५६ अष्टाध्यायी १।१।२६

२५७ काशिका वृत्ति १।१।२६

२५८. सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी १।१।२६

२५९ अष्टा० - ३।४।७०

२६० अष्टा० - ३।४।६७

२६१ महाभाष्य - १।१।२६

२६२ क्तक्तवतूनिष्ठा। का०कृ०व्या० सू० - ११

२६३. अपा भेत्ता तवकृतिर्ननिष्ठादिषु षष्ठ्यपि। अ०पु० - ३५४।२५

२६४ न कर्तृकर्मणोः निष्ठादिप्रतिपादिका। एतावैद्विविधाज्ञेया सुबादिसु विभक्तिषु। ना पु - २।१६।१७

२६५ क्तक्तवतू निष्ठा। कातन्त्र व्या० - ४।१।२४

२६६. क्तक्तवतू निष्ठा। स०क०भ० - १।१।१४

२६७. क्तक्तवतू निष्ठा। सु०व्या० - ३।२।१६

२६८. क्तक्तवतू निष्ठा। सारस्व० व्या०, उत्त० - ३५।२।१०५

२६९. क्तक्तवतू निष्ठासज्ञौभूते। प्र०र०मा० - ६।४।१

२७०. अतीतादो क्तक्तवतू विष्णुनिष्ठा सज्ञौ - - - - - - - । ह०ना०व्या० सू० - ६६५ इत्यादि

२७१. क्तक्तवतू त'। जै० व्या० - १।१।२८

२७२. अष्टा० - ३।४।११३

२७३. का०वृ० - ३।४।११३

२७४. अष्टा० - ३।१।६१

२७५. अष्टा० - १।२।४

२७६. अष्टा० – ७।३।१११

२७७. छन्दस्युभयथा। अष्टा० - ३।४।११७

२७८. आपिशलास्तु तुरुस्तुशम्यम· सार्वधातुकासुच्छन्दसि इति पठन्ति। - का०शि०का० वृत्ति -७।३।६५

२७९ इति सार्वधातुके। अ०प्रा० - २।४।२

२८०. नामिनोगुण । सार्वधातुकार्धधातुकयो । का०कृ०व्या० सू० - २२

२८१ षडाद्या· सार्वधातुकम्। कातत्र व्या० - ३।१।३४

२८२ मिङ् शिन्ग । जै० व्या० - २।४।६३

२८३. धातोस्तिङ्शित् सार्वधातुकम्। स०क०भ० - १।१।२०६

२८४. सारस्वत व्या०, उत्तरार्द्ध - स्वो०वृ०- ७।६

२८५ पञ्च र· शिच्च। मु०बो० सूत्र - ५३०

२८६. शिल्लट्लोट्लिङ्लङ· सार्वधातुकम्। सु० व्या० - ३।२।१७

२८७. आद्या लिङ्जोटौ ह्यस्तन्यपिशिच्च शित्। प्र०र०मा० - ८।५४

२८८. अच्युताद्य पञ्च शिवश्च कृष्णधातुका ।। ह०ना०व्या० सू० - ३८७

२८९. अष्टा० - १।४।११४

२९०. अष्टा० - ३।१।६१

२९१. अष्टा० – ३।१।५

२९२. का० वृ० - ३।४।११४

२९३. अष्टा० - ३।४।११५

२९४. अष्टा० - ३।४।११६

२९५. अष्टा० - ३।४।११७

२६६ अष्टा० - ३।४।११६

२६७ नामिनोगुण सार्वधातुकार्धधातुकयो । का०कृ०व्या० सू०स० - २२

२६८ आर्धधातुक शेष । सँल्लिटो च। लिडाशिषि। स०क०भ० - १।१।२१० से २१२

२६६. शेषमलुडार्धधातुकम्। सु०व्या० - ३।२।१८

३००. सारस्वत व्या०, उत्तरार्ध - १।६४

३०१ शेषोऽग एव। लिट्। लिडाशिषि। जै०व्या० - २।४।६४ - ६६

३०२ अन्ये प्रत्यया रामधातुकाः। ह०ना०व्या०, सू०स० - ३८८

३०३ अष्टा० - ४।१।७६

३०४. सि० कौ०- ४।१।७६

३०५. अष्टा० -३।१।१

३०६. न्यास -४।१।७६

३०७. अष्टा० - ४।१।१

३०८. अष्टा० - ४।१।१७

३०६. अष्टा० - ६।४।१४८

३१०. अष्टा० - १।३।८

३११. अष्टा० - ६।४।१४६

३१२. न्यास - १।४।७६

३१३ गूढ प्रकाशिका - द्रष्टव्य - Technical Terms and Technique of sanskrit grammer part - १ पृ० - ६२

३१४. अथ तद्धित समासेष्वेकपर्वसु चाऽनेकपर्वसु चपूर्व पूर्षमपरमपर प्रविभज्य-निर्ब्रूयात्। नि०- २।१।१४

३१५ विग्रहान्निर्वच कार्य समासेष्वपि तद्धिते। बृहद्देवता - २।१०६

३१६ तिङ् कृत् तद्धित चतुष्टय समासा शब्दमय। वा०प्रा० - १।२७

३१७ दक्षिणा तद्धितान्तम्। अ०प्रा० - १।२।११

३१८ लोप प्रकृति-प्रत्यय विभाग सयोग तत्त्ववचनैश्च।

यस्मात् पूरयतेऽर्थासँततोयतस्तद्धितस्तस्मात्।। ना०शा० - १५।२६

३१६ निपातास्तद्धिता प्रोक्ता ------। अ०पु० ३५६।२८

३२० तद्धित त्रिविध वक्ष्ये। अ०पु० ३५६।१

३२१ तद्धिताश्चयाप्यपत्यार्थे ------। ना०पु० - २।१६।५२

३२२. ह्रत । जै०व्या० - ३।१।६१

३२३ इजाद्या यात्तद्धित । शा०व्या० - १।१।४२

३२४. प्राग्जितीया णादय तद्धिता । स०क०भ० - १।१।१५

३२५. तद्धितोऽणादि । सि०हे० शब्दा० - ६।१।१

३२६ अतद्धिते पदेऽनाङि। शब्दा० - २।२।१८ इत्यादि मे।

३२७ सारस्वत व्या० उ० - ३१।५

३२८ सारस्वतव्या०पू०, स्वोप०वृ०-६।१० आदि

३२६ आदिस्त । मु०बो०, सूत्र -५२७

३३०. तद्धिते। सु०व्या०-५।१।१

३३१. एकवाक्ये तद्धिते वा पदादर्थानुसारिण । प्र०र०मा०-७।१

३३२. अथ तद्धिता । हरिनाव्या०, सूत्र - २१५७

३३३ अष्टा० - ४।१।१७४

३३४ सि०कौ० - ४।१।१७४

३३५. अष्टा० - ४।१।११६

३३६ अष्टा० - ५।३।११६

३३७ अष्टा० - ५।३।११२

३३८ सि० कौ० - ५।३।११६

३३९. तद्राजमाचक्षाणस्तद्राज इत्यन्वर्थसंज्ञासामर्थ्यात्। सि०कौ० - ४।१।१६६

३४०. जै० व्या० - ४।२।६

३४१ सि० हे० श० - ६।१।११४

३४२ शा० व्या० - २।४।६८

षष्ठ अध्याय

प्रकृतिप्रत्ययविशिष्ट सम्बन्धी संज्ञा सूत्र

कर्मधारय संज्ञा

महर्षि पाणिनि ने तत्पुरुष के अनेक भेदों मे से समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय सज्ञा का विधान करते हुए कहा है—तत्पुरुष समानाधिकरण कर्मधारय ।''[१] अर्थात् समानाधिकरण तत्पुरुष की कर्मधारय सज्ञा हो।[२] सूत्र में समानाधिकरण शब्द समानविभक्त्यन्त पद का बोधक है। इसका अभिप्राय है कि समानाधिकरण मे पूर्वपद और उत्तरपद—दोनों ही समान विभक्ति मे रहते है। अत समानविभक्तिक अनेक पदावयवक तत्पुरुष को कर्मधारय सज्ञा होती है। बालमनोरमाकार के ही शब्दो मे—

''समानम् एकमधिकरण वाच्य ययो पदयो , ते समानाधिकरणे पदे, ते अस्य स्त इति समानाधिकरणः मत्वर्थीय अर्शआद्यच्। समानाधिकरणानेकपदावयवकस्तत्पुरुष कर्मधारयसज्ञको भवतीत्यर्थ.।''[३]

महर्षि पाणिनि ने समास प्रकरण मे कर्मधारय संज्ञा का विधान नहीं किया है। आचार्य कैय्यट इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि तत्पुरुष सज्ञा प्रकरण मे कर्मधारय सज्ञा का विधान इसलिए नही किया गया कि जिससे एक सज्ञाधिकार के कारण तत्पुरुष सज्ञा का बाध न हो। आचार्य कैय्यट के ही शब्दो मे—''तत्पुरुषसज्ञाप्रकरणे इय संज्ञा न कृता, एकसज्ञाधिकरात् तत्पुरुष सज्ञाया बाधो माभूत्।''[४]

किन्तु आचार्य नागोजिभट्ट इसका अन्य ही कारण मानते हैं। तदनुसार ''शेषो बहुब्रीहि ''[५] सूत्र मे शेष पद के द्वारा प्रथमा विभक्ति का ग्रहण होता है। कर्मधारय समास भी प्रथमा मे ही सम्पन्न होता है। यदि आचार्य पाणिनि कर्मधारय सज्ञा का विधान तत्पुरुष के मध्य करते तो शेषपद उपपन्न न होता। इसीलिए आचार्य पाणिनि ने कर्मधारय सज्ञा का विधान प्रथम अध्याय मे ही कर दिया है।

आचार्य नागेशभट्ट के ही शब्दो मे–

''एतदपि वक्तु शक्यते-''शेषो बहुव्रीहि ''[६] इत्यत्र शेषपदेन प्रथमा तत्पुरुषो गृह्यते, तत उपरिष्टात् प्रथमा समासस्यानुक्तत्त्वात्। कर्मधारयश्च प्रथमायामेव सम्पद्यते ''विशेषण विशेष्येण बहुलम्''[७] ''उपमानानि सामान्यवचनै.''[८] इत्यादि सूत्रै । तेन यदि कर्मधारयस्तत्पुरुषमध्येपठ्येत तर्हि शेषपद नोपद्येतेति तत. पृथक् प्रथमाध्यायेऽत्र कर्मधारयसज्ञोपस्थापितेति।''[९]

कर्मधारय संज्ञा अन्वर्थक है और पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त हैं। बृहद्देवता में कर्मधारय सज्ञा का स्पष्टत उल्लेख प्राप्त होता है।[१०] नाट्यशास्त्र मे भी षड्विध समासो का उल्लेख है, जिससे कर्मधारय का भी ग्रहण होता है।[११] अग्निपुराण मे सात प्रकार के कर्मधारय की चर्चा विद्यमान है।[१२] नारदपुराण मे भी कर्मधारय की चर्चा की गयी है।[१३]

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण में अष्टाध्यायी के समान ही कर्मधारय की परिभाषा दी गई है।[१४] शाकटायन व्याकरण[१५], भोजदेव[१६], आचार्य हेमचन्द्र[१७] और मलयगिरि[१८] ने भी कर्मधारय सज्ञा का विधान किया है। सारस्वत व्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप मे ''द्वन्द्वकर्मधारयौ चोभयपदप्रधानौ''[१९] इस स्वोपज्ञवृत्ति द्वारा कर्मधारय सज्ञा की परिभाषा बतायी है। जैनेन्द्र व्याकरण मे कर्मधारय संज्ञा के स्थान पर 'य' सज्ञा का विधान किया गया है।[२०]

मुग्धबोध व्याकरण में आचार्य बोपदेव ने भी जैनेन्द्र व्याकरण के समान कर्मधारय के स्थान पर उसके एकदेश ''य'' सज्ञा का विधान किया है।[२१] सुपद्म व्याकरण मे कर्मधारय का विधान बाहुलकात् किया गया है।[२२] प्रयोगरत्नमाला मे भी कर्मधारय सज्ञा विहित है।[२३] हरिनामामृत व्याकरण मे कर्मधारय को ''श्यामराम'' कहा गया है। [२४]

अष्टाध्यायी मे कर्मधारय सज्ञा के प्रयोग-स्थल निम्नलिखित हैं–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	उपमानानि सामान्यवचनै.	२।१।५५	कर्मधारय समास	घनश्याम. नृसोमः।
२.	विशेषण विशेष्येण बहुलम्	२।१।५७	कर्मधारयसमास	नीलोत्पलम् कृष्णसर्प.।

३.	कुमारः श्रमणादिभिः	२।१।७०	कर्मधारय समास	कुमारश्रमणा
४.	कडाराः कर्मधारये	२।२।६८	पूर्वनिपातः	कडारजैमिनिः
५.	पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु	६।३।४२	पुंवद्भाव	महानवमी, कृष्ण चतुर्दशी।

उपसर्जन संज्ञा

अष्टाध्यायी में उपसर्जन संज्ञा का विधान आचार्य पाणिनि ने दो सूत्रों द्वारा किया है, जिसमें प्रथम सूत्र है–''प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्।''[२५] प्रकृत सूत्र में 'उपसर्जनम्' संज्ञा है तथा 'समासे प्रथमानिर्दिष्टम्' संज्ञी। सूत्र में 'समासे' पद लक्षणा से समास विधायक शास्त्र (सूत्र) का बोधक है। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा–समास विधायक सूत्र में जो प्रथमाविभक्त्यन्त पद होगा, तद्बोध्य अर्थ के (लक्ष्यस्थ) वाचक शब्द की उपसर्जन संज्ञा होती है।[२६] उपसर्जन संज्ञा का फल है–'समास में उसका पूर्व प्रयोग होना है। जैसे–'राजपुरुषः' में 'षष्ठी'[२७] सूत्र से तत्पुरुष समास होता है। समास विधायक सूत्र में 'षष्ठी' पद प्रथमान्त है। तद्बोध्य अर्थ का वाचक लक्ष्यस्थ पद में 'राजन् + ङस्' है, इसलिए इसकी प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होगी और ''उपसर्जनं पूर्वम्''[२८] में उसका पूर्व प्रयोग होगा। उपसर्जन संज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–'एक विभक्ति चापूर्व निपाते[२९]''। सूत्र में 'एक' पद निश्चयार्थक है, और अनुवृत्त 'समासः' पद विग्रहवाक्यार्थ का बोधक है। 'उपसर्जनम्' पद की भी अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्रार्थ निष्पन्न होता है–विग्रहवाक्य में निश्चित विभक्ति वाले पद की भी उपसर्जन संज्ञा होती है (किन्तु) उसका पूर्वनिपात (पूर्व प्रयोग) नहीं होता[३०]। जैसे–''निष्कौशाम्बिः''। इसमें 'कौशाम्बी' पद पञ्चमी विभक्त्यन्त नियत विभक्तिक है–कौशाम्ब्याः। इसके साथ निष्क्रान्त पद 'निष्क्रान्तः निष्क्रान्तं, निष्क्रान्तेन, निष्क्रान्ताय, निष्क्रान्तात् के रूप में अनेक विभक्ति युक्त हो सकता है, इसीलिए नियत विभक्तिक कौशाम्बी की प्रकृत सूत्र से उपसर्जन संज्ञा होती है और पूर्व प्रयोग नहीं होता, प्रत्युत उपसर्जन संज्ञक होने के कारण 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य[३१]'' सूत्र से ह्रस्वान्तादेश होकर 'निष्कौशाम्बिः' रूप की निष्पत्ति होती है।

यहाँ पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'राज्ञः कुमार्याः' इत्यादि स्थलों पर जहाँ दोनों पद

षष्ठ्यन्त होने के कारण उपसर्जन सञ्ज्ञक है, वहाँ पर पूर्वनिपात किसका होगा। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने कहा है कि राजपद की अपेक्षा कुमार पद प्रधान होने के कारण कुमारी पद का पूर्वनिपात नही होगा और कुमारी शब्द को ह्रस्वादेश भी नही होगा। भाष्यकार के ही शब्दो मे–''षष्ठ्यन्तयो· समासेऽर्थाभेदात् प्रधानस्यापूर्वनिपात इति। तस्य कुमारी शब्दस्य एवम्' इति पदापेक्षयोपसर्जनत्वाद्ध्रस्वत्वन्तु तदन्तस्याप्रातिपदिकत्वाद् वार्यते।''[३२]

उपसर्जन सञ्ज्ञा अन्वर्थक सञ्ज्ञा है। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है–

''उपसर्जनमिति महती सञ्ज्ञा क्रियते। सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीय । कुत एतत् २ लघ्वर्थ हि सञ्ज्ञा करणम्। तत्रमहत्या· सञ्ज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनमन्वर्थ सञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत..अप्रधानमुपसर्जनमिति। प्रधानमुपसर्जनमिति च सम्बन्धिशब्दावेतौ। तत्र सम्बन्धादेतद्गन्तव्यम् यं प्रति यदप्रधानम त प्रति तदुपसर्जनसंज्ञं भवति।''[४३]

इस सन्दर्भ मे प्रदीपकार कैय्यट का भी अभिमत है कि लोक मे अप्रधान के लिए उपसर्जन शब्द का व्यवहार होता है। उसी प्रकार शास्त्र मे भी उपसर्जन शब्द व्यवहृत होता है।

''लोके चाप्रधानमुपसर्जनमुच्यते, इहापि तथैवाश्रीयते इत्यर्थः।''[३४]

आचार्य पाणिनि ने ''कालोपसर्जने च तुल्य'[३५] मे उपसर्जन का जो प्रत्याख्यान किया है वह प्रत्याख्यान लोक मे प्रसिद्धि के कारण किया है, इसके आधार पर यह पूर्वाचार्य विहित सञ्ज्ञा है, ऐसा नही समझना चाहिए। सम्भवतः लोक मे अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण ही यह सञ्ज्ञा न तो उपलब्ध प्रातिशाख्यादि ग्रन्थो में मिलती है और न ही अर्वाचीन वैय्याकरणो के द्वारा यह प्रयुक्त है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपसर्जन सञ्ज्ञा शास्त्रीय कार्य सम्पादनार्थ पाणिनि की अपनी उद्भावना है।

अष्टाध्यायी मे उपसर्जन सञ्ज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१	उपसर्जनम् पूर्वम्	२।२।३०	पूर्वनिपात	नीलोत्पलम्, कृष्णासर्प
२.	गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य	१।२।४८	ह्रस्व	निष्कौशाम्बि·, अपदिशम्
३.	राजदन्तादिषु परम्	२।२।३१	परनिपात	राजदन्त·, अग्रेवणम्।

पद संज्ञा

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे पाच सूत्रो के द्वारा पद सज्ञा का विधान किया है। जिनमे पहला सूत्र है–''सुप्तिङन्तम् पदम्[३६]''। अर्थात् सुबन्त और तिङन्त की पदसज्ञा हो[३७]। यहाँ पर विग्रह होगा– सुप् च तिङ् च इति सुप्तिङौ। सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत् सुप्तिङन्तम्। 'अन्त' पद का सम्बन्ध द्वन्द्व समास के कारण सुप् और तिङ् दोनो के साथ होता है। प्रस्तुत सूत्र मे 'सुप् से अभिप्राय ''स्वौजसमौट्छष्टाभ्याभिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्''[३८] सूत्र से विहित 'सु औ जस्' प्रभृति इक्कीस प्रत्ययो और 'तिङ्' से अभिप्राय धातु से विहित ''तिप्तस्झिसिप्थस्थ मिब्वस्मस्तातांझथासाथाम्ध्वमिड्वहिमहिङ्''[३९] सूत्र द्वारा उल्लिखित १८ प्रत्ययो से है। पदसज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–'न क्ये''[४०] क्यच् और क्यङ्के परे रहते नान्त सुबन्त शब्दस्वरूप की पद सज्ञा होती है।[४१] पद सज्ञा विधायक तीसरा सूत्र है– 'सितिच[४२]'। इसका अभिप्राय है कि 'स्' इत्सज्ञक परवर्ती होने पर पूर्व की पद संज्ञा हो[४३]। जैसे ''पर्शूना समूहः= पर्शु + अ (णस्)। यहाँ पर प्रकृत सूत्र से पद सज्ञा होने के कारण 'ओर्गुण·[४४]' से गुण न होकर आदि वृद्धि होकर 'पार्श्वम्' रूप सिद्ध होता है। पद सज्ञा का विधान करने वाला चतुर्थ सूत्र है– ''स्वादिष्वसर्वनाम स्थाने''[४५]। इसका अभिप्राय है कि 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनाम स्थान भिन्न सु आदि प्रत्ययो के परवर्ती होने पर पूर्व की पद सज्ञा होती है।[४६] इनके अतिरिक्त 'अयस्मयादीनिच्छन्दसि'[४७] सूत्र द्वारा वेद मे अयस्मयादिगण पठित शब्दो की भी पदसज्ञा का विधान किया है। इस गण मे पठित शब्द कही पदसज्ञक होते हैं और कहीं भसज्ञक।[४८]

पद सज्ञा अन्वर्थक है। ''पद्यते गम्यते ज्ञायते अर्थोऽनेनेति पदम्'। केवल प्रकृत्यर्थ अथवा प्रत्ययार्थ के अलग-अलग प्रयोग के अभीष्ट न होने के कारण उनके समुदाय के ही प्रयोग मे सार्थकता होने से सुबन्त और तिङन्त की पद सज्ञा समीचीन होती है।

पूर्वाचार्यो द्वारा 'अर्थ' की ही पद सज्ञा अभिमत थी, ऐसा निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने इन्द्र के मत को उद्धृत करते हुए कहा है[४९] अर्थ की 'पद सज्ञा' वाजसनेयि प्रातिशाख्य मे भी विहित है।[५०] भाष्यकार उव्वट ने भी अर्थ की पद संज्ञा मानी है। उन्हीं के शब्दो मे

अर्थाभिधायि पदम्। पद्यते, गम्यते, ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्। यद्येवं निपातस्यानर्थकस्य पदसज्ञा न प्राप्नोति। नैषदोष , उपरिष्टादर्थभेद निबन्धनम् पदचतुष्टयम् वक्ष्यति–नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।[५१]

पद सज्ञा के संज्ञी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अनन्त भट्ट कहते है–''अर्थयन्तेऽभिधीयन्तेऽनेनेति अर्थ = शब्दविशेष इत्यर्थ । अर्थाभिधायकम् यच्छब्दरूप तत् पदम् स्यात्।[५२]

कही कही पर पद सज्ञा द्वारा वाक्य का भी ग्रहण हो जाता है। जैसा कि कैय्यट का वचन है–

''पदान्तग्रहणमित्यत्र पदशब्देन वाक्यमुच्यते। पद्यते प्रतीयते अनेनार्थ इति पदमित्यन्वर्थग्रहणात्।''[५३]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय में सर्वप्रथम गोपथ ब्राह्मण मे प्रणव वर्णन के सन्दर्भ मे पद शब्द का प्रयोग हुआ है।[५४] निरुक्त मे भी चार प्रकार के पद स्वीकार किये गये है।[५५] बृहद्देवता मे पद की परिभाषा करके पाँच प्रकार के भेद कहे गये है।[५६] ऋग्वेद प्रातिशाख्य में चार प्रकार के पद बताये गये है।[५७] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के वैदिकाभरण भाष्य[५८] और त्रिभाष्य रत्न[५९] मे भी पद संज्ञा का उल्लेख है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य[६०] और ऋक्तन्त्र[६१] में भी पदसज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में 'अक्षर समुदायः पदम्'[६२] 'अक्षरंवा'[६३] तच्चतुर्धा[६४]– नामाख्यातोपसर्गनिपाताः[६५] कहकर पदसंज्ञा के विषय में चर्चा की गयी है। नारदपुराण मे भी 'सुप्तिङ्न्त पदम् विप्र।'' कहकर पदसज्ञा का विधान किया गया है[६६]। काशकृत्स्न व्याकरण[६७] तथा नाट्यशास्त्र[६८] मे विना परिभाषा के ही 'पद' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शौनकीया चतुराध्यायिका[६९] मे भी निरुक्त के समान पद के नाम आदि चार भेद कहे गये हैं।

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[७०], मे पद संज्ञा का विधान किया गया है। आचार्य देवनन्दी ने अष्टाध्यायी के समान ही पद सज्ञा का प्रतिपादन किया है।[७१] 'शाकटायन व्याकरण[७२]' 'सरस्वती कण्ठाभरण[७३] 'सिद्धहेमशब्दानुशासन[७४]' 'शब्दानुशासन[७५]' एव 'सारस्वत व्याकरण[७६]' मे भी पद सज्ञा का विधान प्राप्त होता है। आचार्य बोपदेव ने पद सज्ञा के स्थान पर 'द' सज्ञा का विधान किया है।[७७] सुपद्मव्याकरण[७८] और प्रयोगरत्नमाला[७९] मे भी भी पदसज्ञा

का विधान न्यूनाधिक रूप मे अष्टाध्यायी के समान ही किया गया है। हरिनामामृत[८०] व्याकरण में पदसज्ञा के स्थान पर 'विष्णुपद' सज्ञा का विधान किया गया है। अग्निपुराण[८१] मे विना परिभाषा के ही पद शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अष्टाध्यायी मे पद सज्ञा के प्रयोग-स्थल निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	आमन्त्रितस्य च	८।१।१९	अनुदात्त	इम मे गङ्गे यमुने सरस्वति
२	मोऽनुस्वार	८।३।१२	अनुस्वार	हरि वन्दे
३.	सात्पदाद्यो.	८।३।१११	स् के षत्व का निषेध	दधि सिञ्चति
४.	उञि च पदे	८।३।२१	य् और व् का लोप	स उ एकाग्नि ।
५	पूर्वपदात्सज्ञायामग	८।४।३	न् का णत्व	शूर्पणखा, अक्षौहिणी

आम्रेडित संज्ञा

आचार्य पाणिनि आठवी अध्याय के प्रारम्भ मे द्विरुक्त विधान के प्रसङ्ग में आम्रेडित सज्ञा का विधान "तस्य परमाम्रेडितम्"[८२] सूत्र द्वारा करते है। इसका अभिप्राय है कि दो बार कहे गये शब्द मे बाद वाले की आम्रेडित सज्ञा होती है।[८३] जैसे–'चौर-चौर ३ घातयिष्यामि त्वाम्' इत्यादि स्थलो पर द्वितीय 'चौर' शब्द की आम्रेडित सज्ञा होती है। और 'आम्रेडितम् भर्त्सने'[८४] से प्लुत आदेश हो जाता है।

न्यासकार ने आम्रेडित सज्ञा को अन्वर्थक संज्ञा माना है। उन्हीं के शब्दो मे–

"आम्रेडितमिति महत्या सज्ञाया करणमन्वर्थसंज्ञाविज्ञानार्थम्। आम्रेड्यते आधिक्येनोच्यते इत्याम्रेडितम्। तेनेहापि भवति। अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया। मध्य रोचते, मध्य रोचते इति। दर्शनीयत्वस्य रुचेश्चाधिक्य द्योतयितुमत्र द्रष्टव्य द्विर्वचनम्। एतदेव महत्या सज्ञाया करण ज्ञापकमाधिक्याभिधाने द्विर्वचन भवतीति।"[८५]

प्रातिशाख्यो मे इस संज्ञा के उपलब्ध होने के कारण ज्ञात होता है कि यह पूर्वाचार्य प्रयुक्त

सज्ञा है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य[८६] शौनकीय चतुराध्यायिका[८७] और अथर्ववेद प्रातिशाख्य[८८] मे आम्रेडित संज्ञा का विधान किया गया है। अग्निपुराण[८९] मे भी आम्रेडित पद व्यवहृत हुआ है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो में केवल सारस्वतव्याकरण[९०] और हरिनामामृत[९१] व्याकरण मे आम्रेडित पद का प्रयोग बिना परिभाषा के किया गया है।

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त आम्रेडित सज्ञा के स्थल अधोलिखित है-

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	आम्रेडितं भर्त्सने	८।१।२	टि का प्लुत	दस्यो, दस्यो ३ घातयिष्यामि त्वाम् चौर चौर ३।
२.	नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तुवा	६।१।९९	पररूपनिषेध	पटत्पटेति।
३.	चनचिदिवगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः		तिङन्त का अनुदात्तत्व निषेध	देव. पचति पचति

गति संज्ञा

अष्टाध्यायी मे बीस सूत्रों द्वारा गति सज्ञा का विधान किया गया है। महर्षि पाणिनि सर्वप्रथम प्रादि की गति सज्ञा का विधान 'गतिश्च'[९२] सूत्र द्वारा करते है। सूत्र में 'प्रादय ' और 'क्रियायोगे' पद की अनुवृत्ति होगी। सूत्र में आये हुए 'च' शब्द के द्वारा उपसर्ग संज्ञा का भी विधान किया गया है। अन्यथा 'आकडारादेकासंज्ञा'[९३] नियम से दोनो संज्ञाओं मे से क्रमश एक-एक संज्ञा होती। सूत्र मे क्रियायोग का तात्पर्य है कि जिस धात्वर्थ क्रिया में जिस प्रादि शब्द के अर्थ का सम्बन्ध है, उसी धातु के प्रति प्रादि की गत्यादि सज्ञाएँ होती है। क्रियाया. योग = सम्बन्ध इति क्रियायोग तस्मिन्। इसीलिए 'प्रवृद्धम् कृतम् इति प्रकृतम्' में 'प्र' का सम्बन्ध वृद्ध के साथ होने से 'गतिरनन्तरः[९४] सूत्र से प्राकृति-स्वर नहीं हुआ क्योकि 'प्र' का योग 'कृत' (क्रिया) के साथ नहीं है। इस प्रकार सूत्र का अभिप्राय है-क्रिया के योग (सम्बन्ध) में 'प्र' आदि शब्दो की गतिसंज्ञा तथा उपसर्गसज्ञा होती है।[९५] अष्टाध्यायी मे 'उपसर्गाः क्रियायोगे'[९६] के तत्काल

पश्चात् ''गतिश्च' सूत्र पढा गया है। इस पर प्रश्न उठता है कि दोनो सूत्रो को एक ही क्यो न मान लिया जाय। इसका समाधान यह है कि योग-विभाग करके दो सूत्रो के रूप मे इनका पाठ इसलिए है कि बाद मे आये हुए शब्दो की गतिसञ्ज्ञा ही हो, उपसर्ग सञ्ज्ञा न हो। काशिकाकार के ही शब्दो मे–

''योगविभाग उत्तरार्थ , उत्तरत्रगतिसञ्ज्ञैव यथा स्यात्, उपसर्ग सञ्ज्ञा मा भूत्। ऊरीस्यादित्यत्र ''उपसर्गप्रादुर्भ्यानस्तिर्यच्पर '' इति षत्वम् प्रसज्यते।''[९७]

एक साथ सञ्ज्ञाद्वय के विधान के कारण 'प्रणीतम्' इत्यादि स्थलो पर गति सञ्ज्ञा के अभिप्राय से ''गतिरनन्तर ''[९८] सूत्र से प्रकृति स्वर और उपसर्ग सञ्ज्ञा के कारण ''उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य''[९९] सूत्र से णत्व हो जाता है। गति सञ्ज्ञा विधायक अन्य सूत्र निम्न है–

(१) **ऊर्यादिच्विडाचश्च**[९९]– ऊरी आदि, च्विप्रत्यय और डाच् प्रत्यय क्रिया के योग मे गति सञ्ज्ञक होते है।[१००] इनके उदाहरण है–ऊरीकृत्य, शुक्लीकृत्य और पटपटाकृत्य।

(२) **अनुकरण मचानितिपरम्**[१०१]–अनुकरण की गति सञ्ज्ञा होती है 'इति' परे को छोडकर[१०२] जैसे–खाट्कृत्य। चूँकि सूत्र मे इति शब्द परे रहते गति सञ्ज्ञा का विधान नहीं हुआ, इसलिए 'खाट् इतिकृत्वा' अनुकरण वाची 'खाट्' की गतिसञ्ज्ञा नही हुई।

(३) **आदरानादरयोः सदसती**[१०३]–सत् और असत् शब्द क्रमश आदर तथा अनादर अर्थ मे विद्यमान हो, तो उनकी क्रिया योग में गति संज्ञा होती है।[१०४] जैसे–सत्कृत्य और असत्कृत्य।

(४) **भूषणेऽलम्**[१०५]–भूषण अर्थ मे विद्यमान 'अलम्' अव्यय गतिसंज्ञक होता है।[१०६] जैसे–अलङ्कृत्य। भूषण अर्थ के अतिरिक्त पर्याप्त अर्थ मे 'अलम्' का 'कृत्वा' के साथ समास गतिसञ्ज्ञा न होने के कारण नही होता। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार–'अनुकरणम् चानितिपरम्', 'आदरानादरयोः सदसती' और 'भूषणेऽलम्'–इन तीन सूत्रो मे विधीयमान समास शब्दशक्ति स्वभाव से 'कृञ्' के योग मे होता है। बालमनोरमाकार के अनुसार–उपर्युक्त तीन सूत्रो के सङ्कोच मे प्रमाणाभाव के कारण दूसरी धातुओं के योग में भी प्रवृत्ति देखी गयी है। इसीलिए वृत्तिकार ने 'अलभुक्त्वा ओदन गत ' मे समास नहीं किया।[१०७]

(५) **अन्तरपरिग्रहे**[१०८]– अपरिग्रह अर्थ मे क्रिया के योग मे 'अन्तर्' अव्यय गतिसज्ञक होता है।[१०९] जैसे–अन्तर्हत्य। सूत्र मे अपरिग्रह (अस्वीकार) अर्थ का निर्देश होने के कारण ''अन्तर्हत्वा गत ' मे स्वीकारार्थक होने से गति सज्ञा न होने के फलस्वरूप समास नही होता।

(६) **कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते**[११०]– श्रद्धा के 'प्रतीघात' अर्थ मे 'कणे' शब्द और 'मनसि' शब्द की गति सज्ञा होती है।[१११] यहाँ 'श्रद्धा' का अभिप्राय अत्यन्त अभिलाषा है और 'प्रतीघात' का अर्थ निवृत्ति। जैसे 'कणेहत्य पय. पिबति'। इसका अभिप्राय है कि अभिलाष निवृत्ति पर्यन्त दूध पीता है। सूत्र मे 'श्रद्धाप्रतीघाते' पद के सन्निवेश के कारण 'कणे हत्वा गत ' अथवा 'मनो हत्वा गत.' जैसे प्रयोगो मे कणे और मनसि की गति सज्ञा नही होती, जिससे समास नही होता।

(७) **पुरोऽव्ययम्**[११२]–क्रिया के योग मे 'पुरस्' अव्यय गति सज्ञक होता है।[११३] जैसे पुरस्कृत्य।

(८) **अस्तञ्च**[११४]– मकारान्त अव्यय 'अस्तम्' की क्रियायोग मे गति सज्ञा होती है।[११५] जैसे–'अस्तङ्गत्य पुन. उदेति। यदि अस्त शब्द अव्यय नही है तो उसकी गति सज्ञा नही होगी। जैसे–अस्तङ्कृत्वा काण्ड गत ।

(९) **अच्छगत्यर्थवदेषु**[११६]–'अच्छ' अव्यय की गति सज्ञा होती है।[११६] जैसे– अच्छगत्य, अथवा अच्छोद्य। अव्ययवाची 'अच्छ' की ही गति संज्ञा होती है– जैसे–जलम् अच्छम् गच्छति। यहाँ 'अच्छ' विशेषण है, अत गतिसज्ञा नहीं हुई।

(१०) **अदोऽनुपदेशे**[११८]– अदस् शब्द के क्रिया समन्वित होने पर यदि उस वाक्य से किसी को समझाने की प्रतीति न हो, तो उसकी गतिसज्ञा होती है[११९] जैसे–अदकृत्य, अदकृतम्। यदि किसी दूसरे को समझाने की प्रक्रिया का निर्देश हो तो अदस् शब्द की गति सज्ञा नही होती, जैसे–अद कृत्वा, अद कुरु।

(११) **तिरोऽन्तर्धौ**[१२०]–सूत्र का अर्थ है कि व्यवधान (छिपना) अर्थ होने पर क्रिया योग मे 'तिरस्' शब्द की गति संज्ञा होती है।[१२१] जैसे–तिरोभूय। तिरस् शब्द के छिपने के अलावा अर्थों में गतिसंज्ञा नहीं होती। जैसे–तिरोभूत्वा स्थितः।

(१२) **विभाषा कृमि**[१२२]– कृ धातु के योग मे 'तिरस्' शब्द की गति सज्ञा विकल्प से होती है,[१२३] जैसे तिरस्कृत्य तिरकृत्य, तिर कृत्वा।

(१३) **उपाजेऽन्वाजे**[१२४]–'कृ' धातु के योग मे 'उपाजे' तथा 'अन्वाजे' इन दो अव्ययो की विकल्प से गति सज्ञा होती है।[१२५] जैसे–उपाजेकृत्य, उपाजेकृत्वा अथवा अन्वाजेकृत्य, अन्वाजेकृत्वा।

(१४) **साक्षात्प्रभृतीनि च**[१२६]– कृञ् धातु के योग में साक्षात्प्रभृति गण पठित अव्ययो की विकल्प से गति सज्ञा होती है।[१२७] जैसे–साक्षात्कृत्य साक्षात् कृत्वा।

(१५) **अनत्याधान उरसिमनसी**[१२८]– कृके योग मे उरसि तथा मनसि की विकल्प से गति सज्ञा होती है, यदि इनका अर्थ उपश्लेष न हो।[१२९] जैसे–उरसिकृत्य, उरसिकृत्वा, मनसिकृत्य, मनसिकृत्वा। उपश्लेष अर्थात् सयोग रहित स्थिति न होने के कारण 'उरसि कृत्वा पाणि शेते' जैसे स्थलो पर 'उरसि' की गति सज्ञा न होने के कारण समास का अभाव हुआ।

(१६) **मध्ये पदे निवचने च**[१३०]– कृ के योग मे मध्ये, पदे तथा निवचने अव्ययों की विकल्प से गति संज्ञा होती है किन्तु इसके लिए भी अनत्याधान (उपश्लेष) विवक्षित है[१३१], जैसे–मध्येकृत्य मध्येकृत्वा, पदेकृत्य, पदेकृत्वा, निवचनेकृत्य निवचने कृत्वा। उपश्लेष अर्थ न होने पर ''हस्तिन पदे कृत्वा शिर· शेते' में पदे की गति संज्ञा न होने से समास नही हुआ।

(१७) **नित्यं हस्ते पाणावुपयमने**[१३२]– कृञ् धातु के योग में 'हस्ते' और 'पाणौ' शब्दो की विवाह अर्थ होने पर गति सज्ञा होती है[१३३]। जैसे–हस्तेकृत्य, पाणौकृत्य। विवाह के अतिरिक्त अर्थ होने पर इन शब्दो की गति सज्ञा नहीं होती, जैसे–हस्ते कृत्वा स्वर्ण गतो भृत्यः।

(१८) **प्राध्वम् बन्धने**[१३४]– मकारान्त 'प्राध्वम्' अव्यय की बन्धनविषयक अनुकूलता अर्थ मे 'कृञ्' के योग मे नित्य गति सज्ञा होती है।[१३५] जैसे–प्राध्वम्कृत्य। मनाने से वश मे होने पर गति सज्ञा नहीं होगी, जैसे प्राध्वम् कृत्वा।

(१९) **जीविकोपनिषदावौपम्ये**[१३६]– जीविका तथा उपनिषद् शब्दों की कृञ् धातु का योग

होने पर औपम्य (तुलना) अर्थ मे नित्य गति सज्ञा होती है।[१३७] जैसे जीविकाकृत्य, उपनिषत्कृत्य। उपमार्थ के अभाव मे जीविकाम् कृत्वा रूप ही बनेगा।

इन सूत्रो मे 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' सूत्र से लेकर 'जीविकोपनिषदावौपम्ये' सूत्र पर्यन्त सर्वत्र गति , क्रियायोगे, निपाता· का अनुवर्तन होगा। 'अस्तञ्च' और 'अच्छगत्यर्थवदेषु' सूत्रो मे 'अव्ययम्' पद का भी अनुवर्तन होगा। 'विभाषाकृञि' सूत्र मे 'तिरोऽन्तर्धौ' पद का अनुवर्तन होगा। 'उपाजेऽन्वाजे' सूत्र से लेकर 'मध्येपदे निवचने च' सूत्र तक 'विभाषा' और 'कृञि' पद का भी अनुवर्तन होगा। यही नही, 'मध्ये पदेनिवचने च' सूत्र मे 'अनत्याधाने' पद का भी अनुवर्तन होगा। 'नित्य हस्ते पाणावुपयमने' सूत्र मे 'कृञि' पद का भी अनुवर्तन होगा 'प्राध्वम्बन्धने' 'जीविकोपनिषदावौपम्ये' सूत्रो मे 'नित्यम्' और 'कृञि' पद का भी अनुवर्तन होगा। इन अनुवर्तनो के पश्चात् ही सूत्रार्थ पूर्ण होता है।

ऋक्तन्त्र[१३८] और अथर्ववेद प्रातिशाख्य[१३९] मे गति सज्ञा का प्रयोग होने के कारण यह प्रतीत होता है कि यह पूर्वाचार्य विहित सज्ञा है। नारदपुराण[१४०] मे भी गति सज्ञा का उल्लेख हुआ है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे गतिसंज्ञा का प्रयोग प्राय· देखा जाता है।[१४१] जैनेन्द्र व्याकरण मे 'गति' के एकदेश 'ति' सज्ञा का विधान किया गया है।[१४२]

अष्टाध्यायी में गति सज्ञा का प्रयोग अधोलिखित सूत्रो मे द्रष्टव्य है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	कुगति प्रादय	२।२।१८	तत्पुरुष समास	ऊरीकृत्य पटपटाकृत्य, सत्कृत्य
२.	गतिरनन्तर	६।२।४९	पूर्वप्रकृतिस्वर	पुरोहितम्
३	गतिकारकोपपदात्कृत्	६।२।१३९	प्रकृतिस्वर	प्रकारक· प्रहरणम्
४	गतिर्गतौ	८।१।७०	अनुदात्त	अभ्युद्धरति।

समास-सञ्ज्ञा

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप जिन पदो का निरूपण किया है, वे न केवल व्यस्त रूप मे अर्थावबोधक होते है अपितु

सङ्गत रूप मे भी अर्थ के बोधक होते है। इस तथ्य को बतलाने के लिए महर्षि पाणिनि ने 'प्राक् कडारात् समास '[१४३] सूत्र से समास-सञ्ज्ञा का विधान किया है। वृत्तिकार के अनुसार 'कडारा· कर्मधारये' सूत्र से पूर्व जिनका भी विधान किया जायेगा, वे समास सञ्ज्ञक होगे।[१४४] सूत्र मे प्राक् पद का ग्रहण अव्ययीभावादि सञ्ज्ञाओं के समावेश के लिए किया गया है अन्यथा समास-सञ्ज्ञा के साथ-साथ अव्ययीभावादि सञ्ज्ञाएँ न होती।

समास-विधि समर्थ पदो की ही होती है। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है-१. व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य और २. एकार्थीभाव सामर्थ्य। व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य वाक्य मे होता है और एकार्थीभाव सामर्थ्य समासगत होता है। एकार्थीभाव सामर्थ्य का अभिप्राय है-''एकार्थीभावलक्ष्य सामर्थ्य तु प्रक्रियादशाया प्रत्येकमर्थवत्वेन पृथग्गृहीताना पदाना समुदायशक्त्या विशिष्टैकार्थ-प्रतिपादकता रूपम्'' अर्थात् प्रक्रिया दशा मे प्रत्येक अर्थवान् पृथक् गृहीत पदो का विशिष्ट एकार्थ प्रतिपादन को एकार्थीभाव सामर्थ्य कहते है। इस सन्दर्भ मे कैयट का मत है कि जहाँ प्रधान अर्थ के लिए पद अपने अर्थ को गौण बना ले या छोड़ दें अथवा वे पद व्यर्थ हो जायँ या किसी दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करे, वही एकार्थी भाव होता है।[१४५] एकार्थीभावरूप शक्ति ही समासगत अनेक पदो के अर्थो को बतलाने मे समर्थ है। इससे वाग्व्यवहार मे लाघव उत्पन्न होता है, जैसा कि 'वैयाकरणभूषण सार' मे कहा गया है-

'बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने।

स्यान्महद्गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आस्थितः।।'[१४६]

एकार्थीभाव सामर्थ्य में समर्थ पद सङ्गतार्थ और ससृष्टार्थ को बोधित करता है। इस तथ्य को महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दो मे अभिव्यक्त किया है-''तद्यदा एकार्थीभाव· सामर्थ्यम्, तदैव विग्रहः करिष्यते-सङ्गतार्थ· समर्थ·, ससृष्टार्थ समर्थ इति। तद्यथा....सङ्गत घृत सङ्गतं तैलमित्युच्यते, एकीभूतमिति गम्यते। संसृष्टार्थः समर्थ इति। तद्यथा-ससृष्टोऽग्निरित्युच्यते, एकीभूत इति गम्यते''।[१४७] अभिप्राय यह है कि पृथक् अर्थ वाले अनेक पद जहाँ सङ्गति के द्वारा अर्थ-विशेष को प्रकट करते है, वह विधि समास पद से कही जाती है। इसी तथ्य को वार्त्तिककार आचार्य कात्यायन ने ''पृथगर्थानाम् एकार्थीभाव समर्थवचनम्''[१४८]

इस वार्त्तिक से स्पष्ट किया है।

व्याकरण-शास्त्र मे अभीष्ट पाँच वृत्तियो मे समास अन्यतम है। परार्थाभिधान को वृत्ति कहते है। वृत्ति की शक्तिमत्ता लोकाश्रित होती है क्योकि अर्थावबोध लोकाधीन होता है। इसी तथ्य को आचार्य नागेशभट्ट निम्न शब्दो में अभिव्यक्त करते है–''वृत्तेर्विशिष्टशक्तिमत्त्व लोकसिद्धमेव, शास्त्रेऽर्थविधानाऽभावात्। इय चैकार्थीभावोपपादिका विशिष्टशक्ति समर्थाश्रित पदविधिरित्याद्यर्थक ''समर्थ पदविधि ''[१४६] इति शास्त्रबलादलौकिके विग्रहेऽप्यारोप्यते।''

समास दो प्रकार का होता है–१. विशेषसञ्ज्ञाविनिर्मुक्त २. विशेषसञ्ज्ञायुक्त। इनमे से प्रथम एक प्रकार का होता है, जिसे सुप्सुपा या केवल समास कहते है। दूसरा चार प्रकार का होता है–(I) अव्ययीभाव (II) तत्पुरुष(III) बहुब्रीहि (IV) द्वन्द्व। कर्मधारय और द्विगु तत्पुरुष के ही भेद है। कुछ आचार्य समास-भेद को निम्न रूप से प्रस्तुत करते है–

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा,

सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः।।[१५१]

अर्थात् सुबन्त का सुबन्त के साथ, सुबन्त का तिङन्त के साथ, सुबन्त का प्रातिपादिक के साथ, सुबन्त का धातु के साथ, तिङ्न्त का तिङन्त के साथ और तिङन्त का सुबन्त के साथ; इस प्रकार समास के छ· भेद होते है।

यह समास-सञ्ज्ञा पूर्वाचार्यप्रयुक्त और अन्वर्थक है। ''समस्यते अनेक पदमिति समास '' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'सम्' पूर्वक 'अस्' धातु से कर्म अर्थ में 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्'[१५२] सूत्र से घञ् प्रत्यय होकर समास पद निष्पन्न हुआ। इस व्युत्पत्ति के आधार पर ही 'सुबन्त समर्थेन सह समस्यते'' इत्यादि वाक्य उपपन्न होते है।[१५३] न्यासकार प्रभृति वैयाकरण समास पद मे भाव अर्थ मे घञ् प्रत्यय का विधान मानते हैं। न्यासकार के ही शब्दो में–''समास इति महती सञ्ज्ञा क्रियते.. अन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेतेति। कथं नामाऽन्वर्थसञ्ज्ञा क्रियते? समसन समास· सङ्क्षेपइत्यर्थ । सङ्क्षेपश्चानेकवस्तुविषय [१५४]।''

लोक में शब्द प्रयोग के विषय में द्विधा प्रवृत्ति देखने को मिलती है। कुछ लोग अर्थ

की स्पष्टता को प्रतिपादित करने के लिए वाक्य का आश्रय ग्रहण करते है और दूसरे, जो लाघव के पक्षधर है, वे सड्क्षेप मे अर्थावबोध कराने के लिए समास वृत्ति का आशय ग्रहण करते है। शास्त्र मे लाघव के वैयाकरणाभिमत होने के कारण समास वृत्ति का ही आश्रय ग्रहण किया जाता है। जैसा कि दुर्गाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है–

विस्तीर्य हि महज्ज्ञानमृषिः सङ्क्षेपतोऽब्रवीत्।

इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्।।[१५५]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्त्ती वाड्मय मे समास सञ्ज्ञा का प्रयोग निरुक्त,[१५६] वृहद्देवता[१५७] ऋक्प्रातिशाख्य,[१५८] वाजसनेयि प्रातिशाख्य[१५९], अथर्ववेद प्रातिशाख्य,[१६०] ऋक्तन्त्र[१६१] और नाट्यशास्त्र[१६२] मे उपलब्ध होता है।

आचार्य पाणिनि के पश्चवर्ती वैयाकरणो मे कातन्त्रकार ने समास पद का प्रयोग किया है।[१६३] आचार्य बोपदेव[१६४] और जैनेन्द्र व्याकरणकार आचार्य देवनन्दी[१६५] ने समास के स्थान पर 'स' सञ्ज्ञा का विधान किया है। 'सिद्धहेमशब्दानुशासन'[१६६] और 'सरस्वतीकण्ठाभरण[१६७]' मे भी समास पद का प्रयोग उपलब्ध होता है।

सारस्वत-व्याकरण मे आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने भी समास पद का प्रयोग किया है।[१६८] इसके अतिरिक्त प्रयोग रत्नमाला मे भी समास सञ्ज्ञा व्यवहृत हुई है।[१६९] हरिनामामृत व्याकरण मे भी समास-सञ्ज्ञा का व्यवहार उपलब्ध होता है।[१७०]

पुराणो मे अग्निपुराण[१७१] और नारदपुराण[१७२] मे भी समास-सञ्ज्ञा का प्रयोग किया गया है।

अव्ययीभाव सञ्ज्ञा

महर्षि पाणिनि ने समास सञ्ज्ञा के अन्तर्गत प्रायः पूर्वपद प्रधान अव्ययीभाव सञ्ज्ञा का विधान ''अव्ययीभाव·''[१७३] सूत्र द्वारा किया है। यह सूत्र अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार क्षेत्र ''तत्पुरुष''[१७४] (२।१।२२) सूत्र के पूर्व तक है। इसका अभिप्राय है कि ''अन्यपदार्थे च

सञ्ज्ञायाम्''[१७५] (२।१।२१) सूत्रपर्यन्त होने वाले समास अव्ययीभाव सञ्ज्ञक होगे।[१७६]

कुछ वैय्याकरण अव्ययीभाव समास मे पूर्व पद के प्राधान्य को स्वीकार करते है। उनके मत मे अव्ययो की वाचकता सिद्ध होती है। क्योकि अव्ययीभाव समास मे पूर्व पद प्राय अव्यय होता है। यदि अव्ययो की द्योतकता मानी जाय तो उनका प्राधान्येन कथमपि सम्भव नही है। यह सञ्ज्ञा अन्वर्थक है। इसकी द्विधा व्युत्पत्ति की जा सकता है। 'अनव्ययस्य अव्ययस्य भावनमित्यव्ययीभाव ' अथवा 'अनव्ययमव्यय भवतीत्यव्ययीभावः'। दोनो पक्षो मे 'भवेतर्ण उपसङ्ख्यानम्' सूत्र से 'भू' धातु से 'ण' प्रत्यय हुआ है। कुछ विद्वान् अन्वर्थक होने के कारण अव्ययीभाव के पूर्व पदार्थ प्रधान होने की बात कहते है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं है क्योकि 'सूपप्रति' अथवा 'शाकप्रति' इत्यादि स्थलो पर उत्तर पदार्थ का प्राधान्य है और 'उन्मत्तगङ्गम्' इत्यादि स्थलो पर अन्य पदार्थ की प्रधानता है। प्रदीपकार आचार्य कैयट के ही शब्दो मे– ''पूर्वपदार्थप्राधान्य त्वव्ययीभावस्य प्रायिकम्, न तदन्वर्थसञ्ज्ञा सूच्यते। सूपप्रतीत्यादौ उत्तरपदार्थस्य प्राधान्यम्, उन्मत्तगङ्गमित्यादावन्यपदार्थप्रधानता''।

पदमञ्जरीकार श्री हरदत्त ने इसीलिए अव्ययीभाव समास मे अव्ययार्थ की प्राधान्यता मानी है, जैसा कि 'पदमञ्जरी' मे उन्होने स्वय कहा है–''सूपप्रति शाकप्रतीत्यादावुत्तरपदार्थप्राधान्यन्न स्यादस्मादव्ययीभावेऽव्ययार्थ प्रधानमिति सूच्यते। एव हि अव्ययानव्ययसमुदायोऽव्ययधर्मलाभादव्यय भवति।''

अव्ययीभाव पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त सञ्ज्ञा है। निरुक्त मे समास शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है।[१७७] इसलिए वहाँ 'अव्ययीभाव' की ओर सङ्केत समझना चाहिए। वृहद्देवता मे छः समासो के अन्तर्गत 'अव्ययीभाव' की भी गणना की गयी है।[१७८] वाजसनेयि प्रातिशाख्य मे चार प्रकार के समास बताये गये हैं।[१७९] भाष्यकार उव्वट ने चार भेदो में एक भेद अव्ययीभाव को भी माना है।[१८०] नाट्यशास्त्र मे समास के षड्विध भेदों का उल्लेख किया गया है। इन छ भेदों में एक भेद अव्ययीभाव का भी आदि पद से ग्रहण हो जाता है।[१८१] अग्निपुराण में भी अव्ययीभाव समास का उल्लेख उपलब्ध होता है। जहाँ नामपूर्व पद और अव्यय पूर्वपद के रूप में अव्ययीभाव के दो भेद किये गये हैं।[१८२] नारदपुराण में भी अव्ययीभाव का उल्लेख प्राप्त होता है।[१८३]

पाणिनि के पश्चवर्ती वाङ्मय मे कातन्त्र-व्याकरण[१८४], अभिनव शाकटायन-व्याकरण[१८५] हेमसिद्धशब्दानुशासन,[१८६] सरस्वतीकण्ठाभरण[१८७], सारस्वत-व्याकरण[१८८] मे अव्ययीभाव समास का विधान प्राप्त होता है। आचार्य देवनन्दी ने अव्ययीभाव सज्ञा के स्थान पर 'ह' सज्ञा का विधान किया है।[१८९] मुग्धबोधकार आचार्य बोपदेव ने अव्ययीभाव के एकदेश 'व' को सज्ञा के रूप मे स्वीकार किया है।[१९०] सुपद्म व्याकरण,[१९१] प्रयोगरत्नमाला[१९२] और हरिनामामृत व्याकरण मे भी अव्ययीभाव सज्ञा स्वीकार की गयी है।[१९३]

अष्टाध्यायी में अव्ययीभाव के प्रयोगप्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	अव्ययीभावश्च	१।१।४१	अव्यय सज्ञा	अधिहरि
२.	अव्ययीभावश्च	२।४।१८	नपुंसकत्व	अधिगोपम् उपकृष्णम्
३.	अव्ययविभक्ति समीपसमृद्धि व्यृद्ध्यर्था भावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्य यौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु	२।१।६	अव्ययी भाव समास	अधिहरि इत्यादि
४.	अव्ययीभावाच्च	४।३।५९	ञ्यप्रत्यय	पारिमुख्यम्
५	अव्ययीभावेशरत्प्रभृतिभ्य	५।४।१०७	टच् प्रत्यय	उपशरदम्
६	अव्ययीभावे चाकाले	६।३।८१	'सह' को 'स' आदेश	सचक्रम् सहरि आदि

तत्पुरुष संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष समास संज्ञा का विधान 'तत्पुरुष'[१९४] सूत्र द्वारा किया है। यह सूत्र अधिकार सूत्र होने के साथ ही संज्ञा सूत्र भी है। इसका अधिकार

'शेषोबहुव्रीहिः'[१६५] सूत्र से पूर्व तक है। इस प्रकार सूत्र का अभिप्राय होगा कि 'तत्पुरुष.' (२।१।२२) से लेकर 'शेषो बहुव्रीहिः' (२।२।२३) सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी मे वर्णित समास विधान तत्पुरुष सञ्ज्ञक होगा।[१६६] तत्पुरुष समास छह प्रकार का होता है। (१) **सामान्य तत्पुरुष**– जिसमे मध्यगत विभक्तियो का लुक् होता है। इसे व्यधिकरण तत्पुरुष भी कह सकते है। (२) **नञ् तत्पुरुष**–निषेधार्थक 'न' शब्द का किसी दूसरे शब्द के साथ समास। (३) **कर्मधारय तत्पुरुष**– विशेषण-विशेष्यवाची पदो का परस्पर समास। इसे समानाधिकरण तत्पुरुष भी कहा जाता है। इसी का एक भेद द्विगु भी है। (४) **प्रादि तत्पुरुष**–प्रादिगण पठित शब्दो के साथ विहित समास प्रादि तत्पुरुष कहा गया है। (५) **गतितत्पुरुष**–गति सञ्ज्ञक शब्दो के साथ समर्थ सुबन्त के समास को गति तत्पुरुष कहते है। (६) **उपपद समास**–उपपद सुबन्त का समर्थसुबन्त के साथ समास।

ये उपपद सञ्ज्ञक शब्द प्राय. विशेषण या क्रिया विशेषण के रूप मे व्यवहृत होते है। उपपद समासो मे उत्तरपद तिङ्न्त नहीं होना चाहिए। और ऐसे शब्द भी न होने चाहिए जो पूर्वपद की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्र रूप से निष्पन्न हो सके।

तत्पुरुष समास को प्राय. उत्तरपदार्थ प्रधान माना जाता है। किन्तु यदि केवल उत्तर पदार्थ प्रधानता को तत्पुरुष का लक्षण मान लेगे तो 'राजदन्त ' और 'अकिञ्चन' इत्यादि स्थलो पर, जहा क्रम से पूर्वपदार्थ और अन्य पदार्थ की प्रधानता है, वहां अव्याप्ति होगी तथा 'सूपप्रति' इत्यादि अव्ययीभाव समास के क्षेत्र में भी अतिव्याप्ति हो जाएगी। इसलिए लगता है कि 'भूयस्त्वेन व्यपदेशो भवति' इस भाष्य वचन के अनुसार तत्पुरुष के विषय मे भी उत्तरपदार्थप्रधानता का कथन 'भूयस्त्वेन' ही है। नागेशभट्ट के शब्दो मे–

''एतेनोत्तरपदार्थप्रधानत्व तत्पुरुषलक्षणमित्यपास्तम्। दृगब्जेनेत्यादावव्याप्ते सूपप्रतीत्याद्यव्ययीभावेऽतिव्याप्तेश्च। उत्सर्गस्त्वाद्रियते एव।[१६७]

पूर्वाचार्यो ने तत्पुरुष समास के अनेक भेदो मे षष्ठीपक्ष को लेकर 'तस्य पुरुष इति तत्पुरुष.' व्युत्पत्ति के आधार पर तत्पुरुष संज्ञा का विधान किया है जिससे यह सञ्ज्ञा अन्वर्थक प्रतीत होती है।

अष्टाध्यायी के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे बृहद्देवता[१९८], निरुक्त[१९९] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के उव्वटभाष्य[२००], नाट्यशास्त्र[२०१], अग्निपुराण[२०२] और नारदपुराण मे[२०३] तत्पुरुष सज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है।

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[२०४], शाकटायन (अभिनव)[२०५] सरस्वतीकण्ठाभरण[२०६], सिद्धहेमशब्दानुशासन[२०७], शब्दानुशासन[२०८], और सारस्वत व्याकरण[२०९] मे तत्पुरुष समास का विधान किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण[२१०] और मुग्धबोध व्याकरण[२११] मे तत्पुरुष के एकदेश 'ष' का विधान तत्पुरुष के स्थान पर उपलब्ध होता है। आचार्य पद्मनाभदत्त[२१२] और पुरुषोत्तम[२१३] ने भी अनेक सूत्रो द्वारा तत्पुरुष समास की चर्चा की है। हरिनामामृत[२१४] व्याकरण में तत्पुरुष को 'कृष्णपुरुष' कहा गया है।

अष्टाध्यायी में तत्पुरुष सज्ञा के प्रयोग-स्थल निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	द्वितीया श्रितातीतपतितगता व्यस्त प्राप्तापन्नै	२।१।२४	तत्पुरुषसमास	कृष्णाश्रित· दु खातीत ।
२	सप्तमीशौण्डै·।	२।१।०	तत्पुरुषसमास	अक्षशौण्डः
३	तत्पुरुष समानाधिकरण· कर्मधारय·	१।२।२	कर्मधारय सज्ञा	कृष्णचतुर्दशी
४	नञस्तत्पुरुषात्	५।।७१	समासान्त निषेध	अराजा
५.	तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सख्याव्ययादे ।	५।।८६	अच् प्रत्यय	द्वयङ्गुल दारु, निरङ्गुलम्।
८	तत्पुरुषे शालाया नपुसके	६।२।१२३	आद्युदात्त·	ब्राह्मणशालम्।
७	तत्पुरुषे कृति बहुलम्	६।३।१	सप्तम्याअलुक्	स्तम्बेरम कर्णेजप ।।

द्विगु संज्ञा

सूत्रकार महर्षि पाणिनि तत्पुरुष समास के अवान्तरभेद द्विगु समास की परिभाषा करते हुए कहते है–''सख्यापूर्वो द्विगु.''[२१५] अर्थात् ''तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च''[२१६] सूत्र विहित तीन प्रकार का सख्यापूर्वक समास द्विगुसज्ञक होता है। जैसे तद्धितार्थ मे 'पञ्चकपाल.', उत्तरपद मे 'पञ्चनावप्रिय ' और समाहार अर्थ मे 'पञ्चगवम्'। यद्यपि तत्पुरुष के अनेक भेद है। किन्तु पूर्वाचार्यो ने तद्धितार्थादि मे विहित सख्यापूर्वक समास की द्विगु संज्ञा का विधान किया था। जिसका स्पष्ट प्रमाण षड्विध समासान्तार्गत द्विगु के परिगणन से नाट्यशास्त्र द्वारा होता है। आचार्य पाणिनि ने भी पूर्वाचार्यो के अभिमत को उसी रूप मे स्वीकार कर लिया। द्विगु समास प्राय दो पदो के मध्य ही होता है, इसलिये ''द्वौ गावौ शब्दौ (पदभूतौ) यस्मिन् स द्विगु.' व्युत्पत्ति के आधार पर द्विगु सज्ञा की अन्वर्थता स्वीकार की जा सकती है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे स्पष्ट रूप से द्विगु समास का उल्लेख बृहद्देवता[२१७] मे उपलब्ध होता है। निरुक्त[२१८] मे बहुवचनान्त समास शब्द और नाट्यशास्त्र[२१९] के षड्विधसमासो के उल्लेख के आधार पर द्विगु संज्ञा का अस्तित्व भी सूचित होता है। अग्नि पुराण[२२०] और नारद पुराण[२२१] मे भी द्विगु का विवेचन प्राप्त होता है।

अर्वाचीन व्याकरण मे कातन्त्र[२२२] शाकटायन व्याकरण[२२३] सरस्वतीकण्ठाभरण[२२४], सिद्धहेमशब्दानुशासन[२२५] शब्दानुशासन[२२६] और सारस्वत व्याकरण[२२७] मे द्विगु सज्ञा का उल्लेख उपलब्ध होता है। जैनेन्द्र व्याकरण[२२८] में द्विगु के स्थान पर 'र' और मुग्धबोध व्याकरण[२२९] मे 'ग' सज्ञा का विधान किया गया है। सुपद्म व्याकरण[२३०] और प्रयोगरत्नमाला[२३१] मे अष्टाध्यायी के समान ही द्विगु समास और उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है। आचार्य जीवगोस्वामी ने द्विगु के स्थान पर 'त्रिरामी' सज्ञा का विधान किया गया है।[२३२]

अष्टाध्यायी मे द्विगु सज्ञा के प्रयोग-क्षेत्र निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	द्विगुरेकवचनम्	२।।१	एकवद्भाव	पञ्चगवम्
२	द्विगो.	।१।२१	ङीप्	त्रिलोकी
३.	द्विगो ष्ठश्च	५।१।५	ष्ठन् ख प्रत्यय	द्विपायिकी द्विपायीणा
४	द्विगोर्यप्	५।१।८२	यप् प्रत्यय	द्विमास्य ।
५	द्विगो प्रमाणे	६।२।१२	पूर्वपद का प्रकृति-स्वर	प्राच्यसप्तसम ।

बहुव्रीहिसंज्ञा

सूत्रकार पाणिनि ने अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि को परिभाषित करते हुए लिखा है–''शेषो बहुव्रीहि ''[२३३] अर्थात् शेष समास बहुव्रीहि सज्ञक होता है। शेष क्या है? जहाँ अन्य समास नही कहे गये[२३४]। वस्तुत तत्पुरुष समास के अन्तर्गत प्रथमा विभक्ति का समास नहीं कहा गया, इसलिए 'शेष' पद द्वारा प्रथमा का ही ग्रहण किया जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के ही शब्दों मे–''त्रिकतस्तर्हि शेष ग्रहणम्। यस्य त्रिकस्यानुक्त· समास· स शेष·। कस्य चानुक्त ? प्रथमाया ।''[२३५] इसी तथ्य को प्रदीपकार आचार्य कैय्यट ने और अधिक स्पष्ट किया है। तदनुसार ''द्वितीयादीना प्रतिपद समासविधानात् प्रथमायाः शेषत्वम्। ततश्च प्रथमान्ताना पदाना बहुव्रीहिरित्यर्थात् समानाधिकरणाना भवति। कण्ठेकाल इत्यादौ सप्तमीविशेषणे इति पूर्वनिपात विधानाज्ज्ञापकाद् भवति''।[२३६]

बहुव्रीहि सज्ञा अन्वर्थक है। बहवो व्रीहयो यस्येति, बहुव्रीहि·। लोक में भी देखा जाता है कि जिसके पास बहुत व्रीहि (धान्य) होता है, उसे बहुव्रीहि कहते है। अन्य पदार्थ की प्रधानता बहुव्रीहि समास मे स्वीकृत है। आचार्यो ने बहुव्रीहि समास के दो भेद किये है–(१) तद्गुण सविज्ञान बहुव्रीहि, (२) अतद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि। जहाँ समासगत पदों के अर्थ का भी आश्रय अन्य पदार्थ मे लिया जाय वहाँ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होता है, जैसे–''चित्रवाससम् आनय''। जहां पर केवल स्वस्वामिभाव सम्बन्ध की प्रतीति होती है, अन्य पदार्थ के गुणों की कार्य मे अन्वयिता (योग्यता) के होने से संविज्ञान न हो वहाँ अतद्गुण सविज्ञान बहुव्रीहि होता है। जैसे–चित्रगुम् आनय।

आचार्य नागेशभट्ट के ही शब्दो मे–

''बहुव्रीहिर्द्विधा–तद्गुणसविज्ञानोऽतद्गुणसविज्ञानश्च। लम्बकर्णमानयेत्यादावाद्य। तस्यान्यपदार्थस्य गुणाना विशेषणाना कार्यान्वयितया सविज्ञान यत्रेत्यर्थात्। चित्रगुमानयेत्यादावन्त्य ''[२३७]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे बहुव्रीहि सज्ञा के अस्तित्व का सङ्केत यद्यपि निरुक्त[१३८] और नाट्यशास्त्र[२३९] मे भी उपलब्ध होता है किन्तु स्पष्टत· उल्लेख बृहद्देवता[२४०] मे ही मिलता है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य[२४१] मे चार प्रकार के समासो की चर्चा है, जिस पर उसके भाष्यकार उव्वट का मानना है कि चतुर्विध समासो मे एक समास बहुव्रीहि भी है।[२४२] अग्निपुराण मे बहुव्रीहि के सप्तविध भेदो की चर्चा है।[२४३] नारदपुराण मे भी अन्य पदार्थ की प्रधानता वाले को बहुव्रीहि कहा गया है।[२४४]

आचार्य शालङ्कि से अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[२४५] शाकटायन व्याकरण[२४६], सरस्वतीकण्ठाभरण[२४७], सिद्धहेमशब्दानुशासन[२४८], शब्दानुशासन[२४९] और सारस्वतव्याकरण[२५०] मे बहुव्रीहि सज्ञा का स्पष्टतया विधान किया गया है। आचार्य देवनन्दी ने बहुव्रीहि के स्थान पर 'ब'[२५१] और आचार्य बोपदेव[२५२] ने 'ह' संज्ञा का विधान किया है। सुपद्म व्याकरण[२५३] और प्रयोगरत्नमाला[२५४] मे भी बहुव्रीहि सज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। हरिनामामृत व्याकरण मे बहुव्रीहि को पीताम्बर कहा गया।[२५५]

बहुव्रीहि सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अष्टाध्यायी मे अधोलिखित हैं–

क्र०स०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	अनेकमन्यपदार्थे	२।२।२४	बहुव्रीहिसमास	पीताम्बरः वीरपुरुषको ग्राम
२	तेन सहेति तुल्य योगे	२।२।२८	बहुव्रीहि समास	सुपुत्र , सहपुत्र·
३	बहुव्रीहेरूधसो ङीष्	४।१।२५	ङीष् प्रत्यय	कुण्डोघ्नी
४.	बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात्	५।४।७३	डच् प्रत्यय	उपदशा·
५.	बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णो· स्वाङ्गात् षच्	५।४।११३	षच् प्रत्यय	दीर्घसक्थ जलजाक्षी।

द्वन्द्व सञ्ज्ञा

महर्षि पाणिनि उभय पदार्थ प्रधान द्वन्द्व सञ्ज्ञा का विधान ''चार्थेद्वन्द्व ''[२५६] सूत्र द्वारा करते है। इसका अभिप्राय है कि 'च' के अर्थ मे विद्यमान अनेक सुबन्तो का विकल्प से समास होता है और इसकी द्वन्द्व सञ्ज्ञा होती है।[२५७] 'च' के चार अर्थ बताये गये है-(१) समुच्चय-परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थों के एक क्रिया मे पृथक् अन्वय करने को 'समुच्चय'' कहते है। जैसे-'ईश्वर गुरु च भजस्व।' यहाँ ईश्वर और गुरु दोनो परस्पर निरपेक्ष है और दोनो का स्वतन्त्र रूप से भजन क्रिया मे अन्वय होने के कारण 'च' से 'समुच्चय' ज्ञात होता है किन्तु समुच्चयार्थ में समास नही होता, क्योकि समुच्चय मे समास की योग्यता नही है। (२) अन्वाचय-जब समुच्चीयमान पदार्थो मे एक का अप्रधान रूप से अन्वय हो। जैसे ''भिक्षाम्अट गा च आनय।'' यहाँ पर मुख्य उद्देश्य तो 'भिक्षा' है, 'गाय का लाना' गौण कार्य है। 'भिक्षाटन' तथा 'गवानयन'-इन समुच्चीयमान पदार्थो मे 'गवानयन' रूप अप्रधान पदार्थ का अन्वय होने से 'च' का अर्थ अन्वाचय है। यहा पर दोनो पदो मे समकक्षता न होने के कारण असामर्थ्य होने से समास नही होगा। (३) इतरेतर-जहाँ पदार्थ मिलकर आगे अन्वित होते है अर्थात् जहाँ समस्त पद पृथक्-पृथक् अर्थ विदित कराते हुए अन्वित हों, तब उसे इतरेतर योग कहा जाता है। जैसे- ''धवखदिरौ छिन्धि'' वाक्य मे 'धव' और 'खदिर' पदार्थ परस्पर मिलकर आगे छेदन क्रिया मे अन्वित होते है, अत इनमे सह विवक्षा है। इस प्रकार 'च' का अर्थ इतरेतरयोग है। यहाँ सामर्थ्य (सह विवक्षापदार्थ) होने के कारण समास होगा। इतरेतरयोग और समुच्चय का अन्तर यह है कि समुच्चय के विग्रह वाक्य मे एक ही 'च' का प्रयोग होता है और इतरेतर मे एकाधिक्य 'च' का प्रयोग होता है। इतरेतरयोग द्वन्द्व मे अवयवगत सख्या द्वित्व और बहुत्व आदि उद्भूत होती है। इसलिए समासोत्तर पद मे तदर्थक सख्या वाचक विभक्तियो-दोनो द्विवचन एव बहुवचन-का प्रयोग होता है। प्रकृत उदाहरण में धवगत एकत्व और खदिरगत एकत्व मिलकर द्वित्त्व सख्या के उत्पादक होते है। (४) समाहार-जहां अनेक वस्तुओं के समूह या सङ्ग्रह का भाव प्रदर्शित किया जाता है, वहा 'च' का अर्थ समूह होता है। जैसे-'संज्ञापरिभाषम्'। यहा 'च' का प्रयोग समाहार अर्थ में हुआ है। समाहार द्वन्द्व मे समस्यमान पदार्थ गत सख्या तिरोहित होती है। समुदाय

के एकरूपात्मक होने के कारण एकवचन का प्रयोग होता है। ''द्वौ-द्वौ सहाभिव्यक्तौ इति द्वन्द्व।'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर द्वन्द्व सज्ञा अन्वर्थक और पूर्वाचार्याभिमत है। वृहद्देवता मे आचार्य शौनक ने स्पष्ट रूप से द्वन्द्व समास का उल्लेख किया है।[२५८] नाट्यशास्त्र मे भी षड्विध समासो का उल्लेख हुआ है। जिसमे द्वन्द्व की सत्ता निर्विवाद है।[२५९] भगवान वेदव्यासकृत गीता मे भी द्वन्द्व समास का उल्लेख किया गया है।[२६०] अग्निपुराण[२६१] और नारदपुराण[२६२] मे भी द्वन्द्व सज्ञा का उल्लेख उपलब्ध होता है।

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो में कातन्त्र व्याकरण,[२६३] जैनेन्द्र व्याकरण[२६४] शाकटायन व्याकरण[२६५] सरस्वतीकण्ठाभरण[२६६] सिद्ध हेमशब्दानुशासन[२६७] शब्दानुशासन[२६८] सारस्वतव्याकरण[२६९] मे भी 'द्वन्द्व सज्ञा' का प्रयोग प्राप्त होता है। मुग्धबोध व्याकरण[२७०] मे द्वन्द्व के स्थान पर 'व' सज्ञा का विधान किया गया है। आचार्य पद्मनाभदत्त[२७१] और पुरुषोत्तम विद्यावागीश[२७२] ने अष्टाध्यायी के समान ही द्वन्द्व सज्ञा का विधान किया है। हरिनामामृत व्याकरण मे द्वन्द्व के स्थान पर 'राम-कृष्ण' सज्ञा का प्रयोग किया गया है।[२७३]

अष्टाध्यायी मे द्वन्द्व सज्ञा प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है-

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	द्वन्द्वे घि	२।२।३२	पूर्वनिपात	हरिहरौ
२	द्वन्द्वाच्छ·	।२।६	छप्रत्यय	तिष्यपुनर्वसवीय मह । राधानुराधीया रात्रि ।
३.	द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च	५।१।३३	वुञ्प्रत्यय	शैष्योपाध्यायिका
४.	द्वन्द्वाद्वुन् वैरमैथुनिकयो·	४।३।१२५	वुन् प्रत्यय	काकोलूकिका, कुत्स कुशिकिका
५.	द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात् प्राणिस्थादिनि·	५।२।१२८	इनि प्रत्यय	कटकवलयिनी
६	द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे	५।४।१०६	टच् प्रत्यय	वाक्त्वचम्।
७	द्वन्द्व रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमण यज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु	८।१।१५	द्वन्द्व शब्द का निपातन	द्वन्द्वं मन्त्रयते।

उद्धरणानुक्रमणिका

१. अष्टाध्यायी– १।२।४२

२. सिद्धान्त कौमुदी– १।२।४२

३. बालमनोरमा – १।२।४२

४ महाभाष्य प्रदीप– १।२।४२

५. अष्टाध्यायी– २।२।३

६. अष्टाध्यायी– २।२।३

७. अष्टाध्यायी– २।१।५७

८ अष्टाध्यायी– २।१।५५

९ महाभाष्य प्रदीप उद्योत– १।२।४२

१०. कर्मधारय एवच। वृहद्देवता– २।१०५

११. नाट्यशास्त्र– १४।३२

१२. कर्मधारय सप्तधा। अ०पु०– ३५५।८

१३. ना०पु०– ५२।६३

१४ पदे तुल्याधिकरणे विज्ञेयः कर्मधारयः। का०व्या०– २।५।५

१५ विशेषण व्यभिचार्यैकार्थं कर्मधारयश्च। शा०व्या०– २।१।५८

१६. तत्पुरुष· समानाधिकरण· कर्मधारयः। स०क०भ०– १।१।२६

१७. विशेषणं विशेष्येणैकार्थं कर्मधारयश्च। सि०हे०श०– ३।१।९६

१८ विशेषण व्यभिचारिविशेष्येण एकार्थ कर्मधारयश्च। शब्दा०– २।८।३२

१६ सारस्वतव्या०, पूर्वार्द्ध– १८।१

२० जैनेन्द्र व्याकरण– १।३।४४

२१. भिन्नान्यैकार्थद्वयापिसख्याव्ययादीनाम् च ह य ष ग वा । मु०बो०व्या०– सू०स०– ३१८

२२. विशेषणमेकार्थेन कर्मधारयो बहुलम्। सु०व्या०– ४।३।५८

२३ स्वार्थे तुल्याधिकरणसमास कर्मधारय । प्र०र०मा०– ६।३०

२४. ह०ना०व्या०–सू०सं०– १६६४

२५. अष्टा०– १।२।४३

२६ सि०कौ०– १।२।४३

२७. अष्टा०– २।२।८

२८. अष्टा०– २।२।३०

२६. अष्टा०– १।२।४४

३०. सि०कौ०– १।२।४४

३१. अष्टा०– १।२।४८

३२. महाभाष्य– १।२।४४

३३. महाभाष्य– १।२।४३

३४. महाभाष्य प्रदीप– १।२।४३

३५. अष्टा०– १।२।५७

३६. अष्टाध्यायी– १।४।१४

३७ सि०कौ०– १।४।१४

३८. अष्टाध्यायी– ४।१।२

३९. अष्टाध्यायी– ३।४।७८

४०. अष्टाध्यायी– १।४।१५

४१ सि०कौ०– १।४।१५

४२ अष्टाध्यायी– १।४।१६

४३. सि०कौ०– १।४।१६

४४. अष्टाध्यायी– ६।४।१४६

४५. अष्टाध्यायी– १।४।१७

४६. सि०कौ०– १।४।१७

४७ अष्टा०– १।४।२०

४८. सि०कौ०– १।४।२०

४९. नि०भा०– १।१।८

५०. अर्थ. पदम्। वा०प्रा०– ३।२

५१. वा०प्रा०उ०भा०– ८।४६

५२. वा०प्रा० अनन्तभट्ट भाष्य– ८।४६

५३. महाभाष्यप्रदीप– ८।२।१०७

५४. गो०ब्रा०– १।१।२४

५५. नामाख्यातचोपसर्गनिपाताश्चेति वैय्याकरणा·। नि०– १३।९

५६. वृहद्देवता– २।१०३–१०४

५७. नामाख्यातमुपसर्गो निपातश्चत्वार्याहुः पदजातानि शाब्दा·। ऋ०पा०– १२।१७

५८. तै०प्रा०वै०भ०भा०– १।५२

५६. तै०प्रा०त्रि०र०– १।५४

६०. अ०प्रा०– १।१।२–३

६१. ऋक्तन्त्र– ३।१।२–३

६२. वा०प्रा०– ८।४६

६३ वा०प्रा०– ८।४७

६४ वा०प्रा०– ८।४८

६५ वा०प्रा०– ८।४६

६६ ना०पु०– ५२।२

६७. प्रत्ययोत्तरपदयो·। का०कृ०व्या० सू०–३

६८ ना०शा०– १५।२७ इत्यादि मे

६६. शौ०च०आ०– १।१

७० पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्। का०व्या०– १।१।२०

७१ जै०व्या०– १।२।१०३–१०६

७२ शाकटायन व्या०– १।१।६२–६४

७३. विभक्त्यन्त पदम्। स०कं०भ०–१।१।२५

७४ सि०हे०शब्दा०– १।१।२०–२२

७५. शब्दा०– १।२।८–१०

७६. विभक्त्यन्त पदम्। सारस्वतव्या० पू०– ७।१

७७ मु०बो० सू०– १४

७८. सुप्तिङन्त पदम्। सु०व्या०– २।३।१,२,३

७६ प्र०र०मा०– १।३३

८०. विष्णुभक्तिसिद्ध विष्णुपदम्। ह०ना०व्या० सू०– १५४

८१ अ०पु०– ३५५।८ इत्यादि मे।

८२ अष्टाध्यायी– ८।१।२

८३ का०व०– ८।१।२

८४. अष्टाध्यायी– ८।२।६५

८५ न्यास– ८।१।२

८६ द्विरुक्तम् आम्रेडितम् पदम्। वा०प्रा०– १।१४६

८७ काम्याम्रेडितयो॰। शौ०च०आ०– ४।४०

८८ आम्रेडितसमासस्य। अनाम्रेडितान्याम्रेडितसदृशानि। अ०प्रा०– ३।१।५-६

८९ आम्रेडितम् द्विस्त्रिरुक्तम्। अ०पु०– ३६०।६३

९०. सारस्वतव्याकरण, पूर्वार्द्ध– १७।४ स्वोपज्ञवृत्ति।

९१ आम्रेडितस्य ससारो भर्त्सने पर्यायेण। ह०ना०व्या० सू०स०– ८५

९२ अष्टा०– १।४।६०

९३. अष्टा०– १।४।१

९४. अष्टा०– ६।२।४६

९५ सि०कौ०– १।४।६०

९६ अष्टा०– १।४।५६

९७ का०वृ०– १।४।६०

९८ अष्टा०– ८।४।१४

९९. अष्टा०– १।४।६१

१००. सि०कौ०– १।४।६१

१०१. अष्टा०— १।४।६२

१०२ सि०कौ०— १।४।६२

१०३. अष्टा०— १।४।६३

१०४. सि०कौ०— १।४।६३

१०५. अष्टा०— १।४।६४

१०६ सि०कौ०— १।४।६४

१०७ बलिमनोरमा— १।४।६४

१०८ अष्टा०— १।४।६५

१०९ सि०कौ०— १।४।६५

११० अष्टा०— १।४।६६

१११ सि०कौ०— १।४।६६

११२ अष्टा०— १।४।६७

११३ सि०कौ०— १।४।६७

११४ अष्टा०— १।४।६८

११५ सि०कौ०— १।४।६८

११६. अष्टा०— १।४।६९

११७ सि०कौ०— १।४।६९

११८ अष्टा०— १।४।७०

११९ सि०कौ०— १।४।७०

१२० अष्टा०— १।४।७१

१२१. सि०कौ०— १।४।७१

१२२ अष्टा०– १।४।७२

१२३ सि०कौ०– १।४।७२

१२४ अष्टा०– १।४।७३

१२५. सि०कौ०– १।४।७३

१२६ अष्टा०– १।४।७४

१२७ सि०कौ०– १।४।७४

१२८ अष्टा०– १।४।७५

१२९ सि०कौ०– १।४।७५

१३०. अष्टा०– १।४।७६

१३१ सि०कौ०– १।४।७६

१३२. अष्टा०– १।४।७७

१३३. सि०कौ०– १।४।७७

१३४ अष्टा०– १।४।७८

१३५. सि०कौ०– १।४।७८

१३६ अष्टा०– १।४।७९

१३७ सि०कौ०– १।४।७९

१३८. गतिश्चमात्राअर्द्धमात्रावा त्रिकला वा। ऋ०त०– २।३।३९

गतिश्चान्तस्थामापद्यते। ऋ०त० ३।५।१०

१३९. गतिपूर्वो यदा धातुः क्वचित्स्यात् तद्धितोदयः।

समस्यते गतिस्तत्र आगमिष्ठा इति निदर्शनम्। अ०प्रा० १।१।११

१४० परम्व्यवहिताश्चापि गतिसज्ञास्तथा हि आ। ना०पु० ५३।६

१४१ ऊर्याद्यनुकरणम् च्विडाचश्चगति ..।सि०हे०श० ३।१।२

अस्तम्पुरोऽव्ययम्, कृञो वा ।शा०व्या० १।१।२६, ३२ इत्यादि

१४२ ति , च्विडाजूर्यादि . । जै०व्या० १।२।१३१-१४८

१४३. अष्टा० २।१।३

१४४ काशिकावृत्ति, २।१।३

१४५ यत्र पदान्युपसर्जनीभूतस्वार्थानि, निवृत्तस्वार्थानि वा, प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि, अर्थान्तराभिधायीनि वा-स एकार्थीभाव ।-म०भा०प्रदीप २।१।१

१४६ वै०भू०सा०, कारिका ३३

१४७ महा० २।१।१

१४८ महा० २।१।१ पर वार्त्तिक

१४९. अष्टा०, २।१।१

१५०. वै०सि०लघु मञ्जूषा– वृत्ति विचार।

१५१ वै०भू०सा०– समास प्रकरण, का० १

१५२ अष्टा०– ३।३।१९

१५३ सि०कौ०– तत्त्वबोधिनी, २।१।४

१५४ न्यास– २।१।४

१५५. निरुक्त दुर्गाचार्यवृत्ति,– ४।१।१

१५६. अथ तद्धित समासेष्वेक चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।– नि०२।१।

१५७. विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते। वृहद्देवता– २।१०६ एवं २।१०५

१५८ सहेतिकाराणि समासमन्तभाक्। ऋक्प्राति०– ११।२५ एव ११।३१

१५६ तिड्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासा शब्दमयम्। वाज०प्राति० १।२७

१६० अथर्व०प्राति०– १।१।११

१६१ समासे इति। ऋक्तन्त्र– ३।१।५, ३।४।६, ३।५।३, ३।७।५, ४।७।३ एव ४।७।१०

१६२ नामाख्यातनिपातैरूपसर्गसमासतद्धितैर्युक्त ,

सन्धिविभक्तिषु विज्ञेयो वाचकाभिनय ।–नाट्यशास्त्र १४।४ और १४।३२

१६३. नाम्ना समासो युक्तार्थ·। –कातन्त्र-व्याकरण

१६४ दैक्य सोऽन्वये। मुग्धबोध व्याकरण, सू०स०– ३१७

१६५ स· इति। जैनेन्द्र व्याकरण– १।३।२

१६६. नाम + नाम्नैकार्थे समासो बहुलम्। सिद्धहेमशब्दानुशासन– ३।१।१८

१६७ सुप्सुपा सहैकार्थीभावे समासः। स०क०– ३।२।१

१६८ समासश्चान्वये नाम्नाम्। सा०व्या०पू०– १८।१

१६९. समासश्चानेकपदस्यैकलिङ्गत्वमुच्यते। प्र०र०मा०– ६।४

१७०. हरिनामामृतव्याकरण, सूत्र– १६।६५–६६

१७१ षोढा समास वक्ष्यामि अष्टाविशतिधा पुन·। अग्निपुराण– ३५४।१, ३, ८, ११, १५, १६ और १७

१७२ नारद पुराण– ५२।६१–६६।

१७३ अष्टा०– २।१।५

१७४. अष्टा०– २।१।२२

१७५ अष्टा०– २।१।२१

१७६ काशिका– २।१।५

१७७ अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु निर्ब्रूयात्। निरुक्त २।१।४

१७८ द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभाव कर्मधारय एव च।

पञ्चमस्तु बहुव्रीहि षष्ठस्तत्पुरुष स्मृत ।। बृहद्देवता २।१०५

१७६ तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासा· शब्दमयम्। वा०प्रा०– १।२७

१८० चतुष्प्रकारा· समासाः अव्ययीभावतत्पुरुषद्वन्द्वबहुव्रीह्य । वा०प्रा०उ०भा० १।२७

१८१. तत्पुरुषादिसञ्ज्ञैकनिर्दिष्ट· षड्विध सोऽपि। ना०शा०–१५।३२

१८२ द्विधाख्यातोऽव्ययीभावो नामपूर्वपदो यथा।

शाकस्य मात्रा शाकप्रति यथाव्ययपूर्वक ।।

उपकुम्भ चोपरथ्यम्. ...। अ०पु०– ३५५।१७-१८

१८३. अधिस्त्रीत्यव्ययीभावे यथाशक्ति च कीर्तितम्। ना०पु०– २।१६।६१

१८४. पूर्व वाच्य भवेद् यस्य सोऽव्ययीभाव इष्यते। का०व्या०– २।५।१४

१८५ मिथोग्रहणे प्रहरणे च सरूप युद्धेऽव्ययीभावः। शा०व्या०– २।१।६

१८६. तत्रादाय मिथस्तेन प्रहृत्येति सरूपेण युद्धेऽव्ययीभाव·। सि०हे०शब्दा– ३।१।२६

१८७. अव्ययीभाव·। सरस्वतीक०भ०– ३।२।८

१८८. तत्र पूर्वपदप्रधानोऽव्ययीभावः। सारस्वत व्या०पू०– १८।१ पर स्वोपज्ञवृत्ति।

१८६ ह । जैनेन्द्र व्या०– १।३।४

१६० मु०बो०व्या० सूत्र– ३१८

१६१. अव्ययीभावः। सु०व्या०– ४।३।३

१६२. सोऽव्ययीभावः यत्र नानाविभक्तष्वेकरूपता। प्र०र०मा०– ६।१७६

१६३ अव्ययीभावः। ह०ना०व्या०। सूत्र– १८४३

१९४ अष्टाध्यायी– २।१।२२

१९५ अष्टाध्यायी– २।२।२३

१९६. काशिका वृत्ति– २।१।२२

१९७. वैय्याकरणसिद्धान्त लघुमञ्जूषा तत्पुरुष प्रकरण

१९८. वृहद्देवता– २।१०५

१९९ निरुक्त– २।१

२०० वा०प्रा०, उ०भाष्य– १।२७

२०१. नाट्यशास्त्र– १४।३२

२०२ अग्निपुराण– ३५४।३

२०३ नारद पुराण– ५२।६१–६२

२०४ विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु।

समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुष· स च।। कातन्त्र व्याकरण– २।५।२७७

२०५ शाकटायनव्या– २।१।२०

२०६. उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः। सरस्वतीक० भ०– ३।३।५०

२०७ सि०हे०शब्दा– ३।१।४२

२०८ शब्दा०– २।८।२

२०९ द्विगुतत्पुरुषौ परपदप्रधानौ। सारस्वतव्या०पूर्वार्द्ध १८।१ पर स्वोपज्ञवृत्ति

२१० षम्। जै०व्या०–१।३।१९

२११ मु०बो०व्या०, सूत्र– ३१८

२१२. तत्पुरुष·। सुपदम्व्या०– ४।३।१९

२१३. मयूरव्यंसकादित्वात् केचित् तत्पुरुषा ।। प्र०र०मा०– ६।५६ इत्यादि

२१४ पीताम्बरात् प्राक् समासा कृष्णपुरुषसंज्ञा.।। ह०ना०व्या०, सूत्र– १७००

२१५. अष्टाध्यायी– २।१।५२

२१६. अष्टाध्यायी– २।१।५१

२१७ बृहद्देवता– २।१०५

२१८ निरुक्त– २।१।४

२१९ नाट्यशास्त्र– १५।३२

२२०. अग्निपुराण– ३५५।१५

२२१. नारदपुराण– २।१६।६२

२२२. सख्यापूर्वो द्विगुरितिज्ञेय । का०व्या०– २।५।२६४

२२३. शाकटायनव्याकरण– २।१।६१

२२४. तद्धितार्थादौ सख्यापूर्वो द्विगु.। सरस्वतीकण्ठाभ.०– १।१।३०

२२५. सि०हे०शब्दा– ३।१।६६

२२६ शब्दानुशासन– २।८।४८

२२७ सख्यापूर्वो द्विगु.। सारस्वत व्याकरण पूर्वार्द्धि– १८।७

२२८. सख्यादी रश्च। जै०व्या०– १।३।४७

२२९. मु०बो०व्या०, सूत्र– ३१८

२३०. द्विगु सख्यातर्द्धितार्थसमाहारयो.। सु०व्या० ४।३।७४ उत्तर पदे च। ४।३।७६

२३१. सख्यापूर्व. स द्विगुः स्यात्। प्र०र०मा०– ६।४६

२३२. सख्यापूर्वो सो त्रिरामीसंज्ञः। ह०ना०व्या०, सू०– १७४०

२३३ अष्टाध्यायी– २।२।२३

२३४. काशिकावृत्ति– २।२।२३

२३५ महाभाष्य– २।२।२३

२३६ महाभाष्यप्रदीप– २।२।२३

२३७ वै०सि०ल०म० बहुव्रीहि प्रकरण

२३८ निरुक्त– २।१।४

२३९ ना०शा०– १४।३२

२४० बृहद्देवता– २।१०५

२४१ वा०प्रा०– १।२७

२४२ वा०प्रा०, उव्वटभाष्य– १।२७

२४३. बहुव्रीहिश्च सप्तधा। अ०पु०– ३५५।११

२४४ अन्यार्थे तु बहुव्रीहौ ग्रामः प्राप्तोदको द्विज। ना०पु०– ५२।६४

२४५. का०व्या०– २।५।२६७

२४६. शा०व्या०– २।१।२

२४७ स०क०भ०– ३।३।५१

२४८ सि०हे०श०– ३।१।१६

२४९ शब्दानुशासन– २।८।५८

२५० बहुव्रीहिरन्यार्थे सारस्वतव्या०पूर्वार्ध १८।१६

२५१ अन्यपदार्थेऽनेक वम्। जै०व्या०सारस्वतव्या०पूर्वार्ध १।३।८६

२५२ मु०बो०व्या०, सू०स०– ३१८

२५३. अनेकमन्यपदार्थे बहुव्रीहिः। सु०व्या०– ४।३।७५

२५४. समानार्थनिकपदं बहिरर्थे समस्यते। नित्य यत्स बहुव्रीहि·। प्र०र०मा०– ६।१०३

२५५. अनेकमन्यपदार्थे पीताम्बरः। ह०ना०व्या०–सू०स०– १७६४

२५६ अष्टाध्यायी– २।२।२६

२५७ सिद्धान्तकौमुदी– २।२।२६

२५८. द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभाव .....। बृहद्देवता– २।१०५

२५६ नाट्यशास्त्र– १४।३२

२६०. द्वन्द्व सामासिकस्य च। गीता–१०।३३

२६१ द्वन्द्व समासो द्विविध.। द्वन्द्वश्चोभयमुख्यक.। अ०पु०– ३५४।१६

२६२ ना०पु०– ५२।६५–६६

२६३. द्वन्द्व समुच्चयो नाम्नोर्बहूनाम् वापि योभवेत्। का०व्या०– २।५।११

२६४. चार्थे द्वन्द्व । जै०व्या०– १।३।६२

२६५ द्वन्द्व सहोक्तौ। शाकटायन व्या०– २।१।८०

२६६ उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्व.। सं०क०भ०– ३।३।५२

२६७ चाऽर्थे द्वन्द्व· सहोक्तौ तु। सि०हे०श०– ३।१।११७

२६८. चाऽर्थे द्वन्द्व. सहोक्तौ। शब्दा०– २।६।१

२६६. चाऽर्थे द्वन्द्व । सारस्वत व्या०पू०– १८।१५

२७० मु०बो०व्या०, सू०– ३१८

२७१. चार्थे द्वन्द्व । सु०व्या०– ४।३।८०

२७२ चार्थे द्वन्द्व । प्र०र०मा०– ६।१२२

२७३ इतरेतरयोगसमाहारयो रामकृष्ण·।। ह०ना०व्या०, सू०– १८०६

सप्तम अध्याय

कारक/विभक्ति सम्बन्धी सञ्ज्ञासूत्र

१. कारक संज्ञा

सूत्रकार आचार्यपाणिनि ने 'कारके'[१] इस अधिकार सूत्र द्वारा कारक सज्ञा का विधान किया है। वैय्याकरणो के अनुसार यह सज्ञाधिकार सूत्र है। जैसा कि पदमञ्जरीकार हरदत्त ने कहा है–''अधिकारस्त्वनेकप्रकारोभवति, सज्ञाविशेषण स्थानी प्रकृति॰ आदेश इति।''[२] 'कारके' इस सूत्र मे सप्तमी निर्धारण अर्थ मे है और एकवचनत्व 'जाति' अर्थ को लेकर है। इसीलिए 'कारके' का अर्थ आचार्यो ने 'कारकेषु मध्ये' किया है। इन आचार्यो के अनुसार कारक सज्ञा पूर्वाचार्यों की है जिसे आचार्यपाणिनि ने उसी रूप मे ग्रहण कर लिया है। भाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने कारक सज्ञा को पूर्वसिद्ध नही माना है। उनके अनुसार 'कारके' सूत्र मे सप्तमी प्रथमा के अर्थ मे प्रयुक्त हुई है। पतञ्जलि के ही शब्दो मे–

''किमिदम् कारके इति? सज्ञानिर्देश॰। सज्ञाधिकारश्चायम् इति।''[३] पतञ्जलि के अनुसार आगे आने वाले प्रत्येक सूत्र मे उपस्थित होकर यह 'कारके' पद प्रथमान्त बनकर वाक्यभेद से अन्वित होता है। जैसे–''कर्तुरीप्सिततमम्[४] कर्म ' इस सूत्र के दो वाक्य बन जाते है। पहला वाक्य होता है–''कर्तुरीप्सिततम कारक–कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है उसकी कारक सज्ञा होती है।'' इस वाक्य मे अधिकृत ''कारके'' यह सप्तम्यन्त पद प्रथमान्त बनकर विधेय बन जाता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि कारक सज्ञा पहले से सिद्ध नही है, अपितु प्रकृत सूत्र से की जाती है। दूसरा वाक्य होता है–''कर्म''। इसका अभिप्राय है कि उस कारक की कर्मसंज्ञा होती है अर्थात् क्रिया के द्वारा कर्त्ता के जिस ईप्सिततम की कारक संज्ञा की गयी है, उसी को कर्म सज्ञा भी होती है। इस प्रकार 'कारक और कर्म' दोनों सज्ञाओं का समावेश हो जाता है, इन दोनों संज्ञाओं के समावेश का कारण ''कारके' पद की अनुवृत्ति है, जो सप्तम्यन्त होते हुए भी प्रथमान्त का अर्थ देता है, और ''कारक'' इस नवीनसंज्ञा का विधान करता है। करण आदि अन्य सज्ञाओं के साथ भी इसी प्रकार कारक सज्ञा का समावेश होता

है। वस्तुत सूत्रो मे वाक्यभेद अर्थात् दो वाक्य करना–''कारक'' इस प्रथमान्त की सङ्गति के लिए है। यदि वाक्य भेद न किया जाय तो प्रथमान्त की न तो पूर्ण सङ्गति होगी और न ही कारक का नवीन सज्ञात्व सिद्ध होगा।

कारक सज्ञा अन्वर्थ सज्ञा है। अर्थात् अर्थ का अनुसरण करने वाली है। 'कारक' पद का अर्थ है–''करोतीति कारक''। अर्थात् जो क्रिया को करता है अथवा क्रिया के साथ जिसका अन्वय होता है। इसीलिए ''ब्राह्मणस्य पुत्र पन्थान पृच्छति'' वाक्य मे ब्राह्मण क्रिया से अन्वित न होने के कारण कारक नही है। महाभाष्यकार के ही शब्दो मे–''कारके'' इति महती सज्ञा क्रियते। सज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थ हि सज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः सज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम्। अन्वर्थ सज्ञा तथा विज्ञायेत-करोतीति कारकमिति''।[५]

महाभाष्यकार ने ''क्रियाम् निर्वर्तयति साधकम् निर्वर्तकम् कारकसज्ञम् भवति इति वक्तव्यम्''[६] कहकर कारक की क्रिया जनकता को स्वीकार किया है। कारक छ· होते है–(१) कर्ता (२) कर्म, (३) करण, (४) सम्प्रदान (५) अपादान, (६) अधिकरण। सम्बन्ध[७] और सम्बोधन[८] कारक नही होते। एक ही द्रव्य किस प्रकार विवक्षाधीन होकर छहों कारकों के रूप मे प्रयुक्त होता है, इसे न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन ने स्पष्ट रूप से कहा है–''तथा च कारकशब्दा निमित्तवशात् समावेशेन वर्तन्ते इति। वृक्षस्तिष्ठीति स्वस्थितौ वृक्ष· स्वातत्र्यात् कर्ता। ''वृक्ष पश्यति'' इति दर्शनेनाप्तुमिष्यमाणत्वात्कर्म। ''वृक्षेणचन्द्रमस ज्ञापयति' इति ज्ञापकस्य साधकतमत्वात् करणम्। 'वृक्षायोदकमासिचति' इत्यासिच्यमानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैतीति सम्प्रदानम्। ''वृक्षात् पर्ण पतति'' इति ध्रुवमपायेऽपादानमित्यपादानम्।'' वृक्षे वयांसि सन्ति'' इति आधारोऽधिकरणमित्यधिकरणम्।''[९]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती ग्रन्थों प्रतिशाख्यादि में कारक संज्ञा का उल्लेख उपलब्ध नही होता। काशकृत्स्न[१०] व्याकरण में कारक के लिए 'साधन' और 'विभक्ति' शब्दो का प्रयोग किया गया है। वहाँ कर्त्ता और कर्म शब्द का प्रयोग उपलब्ध है[११]। नाट्यशास्त्र मे 'कारक' पद का प्रयोग तो प्राप्त है किन्तु इसकी कोई परिभाषा वहाँ नहीं दी गयी है।[१२] नारदपुराण[१३] और अग्निपुराण[१४] में कारक संज्ञा व्यवहृत है।

अर्वाचीन व्याकरणग्रन्थो मे चान्द्रव्याकरण[१५] मे बिना परिभाषा के कारक शब्द प्रयुक्त हुआ है जबकि जैनेद्र व्याकरण[१६] मे "कारके" इस अधिकार सूत्र के माध्यम से कारक सज्ञा विहित है। शाकटायन व्याकरण[१७] मे भी स्वरूप विवेचन के बिना ही 'कारक' शब्द का प्रयोग किया गया है। भोजदेव[१८] ने क्रिया के निमित्त को तथा हेमचन्द्र[१९] और मलयगिरि[२०] ने क्रिया के हेतु को कारक सज्ञा प्रदान की है। आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने सारस्वत व्याकरण में कारक की कोई परिभाषा तो नही दी है, किन्तु स्वोपज्ञवृत्ति मे कारक शब्द का प्रयोग अवश्य किया है।[२१] आचार्य बोपदेव ने कारक के स्थान पर 'क' सज्ञा का विधान किया है।[२२] आचार्य पद्मनाभदत्त ने "कारके"[२३] अधिकार सूत्र द्वारा कारक सज्ञा का प्रयोग किया है। पुरुषोत्तम विद्यावागीश जी ने बिना स्वरूप प्रतिपादन के कारक सज्ञा को व्यवहृत किया है।[२४] जीवोस्वामी ने क्रिया के साथ जिसका सम्बन्ध होता है, उसे कारक माना है।[२५]

अष्टाध्यायी मे कारक सज्ञा के प्रयोग-क्षेत्र अधोलिखित है–

क्र०सं०	सू०	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	गतिकारकोपपदात् कृत्	६।२।१३९	प्रकृतिस्वर	शोणा धृष्णू नृवाहसा। इध्म प्रव्रश्चन.।
२.	कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि	६।२।१४८	अन्त उदात्त	देवदत्त. विष्णुश्रुत·।।

२. अपादान संज्ञा

अष्टाध्यायी में महर्षि पाणिनि ने आठ सूत्रों द्वारा अपादान सज्ञा का विधान किया है। जिनमे प्रधान सूत्र है–"ध्रुवमपायेऽपादानम्"।[२६] इसका अभिप्राय है–विश्लेषसाध्य होने पर ध्रुव या अवधिभूत कारक की अपादान संज्ञा होती है।[२७] प्रकृत सूत्र में अपादान सज्ञा है तथा "अपाये ध्रुवम्" सज्ञी। "कारके"[२८] सूत्र का अधिकार चल रहा है। सूत्रस्थ "अपाय" शब्द का अर्थ है–पृथक् होना। "ध्रुव" शब्द का अर्थ है–निश्चित अर्थात् जो स्थिर रहे। इस प्रकार सूत्र से यह अभिव्यक्त होता है कि "दो वस्तुओं के अलग होने पर जो वस्तु अपनी जगह से नहीं हटती (ध्रुवम्), उस कारक की अपादान सज्ञा होगी।" वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने अपादान की

परिभाषा इस प्रकार दी है–

> "अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
>
> ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते।।"[२९]

अर्थात् अपाय (अलग) होने मे जो उदासीन हो, वह (चाहे चल या अचल हो) 'ध्रुव' ही कहलाता है। कारण यह है कि वह वियोग-कारक क्रिया का आश्रय नहीं है। अतः वह अपादान कहा जाता है।

कार्य ससर्ग अथवा बुद्धिससर्ग पूर्वक अपाय की विवक्षा होने पर अवधिभूत ध्रुव जिसकी अपादान संज्ञा होती है, वह तीन प्रकार का होता है[३०]– (१) निर्दिष्ट विषय (२) उपात्त विषय (३) अपेक्षित क्रिया।

निर्दिष्ट विषय–धातु के द्वारा पार्थक्य विषय निर्दिष्ट होने पर निर्दिष्ट विषय अपादान होता है। जैसे–ग्रामादागच्छति।

उपात्त विषय–जहा एक क्रिया एक अन्य क्रिया के अर्थ के अङ्गरूप मे स्वार्थ को व्यक्त करती है, वहाँ 'उपात्त विषय' होता है। जैसे–बलाहकात् विद्योतते।

अपेक्षितक्रिय–जहा क्रिया पद की प्रतीति होती हो किन्तु उसका प्रयोग नही हुआ रहता, वह अपेक्षितक्रिय है। जैसे–माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः।

अपादान सज्ञक होने का फल है–पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग।[३१] इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि ने कुछ विशेष स्थितियो मे अपादान संज्ञा का विधान किया है। तीन सूत्रो में विभिन्न धातुओं के योग मे अपादान सज्ञा कही गयी है। जो इस प्रकार है–

(१) **भीत्रार्थानां भयहेतुः**[३२]– भयार्थक और रक्षार्थक धातुओं के योग मे भय के हेतु की अपादान सज्ञा होती है।[३३] जैसे–चोराद्विभेति और चोरात्त्रायते। इन दोनो उदाहरणो मे क्रमश· भय और रक्षा हेतु चोर की अपादान संज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति हुई है। सूत्र में 'भयहेतुः पद के सन्निवेश के कारण "अरण्ये विभेति त्रायते वा" उदाहरण में 'अरण्य' की अपादान संज्ञा नही होती, क्योकि 'अरण्य' भय या रक्षा का कारण नहीं है।

(२) **पराजेरसोढ**·[३४]– 'परा' पूर्वक 'जि' धातु के योग मे असह्य की अपादान सज्ञा होती है।[३५] जैसे–'अध्ययनात् पराजयते।' यहाँ असह्य अर्थ अध्ययन है, अत उसमे पञ्चमी विभक्ति हुई। सूत्रस्थ 'असोढ ' पद में 'क्त ' प्रत्यय का अर्थ भूतकाल विवक्षित नही है, किन्तु शक्य अर्थ विवक्षित है। सूत्र मे 'असोढ·' पद के ग्रहण के कारण 'शत्रून् पराजयते' मे शत्रुओं के असह्य न होने के कारण अपादान सज्ञा नही हुई।

३. **वारणार्थानामीप्सितः**[३६]– 'वारणार्थक' धातुओं के योग मे इष्ट (कारक) की अपादान सज्ञा होती है।[३७] जैसे–'यवेभ्य गा वारयति' यहा 'यव' ईप्सित है। एतदर्थ प्रकृत सूत्र से अपादान सज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। सूत्र मे 'ईप्सित' पद का निवेश करने के कारण क्षेत्र शब्द की अपादान सज्ञा नही हुई। क्योकि निवारण करने मे क्षेत्र इष्ट वस्तु नही है।

इसके अतिरिक्त सूत्रकार चार विभिन्न स्थितियो मे अपादान सज्ञा का विधान करते है। जिसमे प्रथम सूत्र है–

(१) **अन्तर्धौयेनादर्शनमिच्छति**[३८]– अर्थात् व्यवधान के कारण जिससे छिपना चाहता हो, उस कारक की अपादान सज्ञा होती है।[३९] जैसे–'मातु निलीयते कृष्ण·।' व्यवधानार्थक 'ली' धातु के योग मे ''कृष्ण माता से छिपने का इच्छुक है'', अत· मातृ शब्द की अपादान सज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। सूत्र में 'अन्तर्धौ' पद के सन्निवेश के कारण ''चौरान्न दिदृक्षते'' मे व्यवधान अर्थ न होने से अपादान संज्ञा नहीं हुई। दूसरा सूत्र है–''आख्यातोपयोगे''[४०] सूत्र मे 'आख्याता' और 'उपयोगे' दो पद है। 'आख्याता' 'आख्यातृ' पद के प्रथमा एकवचन का रूप है। सूत्र का अभिप्राय है कि नियमपूर्वक विद्याध्ययन करने मे पढाने वाले की अपादान सज्ञा होती है।[४१] यहाँ 'नियमपूर्वक अध्ययन करना' अर्थ में 'उपयोग' शब्द रूढ है। इसका उदाहरण है–'उपाध्यायात् अधीते'। यह सूत्र षष्ठी का अपवाद है। सूत्र में 'उपयोगे' पद न रखने पर 'नटस्य गाथा श्रृणोति' में 'नट' की अपादान सज्ञा होने लगती। तीसरा सूत्र है–''जनिकर्तुः प्रकृति ''[४२] उत्पत्ति का आश्रय अपादान सज्ञक होता है। इसका अभिप्राय है कि 'जन्' धातु के कर्ता के हेतु रूप कारक की अपादान संज्ञा होती है।[४३] जैसे–'ब्रह्मण· प्रजा प्रजायन्ते।' यहा 'जन्' धातु का कर्ता प्रजा है। उसका हेतु (प्रकृति) ब्रह्मा है। एतदर्थ ब्रह्मा की प्रकृत सूत्र से

अपादान सज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति हुई। चतुर्थ सूत्र है–''भुव. प्रभव.''[४४]। यहा 'भू' का अर्थ प्रकट होना है–''भवनं भूः, सम्पदादित्वात् क्विप्।' भुव. कर्ता इत्यर्थ ।''[४५] अर्थात् प्रकट होने के कर्ता का मूल स्थल अपादान सज्ञक होता है।[४६] सूत्र मे प्रभव का अभिप्राय है–प्रथम प्रकाशस्थान। ''प्रभवति प्रथम प्रकाशते अस्मिन्निति प्रभव., प्रथम प्रकाशस्थानमित्यर्थ ।''[४७] इसका उदाहरण है–''हिमवत गङ्गा प्रभवति।'' यहाँ गङ्गा का प्रथम प्रकाशस्थान हिमवान् है, इसलिए उसकी प्रकृत सूत्र से अपादान सज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ''भीत्रार्थाना भयहेतु '' से लेकर ''भुव प्रभव.'' पर्यन्त सभी सात सूत्रो को व्यर्थ माना है। उनके अनुसार उक्त सूत्र स्थलो पर 'ध्रुवमपायेऽपादानाम्'' से ही अपादान सज्ञा सम्भव है। आचार्य भट्टोजिदीक्षित ने ''शब्द कौस्तुभ'' मे सभी 'सप्त सूत्रो की सार्थकता को प्रमाण पुरस्सर सिद्ध किया है। यहां एक प्रश्न यह भी उठता है कि जब अपादान सज्ञा ''ध्रुवमपायेऽपादानम्'' सूत्र से ही सम्भव थी तो लाघव के अत्यन्त पक्षपाती सूत्रकार ने तद्भिन्न सात सूत्रो से अपादान सज्ञा के ही प्रपञ्च को क्यो प्रदर्शित किया? वाक्यपदीय के टीकाकार आचार्य 'हेलाराज' ने ''लक्षणप्रपञ्चाभ्याम् हि व्याकरणम्''[४८] कहकर व्याकरण शास्त्र को लक्षण प्रपञ्चान्वित माना है। जहाँ एक लाघव की बात है, इस विषय में न्यासकार का यह अभिमत सर्वथा समीचीन है कि–''न च प्रपञ्चे गुरु-लाघव चिन्त्यते।''[४९] वस्तुत. सूत्रकार द्वारा विहित यह प्रपञ्च अबुधबोधनार्थ है, जैसा कि आचार्य भर्तृहरि का मत है–

''निर्धारणे विभक्ते यो भीत्रादीनाञ्च यो विधिः।

उपात्तापेक्षितापायः सोऽबुधप्रतिक्तये।।''[५०]

यह सज्ञा ''अपकृष्य पृथक्कृत्य वस्तु आदीयते बुद्ध्या गृह्यते यस्मात् तदिति अपादानम्'' व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है। नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त होने के कारण पूर्वाचार्य प्रयुक्त संज्ञा होने मे किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है।[५१] भाष्यव्याख्या प्रपञ्चकार ने आचार्य भागुरि के मत के सन्दर्भ मे अपादान सज्ञा का उल्लेख किया है[५२], इससे भी इस सज्ञा की प्राचीनता ज्ञात होती है। अग्निपुराण[५३] और नारदपुराण[५४] में भी अपादान संज्ञा का प्रतिपादन प्राप्त होता

है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[५५], जैनेन्द्र व्याकरण[५६], सरस्वती कण्ठाभरण[५७] सिद्ध हेमशब्दानुशासन[५८] और शब्दानुशासन[५९] मे अपादान सज्ञा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य अनुभूति स्वरूप[६०] ने भी स्वोपज्ञवृत्ति में अपादान सज्ञा की चर्चा की है। मुग्धबोध व्याकरण[६१] मे अपादान के स्थान पर 'ज' सज्ञा का विधान किया गया है किन्तु सज्ञी का स्वरूप अष्टाध्यायी के समान ही है। सुपद्म व्याकरण[६२] प्रयोगरत्नमाला[६३] और हरिनामामृतव्याकरण[६४] मे भी अपादान सज्ञा विहित है, जिसमे सज्ञी का स्वरूप अष्टाध्यायी प्रभृति के समान ही है। अष्टाध्यायी मे अपादान सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	अपादाने पञ्चमी	२।३।२८	पञ्चमी विभक्ति	ग्रामादायति, धावतोऽश्वात् पतति,
२.	अपादानेपरीप्सायाम्	३।४।५२	णमुल् प्रत्यय	शय्योत्थाय धावति।
३.	अपादाने चाहीयरुहो	५।४।४५	तसि प्रत्यय	ग्रामत आगच्छति चोरतो बिभेति

३. सम्प्रदान संज्ञा

सूत्रकार महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे दशसूत्रो द्वारा 'सम्प्रदान' सज्ञा का विधान किया है, जिनमे प्रधान सूत्र है–''कर्मणा यमभिप्रति स सम्प्रदानम्''।[६५] अर्थात् दानक्रिया के कर्म द्वारा जिसका अभिप्राय सिद्ध किया जाय, वह कारक सम्प्रदान सज्ञक होता है।[६६] सूत्रस्थ 'कर्मणा' पद करणवाची है, 'अभिप्रैति' मे 'अभि' उपसर्ग अभिमुखवाची है। तथा 'प्र' उपसर्ग प्रकर्षवाचक है। इस प्रकार 'अभिप्रैति' पद का अर्थ है–''प्रकर्ष रूप से किसी के अभिमुख जाना।'' देय वस्तु के द्वारा दानक्रिया की सिद्धि के लिए विशेष रूप से किसी के प्रति अभिमुख होने पर ही यह सम्भव होगा। ''सम्यक् प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्'' इस व्युत्पत्ति के आधार पर भी सम्प्रदान शब्द का अर्थ होगा जिसके लिए दिया जाय। दान मे अपने स्वत्व की निवृत्ति पूर्वक दूसरे के स्वत्त्व का विधान होता है, इसलिए भी सम्प्रदान संज्ञा अन्वर्थक है। महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि ने सम्प्रदान सज्ञा को अन्वर्थक नहीं माना है। अत· उन्होने 'दा' धातु के प्रयोग मे स्वत्वनिवृत्ति न होने पर एव 'दा' धातु का प्रयोग न करने पर भी क्रिया मात्र के उद्देश्य की

सम्प्रदान सज्ञा मानी है। तदनुसार "रजकाय वस्त्र ददाति', 'खण्डिकोपाध्याय तस्मै चपेटा ददाति" और 'न शूद्राय मति दद्यात्" इत्यादि स्थलो पर स्वत्व की निवृत्ति के अभाव मे भी सम्प्रदान सज्ञा सिद्ध होने से चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।[६७] उपर्युक्त सम्प्रदान तीन प्रकार का होता है[६८]– (१) अनिराकरण सम्प्रदान जैसे सूर्याय अर्घं ददाति, (२) प्रेरणासम्प्रदान–जैसे-विप्राय गा ददाति (३) अनुमति सम्प्रदान– यथा–उपाध्यायाय गा ददाति। सम्प्रदान सज्ञा का फल है–चतुर्थी विभक्ति का होना।

इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि ने आठ सूत्रो द्वारा विभिन्न धातुओं के प्रयोग मे सम्प्रदान सज्ञा का विधान किया है। १. "**रुच्यर्थानां प्रीयमाणः**"[६९]– रुचि अर्थ येषा ते रुच्यर्था , तेषा अर्थात् अभिलाषार्थकार्थानाम् प्रीयमाण ' का अभिप्राय है सन्तुष्ट होने वाला। इस प्रकार सूत्रार्थ हुआ–रुचि अर्थात् अभिलाषार्थक धातुओं के प्रयोग मे प्रसन्न होने वाला व्यक्ति सम्प्रदान सज्ञक होता है।[७०] जैसे–'हरये रोचते भक्ति ।' यहाँ भक्ति हरि की प्रसन्नता या रुचि को उत्पन्न करती है, एव भक्ति से प्रसन्न होने वाले (प्रीयमाण) हरि हैं। इसलिए हरि की सम्प्रदान सज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। सूत्र मे 'प्रीयमाण ' पद के प्रयोग के कारण "देवदत्ताय रोचते मोदक पथि" मे 'पथि' मे चतुर्थी नही हुई क्योकि मार्ग प्रसन्न नही होता। मोदक से प्रसन्न होने वाले देवदत्त की सम्प्रदान सज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। २. "**श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः**[७१]"– अर्थात् श्लाघ् ह्नुङ्, स्था, और शप् धातुओं के प्रयोग मे 'ज्ञीप्स्यमान' (जिसे बतलाना अभीष्ट हो) की सम्प्रदान सज्ञा होती है।[७२] सूत्र मे ज्ञापनार्थक 'ज्ञप्' धातु के सन्नन्त रूप से कर्म मे शानच् प्रत्यय करने से 'ज्ञीप्स्यमानः' शब्द निष्पन्न हुआ है। इसीलिए सिद्धान्त कौमुदीकार ने इसका अर्थ "बोधयितुमिष्ट·" किया है। यह सूत्र कर्म सज्ञा का अपवाद है। उदाहरण–"गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा"। यहा उपर्युक्त धातुओं के योग मे ज्ञीप्स्यमान कृष्ण की सम्प्रदान सज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई है। सूत्र मे 'ज्ञीप्स्यमान ' पद के अभाव मे "देवदत्ताय श्लाघते पथि" वाक्य मे 'पथिन्' शब्द की भी सम्प्रदान सज्ञा और चतुर्थी विभक्ति होने लगती।

३. **धारेरुत्तमर्ण·**[७३]– णिजन्त 'धृ' धातु के प्रयोग मे उत्तमर्ण (ऋणदाता) की सम्प्रदान

सञ्ज्ञा होती है।[७४] जैसे–भक्ताय धारयति मोक्ष हरि ।'' इस वाक्य में 'धारि' (धृ + णिच्) का प्रयोग है, इसलिए उत्तमर्ण भक्त की संप्रदान सञ्ज्ञा होने से चतुर्थी विभक्ति हुई। यह षष्ठी का अपवाद है। सूत्र मे 'उत्तमर्ण ' पद के अभाव मे ''देवदत्ताय शत धारयति ग्रामे'' मे उत्तमर्ण न होने के कारण ग्राम की सम्प्रदान सञ्ज्ञा नहीं हुई।

४. **स्पृहेरीप्सितः**[७५]–चुरादिगण पठित स्पृह् धातु के प्रयोग मे ईप्सित (इष्ट) पदार्थ की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।[७६] जैसे ''पुष्पेभ्य· स्पृह्यति'' इस वाक्य मे 'स्पृहा' का विषय पुष्प है, अत· पुष्प की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होने पर चतुर्थी विभक्ति हुई। सूत्र मे 'ईप्सितः' पद के न होने पर ''पुष्पेभ्य वने स्पृह्यति'' वाक्य मे 'वने' की सम्प्रदान सञ्ज्ञा हो जाती जो स्पृहा का विषय नही है। यहाँ ध्यातव्य है कि ईप्सित होने पर ही सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। ईप्सि तम् की विवक्षा मे तो परत्वात् कर्म सञ्ज्ञा ही होगी।

५. **क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रतिकोपः**[७७]– क्रुधश्च, द्रुहश्च, ईर्ष्यश्च, असूयश्च–क्रुधद्रुहेर्ष्यासूया· तेषाम् अर्थाः–क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्था·, क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानामिव अर्था येषा ते–क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्था·, तेषाम्। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा– 'क्रुध् (क्रोध करना), द्रुह (द्रोह करना), ईर्ष्य (ईर्ष्या करना) तथा असूय (गुणो मे दोष ढूढना) धातुओं तथा तदर्थक धातुओं के प्रयोग में जो कोप का विषय हो, उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।[७८] वैसे कोप का अर्थ क्रोध होता है किन्तु यहा कोप और क्रोध मे अन्तर दिखलाया गया है। भाष्यकार ने भी ''नहि अकुपित क्रुध्यति' कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया है। वस्तुत क्रोधादि सभी भावो का मूल कोप ही है, कोप जब परिपक्व होता है तभी क्रोधादि भावों का उदय होता है। इसका उदाहरण है–हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति असूयतिवा।'

सूत्र मे 'य प्रति कोप ' पद समूह के ग्रहण करने के कारण ''भार्यामीर्ष्यति मैनामन्यो द्राक्षीत्'' वाक्य में कोप भार्या के प्रति नहीं है, अत उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा नही होती। उसके प्रति ईर्ष्या का कारण तो इतना है कि वह सुन्दर है, ऐसा न हो किसी दूसरे की दृष्टि मे पड़ जाय।

६. **''राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः''**[७९]– 'राध् और ईक्ष् धातुओं के योग मे जिसके विषय मे शुभाशुभ विषयक प्रश्न होता है, उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।[८०] जैसे–'कृष्णाय राध्यति, ईक्षते

वा'' यहा पर 'राध्' और 'ईक्ष्' धातुओं का प्रयोग (कृष्ण के विषय मे) प्रश्न सम्बन्धी विचार करने के अर्थ मे किया गया है। इसलिए इनके योग मे कृष्ण की सम्प्रदान संज्ञा होती है और चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

७. **प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता''**[८१]– 'प्रति' और 'आङ्' उपसर्गो से पर 'श्रु' धातु (प्रतिज्ञार्थ) के योग मे, जो पहले प्रेरणा देने वाला हो, उस (प्रेरक कर्ता) की सम्प्रदान सज्ञा होती है।[८२] जैसे– 'विप्राय गां प्रतिश्रृणोति' अथवा आश्रृणोति'। यहा विप्र प्रेरक है, अत· उसकी सम्प्रदान सज्ञा होने के फलस्वरूप चतुर्थी विभक्ति हुई। वस्तुत· इस वाक्य से ध्वनित होता है कि पहले विप्र ने यजमान से गाय देने के लिए कहा कि ''मुझे गाय दो'', तब यजमान गाय देने की प्रतिज्ञा करता है। इस तरह प्रेरक के रूप में पूर्व व्यापार क्रिया का कर्ता विप्र है, अत कर्ता मे तृतीया विभक्ति को बाधकर सम्प्रदान सज्ञा होती है।

८ **''अनुप्रति गृणश्च''**[८३]– सूत्र मे ''अनुप्रति'' लुप्त पञ्चम्यन्त पद है। गृ धातु क्रयादिगण मे पठित है। 'गृणा' की षष्ठी विभक्ति का रूप है 'गृणः। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा–अनु + गृ तथा प्रति पूर्वक गृ (प्रोत्साहित करना अर्थ) के योग मे पूर्व व्यापार का कर्ता कारक सम्प्रदान सज्ञक होता है।[८४] जैसे–होत्रे अनुगृणाति प्रतिगृणाति वा। 'होता' पहले मन्त्र पढता है तत्पश्चात् अध्वर्यु उसे प्रोत्साहित करता है। पूर्व व्यापार अर्थात् शसन (उच्चारण) का कर्ता 'होता' है, इसलिए उसकी सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। यह सूत्र कर्म सज्ञा का बाधक है।

सम्प्रदान सज्ञा विधायक दशम सूत्र है– **''परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्''**।[८५] परिक्रयण अर्थ मे करण कारक की विकल्प से सम्प्रदान सज्ञा होती है।[८६] निश्चित काल के लिए किसी को वेतन या मजदूरी पर रखना परिक्रयण[८७] है जैसे–शतेन शताय वा परिक्रीत·। यहाँ पर परिक्रयण का अत्यन्त उपकारक शत है। अतः वैकल्पिक सम्प्रदान होने से चतुर्थी विभक्ति हुई–शताय।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय में सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में सम्प्रदान सज्ञा का नाम्ना उल्लेख मिलता है। अग्निपुराण[८९] और नारदपुराण[९०] मे भी सम्प्रदान संज्ञा का प्रतिपादन प्राप्त होता है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों में कातन्त्र व्याकरण[९१] जैनेन्द्र व्याकरण[९२] सरस्वतीकण्ठाभरण[९३]

सिद्धहेमशब्दानुशासन[९४] और शब्दानुशासन[९५] मे सम्प्रदान सज्ञा का विवेचन उपलब्ध होता है। सारस्वत व्याकरण मे "दानपात्रे सम्प्रदानकारके चतुर्थी"[९६] सूत्र मे सम्प्रदान कारक का उल्लेख हुआ है। चान्द्रव्याकरण मे बिना परिभाषा के ही सम्प्रदान सज्ञा प्रयुक्त हुई है।[९७] इसके अतिरिक्त मुग्ध बोध व्याकरण,[९८] सुपद्म व्याकरण[९९] प्रयोग रत्नमाला[१००] तथा हरिनामामृत व्याकरण[१०१] मे भी सम्प्रदान सज्ञा का विधान किया गया है। यहा ध्यातव्य है कि समस्त अर्वाचीन वैय्याकरण न्यूनाधिक रूप मे आचार्य पाणिनि से ही प्रभावित होकर सम्प्रदान संज्ञा का विधान किया है।

अष्टाध्यायी मे सम्प्रदान संज्ञा का प्रयोग-स्थल निम्नवत् है–

क्र०सं०	सू०	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	चतुर्थीसम्प्रदाने	२।३।१३	चतुर्थी विभक्ति	विप्राय गा ददाति हरये रोचते भक्तिः फलेभ्यो याति

४. करण संज्ञा

महर्षि पाणिनि दो सूत्रों से करण संज्ञा का विधान करते है। जिसमे पहला सूत्र है "साधकतमम् करणम्"[१०२] अर्थात् क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक की करण सज्ञा होती है।[१०३] 'करण' कारक मे प्रकृष्ट उपकारकता अन्य कारकों की दृष्टि से है। यद्यपि कर्ता क्रिया की सिद्धि के लिए करण का आश्रय लेता है तथापि यह स्वातन्त्र्य के कारण प्रधान रहता है। परायत्त-वृत्ति के कारण 'करण' गौण होता है। क्योकि करण कर्ता के विना व्यापारशील नहीं होता। कर्ता अपने व्यापार मे स्वतन्त्र होने पर भी क्रिया की सिद्धि मे प्रकृष्टोपकारक नहीं होता, क्योकि उसके व्यापार के अनन्तर क्रिया सिद्धि का अभाव रहता है। यही कर्ता और करण का भेद भी है। आचार्य भर्तृहरि ने क्रियासिद्धि मे 'प्रकृष्टोपकारकत्त्व' को परिभाषित करते हुए कहा है–

"क्रियायाः परिनिष्पतिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।

विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदास्मृतम्।।"[१०४]

अर्थात् जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया की निष्पत्ति विवक्षित होती है, उसे 'करण' माना जाता है।

सूत्र मे 'तमप्' का ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? क्योकि यदि ''साधक करणम्'' ही कहा जाता तो 'कारकम्' पद की अनुवृत्ति के कारण प्रकृष्ट कारक रूप अर्थ स्वत उपस्थित हो जाता। इस शङ्का का समाधान है कि यदि 'तमप्' का ग्रहण नही किया जाता तो ''गङ्गाया घोष '' इत्यादि वाक्यो मे गङ्गा की अधिकरण संज्ञा नही होती। कहने का अभिप्राय यह है कि तमब्ग्रहण न करने से 'करण' कारक मे तो इष्ट सिद्धि हो जाती किन्तु अधिकरण मे अनिष्ट प्राप्ति होने लगती। इसका भाव यह है कि यदि कारक प्रकरण मे तमब्ग्रहण के बिना ही प्रकर्ष अर्थ लिया जाता तो आधार वाले सूत्र मे भी प्रकृष्ट अर्थ स्वत उपस्थित हो जाता। जिससे गौण आधार 'गङ्गा' आदि की अधिकरण संज्ञा न होती।

करण सज्ञा का फल है–तृतीया विभक्ति का प्रयोग, जैसे ''परशुना छिनन्ति'' यहाँ छेदन क्रिया के प्रति 'परशु' साधकतम है। क्योकि 'परशुव्यापार के बाद ही छेदनक्रिया की निष्पत्ति होती है।

लोक व्यवहार मे 'स्थाल्या पच्यते' इत्यादि स्थलो पर पाकादि क्रिया के आधारभूत स्थाली आदि की 'साधकतमत्व' की विवक्षा मे करणता देखी जाती है। जैसा कि आचार्य भर्तृहरि ने स्वय कहा है–

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम्।

स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः।।''[१०५]

सूत्रकार द्वारा अभिमत करण संज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है **''दिवः कर्म च''**[१०६] इसका अभिप्राय है कि 'दिव्' धातु के 'साधकतम' कारक की विकल्प से करण सज्ञा होती है।[१०७] सूत्र मे 'चकार' के ग्रहण से कर्म सज्ञा का विधान किया गया है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती संस्कृत वाङ्मय में करण संज्ञा का स्पष्टतया उल्लेख कहीं नही प्राप्त होता। केवल नाट्यशास्त्र में आये हुए 'प्रभृति' शब्द से 'करण' का ग्रहण कर लिया जाता है।[१०८] अग्निपुराण मे ''क्रियते येन करणम्''[१०९] और नारदपुराण मे ''येन क्रियते तत् करणम्''[११०] कहकर करण संज्ञा को परिभाषित किया है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों में कातन्त्र

व्याकरण में ''येन क्रियते तत् करणम्''[१११] के द्वारा करण सज्ञा का विधान किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण[११२], सरस्वतीकण्ठाभरण[११३], और सिद्धहेमशब्दानुशासन[११४] मे अष्टाध्यायी के समान ''साधकतमम् करणम्' सूत्र के द्वारा करण संज्ञा का प्रतिपादन किया गया है। चान्द्र व्याकरण[११५] और शाकटायन[११६] व्याकरण मे बिना परिभाषा के ही 'करण' यह सज्ञा शब्द प्रयुक्त हुआ है। शब्दानुशासन मे 'येन क्रियते तत् करणम्' सूत्र के द्वारा करण सज्ञा विहित है।[११७] 'सारस्वत व्याकरण' मे करण सज्ञा विधायक कोई सूत्र मे तो नही है किन्तु स्वोपज्ञ वृत्ति में 'करण' इस सज्ञा शब्द का प्रयोग अवश्य उपलब्ध होता है।[११८] आचार्य वोपदेव ने करण के स्थान पर 'ध' सज्ञा का विधान किया है।[११९] सुपद्म व्याकरण[१२०] और प्रयोगरत्नमाला[१२१] मे क्रिया की सिद्धि मे प्रकृष्टोप कारक को 'करण' कहा गया है। हरिनामामृत व्याकरण के अनुसार जो कर्ता के अधीन तथा प्रकृष्ट सहायक होता है, उसकी 'करण' संज्ञा होती है।[१२२] अज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु के प्रयोग होने पर विकल्प से करण सज्ञा का विधान किया गया है।[१२३]

अष्टाध्यायी मे करण सज्ञा के प्रयोग स्थल निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	कर्तृकरणयोस्तृतीया	२।३।१८	तृतीया विभक्ति	रामेण बाणेन हतो बाली
२	करणे चस्तोकाल्पकृच्छ कतिपयस्यासत्ववचनस्य	२।३।३३	तृतीया एवं पंचमी विभक्ति	स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्त ।
३.	करणेयजः	३।२।८५	णिनि प्रत्यय	सोमयाजी, अग्निष्टोमयाजी
४.	करणेऽयोविद्रुषु	३।३।८२	अप् प्रत्यय और घनादेश	अयोधनः, विघनः द्रुघनः द्रुघण·
५.	करणे हन	३।४।३७	णमुल् प्रत्यय	पादघातं हन्ति
६	करणाधिकरणयोश्च	३।३।११७	ल्युट् प्रत्यय	इध्मप्रव्रश्चन कुठारः।

अधिकरण संज्ञा

अष्टाध्यायी मे क्रिया के आधार-भूतअधिकरण के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते है–'आधारोऽधिकरणम्'[124] अर्थात् कर्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधारभूत कारक की अधिकरण सज्ञा होती है।[125] इसी तथ्य का समर्थन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते है–

''कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्।

उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।''[126]

इसका अभिप्राय है कि क्रिया कर्ता या कर्म मे अवस्थित रहती है। फलत अधिकरण कर्ता तथा कर्म का आधार होता है। इस प्रकार अधिकरण परम्परा से क्रिया का आधार होता है, साक्षात् नहीं। यहा पर यह शङ्का होती है कि जो क्रिया का साक्षात् आधार है क्या उसकी अधिकरण सज्ञा नहीं होगी? इस पर वैय्याकरणो का अभिमत है, कि ''गले बद्धवा गौरानीयते'' जैसे स्थलों पर जहा 'गल' क्रिया का साक्षात् आधार है अथवा जहां पर कर्ता और कर्म द्वारा क्रिया का आधार होता है, उभयत्र अधिकरण सज्ञा हो जाती है।

यह अधिकरण व्यापक, औपश्लेषिक और वैषयिक के भेद से तीन प्रकार का होता है।[127] जैसे–''तिलेषु तैलम्'' इत्यादि स्थलों पर व्यापकाधिकरण, ''कटे शेते'' इत्यादि स्थलो पर औपश्लेषिकाधिकरण, तथा ''मोक्षे इच्छास्ति'' इत्यादि स्थलो पर वैषयिक अधिकरण है। यहॉ पर प्रश्न उठता है कि आधार तो संयोग या समवाय सम्बन्ध से निर्धारित होता है, ऐसी स्थिति मे 'गुरौवसति' इत्यादि प्रयोग कैसे उपपन्न होगे? इसका समाधान है कि लोक मे जो आधार जिसके प्रति प्रसिद्ध है, वह समवाय या सयोग सम्बन्ध से हो या न हो, तो भी वह उसका आधार माना जाता है। जैसा कि न्यासकार का कथन है–

''यदायत्ता हि यस्य स्थितिः स विनाऽपि सयोगसमवायाभ्या तस्याश्रयो भवति। यथा–राजायत्तस्थितित्त्वात् पुरुषस्य राजेति। न च राज्ञा सह पुरुषस्य संयोगसमवायौ स्तः। तथाहि तदधीन-स्थितित्वाद् राजाश्रय. पुरुष इति लोके व्यपदिश्यते, तथा शिष्यादीनां गुर्वाद्यायत्ता स्थितिरिति

युक्तस्तान् प्रति गुरुप्रभृतीनामाश्रयभाव.''।[१२८]

कुछ वैय्याकरण इन भेदो के अतिरिक्त 'सामीपिक' 'औपचारिक' तथा 'नैमित्तिक' भेद भी स्वीकार करते है। उनके अनुसार 'गङ्गाया घोष ' मे 'सामीपिक' 'करशाखाशिखरे करेणु-शतमास्ते'' मे औपचारिक तथा ''युद्धे सन्नह्यते वीर.'' मे नैमित्तिक अधिकरण है। इस प्रकार षड्विध अधिकरण को एवविध प्रस्तुत किया जा सकता है।

''कटेशेते कुमारोऽसौ वटे गावः सुशेरते।

तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम्।।''

युद्धे सन्नह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रे करिणांशतम्।।[१२९]

किन्तु अधिकाश वैय्याकरण 'सामीपिक' आदि भेदत्रय का अन्तर्भाव वैषयिक और औपश्लेषिक आधार के अन्तर्गत ही कर लेते हैं। जैसा कि आचार्य कैय्यट ने कहा है–

''औपश्लेषिकशब्देन सयोगसमवायमूलको गौण आधारः सर्वोऽप्युच्यते[१३०]''। यह संज्ञा ''अधिक्रियते, आश्रीयते इत्यधिकरणम् आश्रयः उच्यते'' व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है।

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती प्रातिशाख्यादि ग्रन्थो मे अधिकरण सज्ञा का उल्लेख स्पष्टतया नही प्राप्त होता। केवल नाट्यशाम्त्र के ''निर्देशः सम्प्रदानापादानप्रभृतिसञ्ज्ञाभि.[१३१]'' कथन मे आये हुए प्रभृति शब्द से अधिकरणादि का ग्रहण किया जाता है। अग्निपुराण में ''आधारो योऽधिकरण विभक्तिस्तत्र सप्तमी''[१३२] तथा नारदपुराण मे ''ड्योस्सुप. सप्तमी तु स्यात् सा चाऽधिकरणे भवेत्[१३३]'' कहकर अधिकरण सज्ञा को परिभाषित किया गया है।

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्रव्याकरण[१३४], जैनेन्द्र, व्याकरण[१३५], सरस्वतीकण्ठाभरण[१३६], सिद्धहेमशब्दानुशासन[१३७] एवं शब्दानुशासन[१३८] में प्रतिपादित अधिकरण का स्वरूप न्यूनाधिक रूप मे अष्टाध्यायी के समान ही है। आचार्य अनुभूतिस्वरूप ने स्वोपज्ञवृत्ति मे ''आधारो नामाधिकरण[१३९]'' कहकर अधिकरण संज्ञा को परिभाषित किया है। मुग्धबोध व्याकरण मे अधिकरण के स्थान पर 'ड' सज्ञा विहित है।[१४०] सुपद्म व्याकरण[१४१] प्रयोगरत्नमाला[१४२]

और हरिनामामृत[१४३] मे अष्टाध्यायी के समान ही अधिकरण सज्ञा का प्रतिपादन किया गया है।

अष्टाध्यायी मे अधिरण सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	सप्तम्यधिकरणे च	२।३।३६	सप्तमी विभक्ति	कटे आस्ते, मोक्षे इच्छास्ति सर्वस्मिन्नात्मास्ति।
२	अधिकरणे शेते	३।२।१५	अच् प्रत्यय	खशय
३	अधिकरणे बन्ध.	३।।१	णमुल् प्रत्यय	चक्रबन्ध बध्नाति
४	अधिकरणवाचिनश्च	२।३।६८	क्त के योग मे षष्ठी का विधान	इदम् एषा आसित।।
५.	अधिकरणैताक्त्वे च	२।।१५	एकवद्भाव का निषेध	दशदन्तोष्ठाः।
६.	अधिकरण विचाले च	५।३।४३	धा प्रत्यय	पञ्चधा
७.	अधिकरणवाचिना च	२।२।१३	क्त प्रत्ययान्त के साथ षष्ठी समास का निषेध	इदमेषामासितम् भुक्तम् वा
८	करणाधिकरणयोश्च	३।३।११७	ल्युट् प्रत्यय	गोदोहनी स्थाली

५. कर्मसंज्ञा

दाक्षीपुत्र महर्षि पाणिनि ने कर्म संज्ञा का विधान दस सूत्रों द्वारा अष्टाध्यायी में किया है। जिसमें प्रधान सूत्र है– ''कर्तुरीप्सिततमम् कर्म''[१४४] अर्थात् कर्ता (अपनी) क्रिया से (जिस पदार्थ को) सर्वाधिक प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस कारक की कर्म सज्ञा होती है।[१४५] सूत्र में 'कर्तु·' पद के सन्निवेश का अभिप्राय है कि 'माषेषु अश्व बध्नाति' इत्यादि स्थलों पर 'माष' प्रभृति की कर्मसज्ञा न हो, क्योकि माष कर्ता को नहीं अपितु कर्म (अश्व) का ईप्सिततम है। सूत्र में 'तमप्' ग्रहण के कारण 'पयसा ओदन भुङ्क्ते' इत्यादि स्थलों पर 'पयस्' की कर्मसंज्ञा नहीं होती। यद्यपि

भोजन क्रिया के द्वारा कर्ता को 'पयस्' तथा 'ओदन' दोनो ही अभीष्ट है। तथापि ओदन को निगलने मे 'पयस्' सहायक है, कर्ता का इष्टतम नही। इसी प्रकार सूत्र मे यद्यपि ''अधि-शीड् स्थासा कर्म''[१४६] से 'कर्म' पद की अनुवृत्ति हो जाती तो भी चूँकि कर्म की अनुवृत्ति आने पर उसके साथ 'आधार' पद की भी अनुवृत्ति आ जाती, जिससे सूत्रार्थ होता–'कर्ता के ईप्सिततम' आधार की कर्म सज्ञा हो। ऐसी स्थिति में 'गेह प्रविशति' इत्यादि स्थलो पर क्रिया के आधार 'गेह' की तो कर्म सज्ञा होती किन्तु 'देवदत्त· ओदन पचति' इत्यादि स्थलो पर 'ओदन' आदि की कर्म सज्ञा न होती, क्योकि वह 'पचन' क्रिया का आधार नही है। चूँकि सूत्रकार को यह स्थिति अभीष्ट नही थी इसलिए उन्होने सूत्र मे पृथक् 'कर्म' पद का ग्रहण किया।

आचार्य पाणिनि ने तीन सूत्रो द्वारा आधार की भी कर्म सज्ञा मानी है। इनमे प्रधान सूत्र है, '**अधि-शीड्-स्थासां कर्म।**''[१४६] अर्थात् अधि पूर्वक 'शीड्' 'स्था' और 'आस्' धातु के आधार की कर्म सज्ञा होती है।[१४७] जैसे–अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठ हरि । ''**अभिनिविशश्च**''[१४८] सूत्र के द्वारा 'अभि, नि' – इस समुदाय के पूर्व मे रहने पर 'विश्' धातु के आधार की कर्म सज्ञा मानी है। प्रकृत सूत्र मे ''**परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्**''[१४९] सूत्र से 'मण्डूकप्लुति-न्याय' से ''अन्यतरस्याम्'' पद की अनुवृत्ति की जाती है। तत्पश्चात् व्यवस्थित विभाषा का आश्रयण करके विकल्प का निर्देश किया जाता है। जिससे कहीं-कही कर्म संज्ञा नही होती। आचार्य पाणिनि ''**उपान्वध्याड्वसः**''[१५०] सूत्र द्वारा 'उप', 'अनु' 'अधि' और 'आड्' पूर्वक 'वस्' धातु के आधार की कर्म सज्ञा प्रतिपादित की है।[१५१] जैसे–उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठ हरिः''।

आचार्य पाणिनि ने दो सूत्रों द्वारा अत्यन्त अवस्था के कर्ता की 'ण्यन्त' अवस्था मे कर्म सज्ञा मानी है। जिनमे प्रथम सूत्र है–''**गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ**''[१५२] अर्थात् गति, बुद्धि और भोजन अर्थ वाली धातुओं तथा शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं का अण्यन्त अवस्था का कर्ता ण्यन्त अवस्था में कर्म सज्ञक होता है।[१५३] जैसे–शत्रूनगमयत् स्वर्गम् इत्यादि। 'हृ' और 'कृ' धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्ता को विकल्प से कर्म सज्ञा का विधान आचार्यपाणिनि ने ''**हृक्रोरन्यतरस्याम्**''[१५४] सूत्र द्वारा किया है। इसका उदाहरण है–

'हारयति, कारयति वा भृत्य भृत्येन वा कटम्।' इसी प्रकार आचार्य पाणिनि ने ''क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाना य प्रति कोप ''[155] सूत्र से प्राप्त सम्प्रदान कारक के स्थान पर ''क्रुध द्रुहोरुपसृष्टयो [156] कर्म'' सूत्र से कर्म सज्ञा का विधान किया है। इसका अर्थ है कि उपसर्ग सहित 'क्रुध्' तथा 'द्रुह्' धातुओं के योग मे जिस पर क्रोध किया जाता है उस कारक की कर्म सज्ञा होती है।[157] जैसे–क्रूरम् अभिक्रुध्यति अभिद्रुह्यति वा। इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने 'दिव्' धातु के साधकतम कारक की विकल्प से कर्म सज्ञा का विधान ''दिवः कर्म च''[158] सूत्र द्वारा किया है। जैसे– अक्षै अक्षान् वा दीव्यति। वस्तुत· 'दिव्' धातु के 'साधकतम' कारक की करण सज्ञा प्राप्त थी किन्तु महर्षि पाणिनि ने प्रकृत सूत्र से कर्म सज्ञा का भी विधान किया है।

आचार्य पाणिनि 'ईप्सिततम' कर्म के अतिरिक्त 'अनीप्सित' (उपेक्ष्य) कारक की भी कर्म सज्ञा का प्रतिपादन ''तथायुक्त चानीप्सितम्''[159] सूत्र द्वारा किया है। इसका अभिप्राय है कि क्रिया से युक्त 'ईप्सिततम' के समान 'अनीप्सित' भी कारक सज्ञक होने के साथ कर्मसज्ञक होता है।[160] यह अनीप्सित कर्म 'उदासीन' और 'द्वेष्य' के भेद से दो प्रकार का होता है। उदासीन कर्म का उदाहरण है 'ग्रामम् गच्छन् तृणं स्पृशति'। द्वेष्य कर्म का उदाहरण 'ओदन भुञ्जानो विष भुङ्क्ते' है।

आचार्य पाणिनि के अनुसार अपादानादि से अविवक्षित कारक की कर्म सज्ञा का विधान 'अकथित च'[161] सूत्र द्वारा किया गया है। सूत्र का अभिप्राय है कि जब किसी कारक की अपादान आदि विशेष सज्ञा न करनी हो तो उसकी भी कर्म संज्ञा हो।[162] वस्तुत· जब वक्ता को अपादानादि कारकों की अपादानादि सज्ञा इष्ट नहीं होती, तो उन कारकों को भी कर्मसज्ञक मान लिया जाता है। वक्ता की इच्छा पर निर्भर होने के कारण जब अपादानादि कारको का बताना इष्ट होगा तो ये सज्ञाएँ भी होंगी। वक्ता इस सन्दर्भ में पूर्ण स्वतन्त्र नही है। महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने एक श्लोकवार्तिक को उद्धृत करते हुए सोलह धातुओं का परिगणन किया है। जिनके प्रयोग होने अथवा उनके समानार्थक अन्य धातुओं के प्रयोग होने की दशा मे अपादानादि कारको की अविवक्षा होकर उसकी कर्म संज्ञा होती है। श्लोक-वार्तिक निम्न है–

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।

ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरित कविना।।[१६३]

इस श्लोक वार्तिक मे केवल आठ धातुओं का ही उल्लेख किया गया है। अत 'पच्' 'मथ्' 'मुष्' इत्यादि आठ धातुओं का सङ्ग्रह भाष्योक्त कारिका के 'च' शब्द से कर लिया जाता है। आचार्य कैय्यट के ही शब्दो मे "गुणेन च इति चकार अनुक्तसमुच्चयार्थ "[१६४]

वस्तुत· ये धातुएँ द्विकर्मक होती है। जिनमे प्रधान कर्म कथित होता है और 'अप्रधान' कर्म 'अकथित'। जैसे–'गा दोग्धि पयः'। यहाँ 'पय.' प्रधान कर्म है और 'गा' गौण। 'पय ' की कर्म सज्ञा "कर्तुरीप्सिततमम् कर्म[१६५]" से और 'गा' की कर्म सज्ञा 'अकथितं च[१६६]' सूत्र से होती है।

'ईप्सिततम' कर्म को भी आचार्य भर्तृहरि ने 'निर्वर्त्य' विकार्य, और प्राप्य के रूप में त्रिधा विभक्त किया है।[१६७] 'निर्वर्त्य कर्म', जैसे–'घट करोति'। 'विकार्य कर्म', जैसे–काष्ठ भस्म करोति। 'प्राप्य कर्म' 'आदित्य पश्यति' प्रभृति स्थलो पर होता है।

इस पर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कर्म के एक होने पर भी सूत्रकार ने अनेक सूत्रो द्वारा कर्म को व्याख्यायित करके गौरव मार्ग का आश्रयण क्यों ग्रहण किया है। इस शका का समाधान करते हुए आचार्य कैय्यट कहते हैं–"अनुबोधनार्थं किञ्चिद् वचनेन प्रतिपाद्यते, न्यायव्युत्पादनार्थं चाचार्य· किञ्चित् प्रत्याचष्टे। न ह्यत्रैकः पन्थाः समाश्रियते।[१६८]

इसी का समाधान आचार्य भर्तृहरि निम्न शब्दो में कहते है–

"यथैवैकमपादानम् शास्त्रे भेदेन दर्शितम्.।

तथैकमेव कर्मापि भेदेन प्रतिपादितम्।।"[१६९]

पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त यह सज्ञा "क्रियते यत्तत् कर्म" इस व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है। महर्षि पाणिनि के पूर्ववर्ती वाङ्मय में कर्म सज्ञा का स्पष्ट उल्लेख काशकृत्स्न व्याकरण मे आया हुआ है।[१७०] नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त 'प्रभृति' शब्द से 'कर्म' का सङ्ग्रह कर लेना चाहिए।[१७१] अग्निपुराण मे "कर्म यत् क्रियते तत् स्यात्"[१७२] और नारदपुराण मे 'तत्

कर्म क्रियते च यत्'[१७३] कहकर कर्म सज्ञा को परिभाषित किया है।

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[१७४], जैनेन्द्र व्याकरण,[१७५] सरस्वती कण्ठाभरण[१७६], सिद्धहेमशब्दानुशासन[१७७], शब्दानुशासन[१७८] मे अष्टाध्यायी के पद चिन्हो पर चलते हुए कर्म सज्ञा का विधान किया गया है। चान्द्र व्याकरण[१७९] और शाकटायन व्याकरण[१८०] मे विना किसी परिभाषा के 'कर्म' और 'आप्य' शब्दो का प्रयोग किया गया है। आचार्य अनुभूति-स्वरूप ने भी कर्म सज्ञा की परिभाषा न करते हुए स्वोपज्ञवृत्ति मे कर्म पद का प्रयोग किया है।[१८१] आचार्य वोपदेव[१८२] ने जहा 'कर्म' के स्थान पर 'द' सज्ञा का विधान किया है, वही सुपद्म व्याकरण[१८३], और प्रयोगरत्नमाला[१८४] और हरिनामामृत व्याकरण[१८५] मे अष्टाध्यायी के समान ही कर्म सज्ञा का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त कर्मसज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	कर्मणि द्वितीया	२।३।२	द्वितीया विभक्ति	हरिं भजति
२	कर्मण्यण्	३।२।१	अण् प्रत्यय	कुम्भकारः नगरकार ।
३	कर्मणि दृशिविदोः साकल्ये	३।४।२६	णमुल् प्रत्यय	कन्यादर्शं वरयति ब्राह्मण वेदं भोजयति।
४	कर्तृकर्मणो कृति	२।३।६५	षष्ठी विभक्ति	जगत कर्ता कृष्ण·।
५	कर्तृकर्मणोश्च भूकृञो·	३।३।१२७	खल् प्रत्यय	दुराढ्य भव।
६	कर्मण उकञ्	५।१।१०३	उकञ् प्रत्यय	कार्मुकम्
६.	कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः	३।१।८७	कर्ताकाकर्म विधान	पच्यतेओदन , भिद्यते काष्ठम्
७.	कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्	१।४।३२	सम्प्रदानसंज्ञा	विप्राय गां ददाति

८	अनौ कर्मणि	३।२।१०० उ प्रत्यय	पुमनुजा
८.	कर्मणि घटोऽठच्	५।२।३५ अठच् प्रत्यय	कर्मठ
८	कर्मव्यतिहारेण च् स्त्रियाम्	३।३।४३ णच् प्रत्यय	व्यावक्रोशी
६	कर्मणि च	२।२।१४ षष्ठी समास निषेध	आश्चर्यो गवा दोहोऽगोपेन
१०.	कर्मणि च येन सस्पशति कर्तु· शरीरसुखम्	३।३।११६ ल्युट् प्रत्यय	पय पान सुखम्
११.	कर्मणि भृतौ	३।२।२२ ट प्रत्यय	कर्मकरो भृतक·।
१२.	कर्मणि हनः	३।२।८६ णिनि प्रत्यय	पितृव्यघाती
१३.	कर्मणीनि विक्रियः	३।२।६३ इनि प्रत्यय	सोमविक्रयी
१४.	कर्मणो रोमन्थ तपोभ्यां वर्तिचरो	३।१।१५ क्यङ् प्रत्यय	रोमन्थायते
१५	कर्मण्यग्न्याख्यायाम्	३।२।६२ क्विप् प्रत्यय	श्येनचित्
१६.	कर्मण्यधिकरणे	३।३।६३ कि प्रत्यय	जलधिः
१७	कर्मण्याक्रोशेकृञ· खमुञ्	३।४।२५ खमुञ् प्रत्यय	चौरंकारमाक्रोशति
१८.	भावकर्मणो·	१।३।१३ आत्मनेपद विधान	बभूवे

६. कर्ता संज्ञा

अष्टाध्यायीकार महर्षि शालातुरीय पाणिनि ने कारको मे कौन प्रधान है? इस जिज्ञासा-शमन हेतु कर्तृसज्ञा का विधान "स्वतन्त्रः कर्ता"[१८६] सूत्र द्वारा किया है। इसका अभिप्राय है कि क्रिया करने मे जिसकी स्वतन्त्रता (प्रधानता) मानी जाय वह कर्ता कारक होता है।[१८७] वस्तुतः

कैय्यट ने "कारके"[१८८] सूत्र मे 'कारक' पद से क्रिया अर्थ ग्रहण किया है। कैय्यट के ही शब्दो मे "क्रियात्रसूत्रे कारकशब्देनोच्यते। सा हि कर्त्रादीनि विशिष्टव्यपदिष्टानि करोति इति।"१८६ क्रिया की निष्पत्ति मे सभी कारको का हाथ रहता है, तथापि क्रिया के द्वारा जिसका व्यापार प्रमुख रूप से व्यक्त होता है, उसे ही स्वतन्त्र कहा जाता है। 'कर्ता' इसलिए स्वतन्त्र माना जाता है कि वह दूसरे कारको की अपेक्षा पहले ही शक्तिलाभ करता है। अन्य कारक कर्ता के द्वारा स्वातन्त्र्य प्राप्त करते है। कर्ता के इसी प्राधान्य को प्रदर्शित करते हुए आचार्य पतञ्जलि कहते है–"एवन्तर्हि प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा व्यवाये स्वतन्त्रा। तद्यथा...अमात्यादीना राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्य व्यवाये स्वातन्त्र्यम्। किम्पुन· प्रधानम्? कर्ता। कथम्पुनर्ज्ञायते? कर्ता प्रधानमिति यत्सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति"।[१६०]

इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने "तत्प्रयोजको हेतुश्च[१६१]" सूत्र द्वारा भी कर्ता के प्रयोजक की हेतुसज्ञा के साथ ही कर्तृसज्ञा का विधान किया है। इस प्रकार कर्ता दो प्रकार का होता है। (१) स्वतन्त्र कर्ता (२) हेतु कर्ता। स्वतन्त्रकर्ता भी अभिहित, अनभिहित और कर्मकर्ता के भेद से तीन प्रकार का होता है। 'देवदत्तः पचति, इस वाक्य मे 'देवदत्त' उक्त (अभिहित) कर्त्ता है। देवदत्तेन पच्यते' यहाँ देवदत्त अनभिहित (अनुक्त) कर्ता है। जो कर्म कर्ता के समान प्रतीत होता है, उसे 'कर्म कर्ता' कहते है। जैसे–पच्यते ओदन· स्वयमेव। यहाँ कर्म ओदन कर्ता के सदृश प्रतीत होता है। हेतु कर्ता भी चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार का होता है। 'देवदत्तेनौदनं पाचयति' इस वाक्य मे देवदत्त चेतन हेतु कर्ता है।' अध्ययनं वासयति' यहाँ पर अध्ययन अचेतन हेतु कर्त्ता है। हेतु कर्ता के विषय में आचार्य भर्तृहरि का मत है–

"प्रेषणाध्येषणे कुर्वंस्तत्समर्थानिवाचरन्।
कर्तैव विहितां शास्त्रे हेतुसंज्ञा प्रपद्यते।"[१६२]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती प्रातिशाख्यादि ग्रन्थो में कर्ता आदि कारकों का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। काशकृत्स्न व्याकरण में कर्ता शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[१६३] अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे[१६४] कातन्त्र व्याकरण में कर्ता संज्ञा का विधान किया गया है। 'जैनेन्द्र

व्याकरण'[195] 'सरस्वती कण्ठाभरण'[196] 'सिद्धहेमशब्दानुशासन'[197] और शब्दानुशासन[198] मे 'स्वतन्त्रः कर्ता' सूत्र द्वारा ही कर्तृ सज्ञा विहित है। चान्द्र व्याकरण[199] और शाकटायन व्याकरण[200] मे विना परिभाषा के ही 'कर्ता' इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य अनुभूति स्वरूप[201] ने भी स्वापेज्ञवृत्ति मे कर्ता को परिभाषित किया है। मुग्धबोध व्याकरण में कर्ता के स्थान पर 'घ' संज्ञा का विधान किया गया है।[202] सुपद्म व्याकरण[203] प्रयोगरत्न[204] माला और हरिनामामृत[205] व्याकरण में भी कर्तृ संज्ञा का विधान किया गया है। अग्निपुराण[206] और नारद पुराण[207] मे भी क्रिया को सम्पादित करने वाले.को 'कर्ता' कहा गया है।

अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त कर्ता सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	कर्तृकरणयोस्तृतीया	२।३।१८	तृतीया विभक्ति,	रामेण बाणेन हतोबाली
२	तृजकाभ्यां कर्तरि	२।२।१५	षष्ठीसमासनिषेध	वज्रस्यभर्ता, ओदनस्य पाचक ।
३	कर्तरि च	२।२।१६	षष्ठी समासनिषेध	भवतः शायिका
४	कर्तरि शप्	३।१।६८	शप् प्रत्यय	भवति, पठति, गच्छति
५	कर्तरि कृत्	३।४।६७	कृत् प्रत्ययाः	कारकः, कर्ता

७. हेतु संज्ञा

आचार्य पाणिनि ने कर्तृसज्ञा के प्रतिपादन के पश्चात् हेतु संज्ञा का विधान ''तत्प्रयोजको हेतुश्च''[208] सूत्र द्वारा किया है। जिसका अभिप्राय है कि कर्ता के प्रेरक कारक की हेतु सज्ञा और कर्तृ संज्ञा होती है।[209] सूत्र मे 'तत्' पद से स्वतन्त्र कर्ता का परामर्श होता है। 'च' पद से प्रेरक की कर्ता संज्ञा भी होती है, जैसे–''देवदत्तः यज्ञदत्तम् गमयति'' तमपरः प्रयुङ्क्ते', ''गमयति ग्रामम् देवदत्तेन यज्ञदत्तम् विष्णुमित्रः'' यहां देवदत्त प्रयोजक विष्णुमित्र की कर्तृ-सज्ञा और हेतु सज्ञा होती है। उक्त कर्ता होने के कारण उसमें प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है।

सूत्र मे 'तत्' पद के ग्रहण के कारण क्रिया के प्रयोजक कर्म की हेतु सज्ञा नहीं होती। कर्ता के ही प्रेरक की हेतु सज्ञा का विधान आचार्य भर्तृहरि ने भी किया है–

प्रेषणाध्येषणे कुर्वंस्तत्समर्थानिवाचरन्।

कर्तैव विहितां शास्त्रे हेतुसंज्ञां प्रपद्यते।।[२१०]

'हिनोति, व्याप्नोति कार्यमिति हेतुः' व्युत्पत्ति के आधार पर यह संज्ञा अन्वर्थक है। काशकृत्स्न व्याकरण में हेतु सज्ञा के स्थान पर 'प्रयोजक सज्ञा' का प्रयोग किया गया है।[२११] इसी प्रकार अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो में कातन्त्र व्याकरण मे ''कार्यति यः[२१२] सहेतुश्च' सूत्र द्वारा हेतु सज्ञा का विधान किया गया है। अष्टाध्यायी मे हेतु सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित हैं–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	हेतुमति च	३।१।२६	णिच् प्रत्यय	भावयति, भावयते
२.	हेतुहेतुमतोर्लिङ्	३।३।१५६	लिङ्लकार	कृष्णं नमेच्चेत् सुखं यायात्।

८. कर्मप्रवचनीय संज्ञा

अष्टाध्यायी मे कर्मप्रवचनीय सज्ञा का विधान महर्षि पाणिनि ने ''कर्मप्रवचनीयाः''[२१३] सूत्र द्वारा किया है। यह सूत्र 'सज्ञा' तथा 'अधिकार' दोनो रूपों मे कार्य करता है। इसका अधिकार ''विभाषा कृञि'[२१४] पर्यन्त है। इसलिए वहां तक कर्म प्रवचनीय संज्ञा का प्रभाव रहेगा। कर्मप्रवचनीय किसे कहते है? इसका उत्तर कर्मप्रवचनीय सज्ञा को अन्वर्थक मानकर महर्षि पतञ्जलि ने दिया है। उन्हीं के शब्दो मे–

''किमर्थं महती संज्ञा क्रियते? अन्वर्थ संज्ञा यथा विज्ञायेत। कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीया इति। के पुन· कर्म प्रोक्तवन्त ? ये सम्प्रति क्रियाम् नाहु·। ये अप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहु । ते कर्मप्रवचनीया·।[२१५]

इसके अनुसार कर्मप्रवचनीय' का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ–कर्म = क्रियाम् प्रोक्तवन्तः = कथितवन्त· अर्थात् जिन्होने कर्म (क्रिया) को कहा है, होगा। (कर्म + प्र वच् धातु + अनीयर्

भूतकाल में कर्ता अर्थ मे)। वस्तुत· कर्म– प्रवचनीय अतिक्रान्त क्रियागत सम्बन्ध को द्योतित करते है। वे वर्तमान मे किसी क्रिया को प्रकट नहीं करते, किन्तु क्रिया जनित सम्बन्ध के भेदक (विशेषक) मान लिये जाते है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्मप्रवचनीय के साथ क्रिया जनित सम्बन्ध की प्रतीति होती है। यह सम्बन्ध किसी अन्य पद के द्वारा सम्यक् रूप से अभिव्यक्त नही किया जा सकता। क्योकि उन पदो की शक्ति सीमित है, और वे अपना स्वाभाविक अर्थ ही व्यक्त कर सकते है। इस लिए सम्बन्ध के द्योतक किसी अन्य पद के अभाव मे कर्मप्रवचनीय को ही क्रिया जनित उस सम्बन्ध का भेदक मान लिया जाता है।[२१६] स्वरूपत· उपसर्ग और निपात के समान होने पर भी कर्मप्रवचनीय उपसर्ग से भिन्न हैं, क्योकि इनका स्वतन्त्र प्रयोग होता है और इनके योग मे द्वितीया, पञ्चमी तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती है। चूकि कर्मप्रवचनीय संज्ञा उपसर्ग और गतिसज्ञा की बाधक है, इसलिए कर्मप्रवचनीय सज्ञा होने पर उपसर्ग जनित षत्वादि कार्य एवम् गति सज्ञा जनित अनुदात्तादि स्वर नहीं होते। कर्मप्रवचनीय सज्ञा और उपसर्ग संज्ञा का भेद यह है कि उपसर्ग वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं, जबकि कर्मप्रवचनीय वर्तमान क्रिया के द्योतक नहीं होते।

महर्षिपाणिनि ने ग्यारह कर्मप्रवचनीय गिनाये हैं–अनु, उप, अप, परि, आङ्, प्रति, अभि, अधि, सु, अति तथा अपि। इन कर्म प्रवचनीयों के बाईस अर्थ भी सूत्रकार के द्वारा दिये गये है–हेतु लक्षण, सहार्थ, हीनता, आधिक्य, वर्जन, मर्यादावचन, लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग, वीप्सा, प्रतिनिधि, प्रतिदान, आनर्थक्य, पूजा, अतिक्रमण, पदार्थ, सम्भावन, अन्ववसर्ग, गर्हा, समुच्चय, स्वाम्य, और अधिकार। कर्मप्रवचनीयो मे 'अनु' सात, प्रति और परि छह, 'अपि' पॉच, 'अति' और 'अभि' तीन उप और अधि दो अर्थों में प्रयुक्त होते है जबकि आङ् अपि और सु एक-एक अर्थ मे प्रयुक्त किये जाते हैं। कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधायक सूत्र निम्न है–

१. **अनुर्लक्षणे**[२१७]– लक्षण (हेतु) अर्थ मे 'अनु' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है।[२१८] जैसे पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्।

२. **तृतीयार्थे**[२१९]– तृतीया का अर्थ द्योत्य रहने पर अनु की कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है।[२२०] जैसे–नदीमन्वसिता सेना।' यद्यपि तृतीया के अनेक अर्थ है तथापि यहाँ सहार्थ ही लिया

जाएगा क्योकि अन्य अर्थो मे कर्मप्रवचनीय संज्ञा का कोई फल नहीं है।

३. **हीने**[२२१]– हीन अर्थ मे 'अनु' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है।[२२२] जैसे–अनुहरिं सुरा । यहा ध्यातव्य है कि दो पदार्थो के रहने ही हीन भाव प्रकट होता है। इनमे से एक निकृष्ट होगा और दूसरा उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट। इन दोनो मे से उत्कृष्ट से ही द्वितीया विभक्ति आती है, हीन से नही।

४. **उपोऽधिके च**[२२३]–आधिक्य और हीनता अर्थ द्योतित होने पर 'उप' अव्यय की कर्म प्रवचनीय सज्ञा होती है।[२२४] जैसे–उप हरि सुरा यहाँ हीन अर्थ मे उप के योग मे 'हरि' मे द्वितीया विभक्ति हुई है।

५. **लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः**[२२५]–लक्षण (ज्ञापक), इत्थभूताख्यान (परिस्थिति का कथन) भाग (स्वीकार्य अश अर्थात् हिस्सा) तथा वीप्सा (सबके साथ सम्बन्ध करने की इच्छा) अर्थ द्योतित होने पर 'प्रति', 'परि' तथा 'अनु' कर्मप्रवचनीय सज्ञक होते है।[२२६] जैसे–लक्षण (ज्ञापक) अर्थ में–वृक्ष प्रति, परि, अनु वा विद्योतते विद्युत्। **इत्थंभूताख्यान**–भक्तो विष्णुं प्रति, परि अनुवा। **भाग**– लक्ष्मीर्हरि प्रति, परि अनुवा **वीप्सा**– वृक्षम्-वृक्षम् प्रति, परि, अनु वा सिञ्चति।

६. **अभिरभागे**[२२७]– भाग अर्थ को छोड़कर शेष लक्षणादि अर्थो में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है।[२२८] जैसे–हरिम् अभि वर्तते, भक्त· हरिम् अभि, देवं देवम् अभिसिञ्चति। सूत्र में अभागे कहने के कारण 'यद् अत्र मम अभिष्यात् तद् दीयताम्' मे 'अभि' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा नहीं हुई, फलतः उपसर्ग सञ्ज्ञा के कारण 'स्यात्' मे 'स्' के स्थान पर मूर्धन्यादेश हो गया।

७. **अधि परी अनर्थ कौ**[२२९]–निरर्थक 'अधि' तथा 'परि' कर्म प्रवचनीय सज्ञक होते है।[२३०] जैसे–कुतः अध्यागच्छति? अथवा कुतः पर्यागच्छति? इन दोनों उदाहरणो में 'अधि' तथा 'परि' के सयोग से 'आगच्छति' के अर्थ मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ, अत· ये दोनों अनर्थक है। कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा हो जाने से 'अधि' तथा 'परि' को 'गतिर्गतौ[२३१] सूत्र से निघात (अनुदात्त) नही हुआ।

८. **सुः पूजायाम्**[२३२]– प्रशंसार्थक 'सु की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा हो[२३३] जैसे–सुसिक्तम्, सुस्तुतम्। इन दोनों उदाहरणों में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के कारण उपसर्ग-सज्ञा नही हुई, फलत दन्त्यसकार के स्थान पर मूर्धन्यादेश नहीं हुआ। ''सुषिक्तम् किम् तवात्र? इस वाक्य मे आक्षेप होने के कारण 'सु' की कर्मप्रवचनीय सज्ञा नहीं हुई, फलत· उपसर्ग सज्ञा के कारण मूर्धन्यादेश हो गया।

९. **अतिरतिक्रमणे च**[२३४]– अतिक्रमणार्थक एव पूजार्थक 'अति' कर्मप्रवचनीय सज्ञक होता है[२३५] जैसे–'अति देवान् कृष्ण ।'

१०. **अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्ग गर्हासमुच्चयेषु**[२३६]– पदार्थ, सम्भावन (शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए विहित अत्युक्ति), अन्ववसर्ग (इच्छानुसार काम करने की अनुमति देना), गर्हा (निन्दा) और समुच्चय अर्थ में वर्तमान 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।[२३७] इनके क्रम से उदाहरण हैं–सर्पिष· अपि स्यात्, अपि स्तुयात् विष्णुं, अपि स्तुहि, धिक् देवदत्तम्, अपि स्तुयात् वृषलम् और अपि स्तुहि, अपि सिञ्च है।

११. **अपपरी वर्जने**[२३८]–'वर्जन' अर्थ में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है।[२३९]

१२. **आङ् मर्यादावचने**[२४०]– मर्यादा अर्थ मे 'आङ्' कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञक होता है।[२४१] सूत्र मे आये हुए वचन शब्द से 'अभिविधि' का भी ग्रहण हो जाता है। इन तीनो की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा का फल इनके योग मे ''पञ्चम्यपाङ्परिभिः''[२४२] सूत्र द्वारा पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग है, जैसे–अपहरेः परिहरे·, ससार· तथा आमुक्तेः ससारः एव आसकलात् ब्रह्म।

१३. **प्रतिः प्रतिनिधि प्रतिदानयोः**[२४३]– प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थो मे 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होती है[२४४] प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थ में वर्तमान 'प्रति' के योग मे 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्'[२४५] सूत्र द्वारा पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे–प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति अथवा तिलेभ्य· प्रतियच्छति माषान्।

१४. **अधिरीश्वरे**[२४६]–स्वस्वामिसम्बन्ध में अधि कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञक होता है।[२४७]

स्वस्वामिसम्बन्ध अर्थ मे वर्तमान अधि के योग में 'यस्मादधिक यस्य चेश्वरवचन तत्र सप्तमी। जैसे–अधिभुविराम. अथवा अधिरामेभू.।

१५. विभाषा कृञि[२४५]– ईश्वर अर्थ होने पर 'कृ' धातु के योग में 'अधि' शब्द की विकल्प से कर्मप्रवचनीय सज्ञा होती है।[२४५] जैसे–यदत्र माम् अधि करिष्यति। यहाँ 'अधि' के कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा होने का परिणाम गतिसञ्ज्ञा का अभाव है, फलत 'तिङि चोदात्तवति'[२५०] सूत्र से निघात नही हुआ।

उपर्युक्त सूत्रो मे सर्वत्र 'कर्मप्रवचनीयाः'[२५१] मूत्र का अनुवर्तन होगा। 'प्राग्रीश्वरान्निपाता[२५२]' सूत्र का अधिकार अधिरीश्वरे पर्यन्त होने के कारण सर्वत्र 'निपाता ' पद का भी अनुवर्तन होगा।

अथर्व प्रातिशाख्य[२५३] में कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा का प्रयोग होने के कारण प्रतीत होता है कि यह पूर्वाचार्य व्यवहृत सञ्ज्ञा है। अग्निपुराण मे 'कर्मप्रवचनीयाख्यैर्द्वितीयायोगतो भवेत्'[२५४] और नारदपुराण मे 'एतैर्योगे द्वितीया स्यात् कर्मप्रवचनीयकै.[२५५]' के द्वारा कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा का प्रयोग हुआ है।

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो में यह संज्ञा सर्वत्र समादृत नहीं है। अष्टाध्यायी मे कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित हैं–

क्र०सं०	**सूत्र**	**सूत्र सं०**	**कार्य**	**उदाहरण**
१.	कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया	२।३।८	द्वितीया विभक्ति	पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत्।

उद्धरणानुक्रमणिका

१. अष्टाध्यायी–१।४।२३

२. पदमञ्जरी–१।४।२३

३. महाभाष्य–१।४।२३

४. अष्टाध्यायी–१।४।४६

५. महाभाष्य–१।४।२३

६. महाभाष्य–१।४।२३

७. सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्य । वाक्यपदीय–३।७।१५६

८. सम्बोधनपदम् यच्च तत् क्रियायाः विशेषणम्।–वाक्यपदीय–२।५

९. न्याय भाष्य–२।१।१६

१० धातौ साधने दिशि पुरुषे चिंतितदाख्यातम्। का०कृ०व्या०सू०–२

११. भूते भव्ये वर्तमाने भावे कर्तरि कर्मणि। का०कृ०व्या०सू० ४५

१२. तत् प्राहु· सप्तविध पदकारकसयुत प्रथितसाध्यम्। – ना०शा० १५।२३

१३ ....सम्प्रदाने च कारके। ना०पु० २।१६।६ इत्यादि मे।

१४. कारके कर्तरि च सा......। अ०पु० ३५१।२६ इत्यादि।

१५. घञ् कारके च। – चा०व्या० १।३।७ इत्यादि।

१६. जै०व्या०–१।२।१०६

१७. शा०व्या०–१।१।६० इत्यादि।

१८. क्रियानिमित्त कारकम्। – स०क०भ० १।१।३२

१६. क्रियाहेतु कारकम्। – सि०हे०श०–२।२।१

२० क्रियाहेतु कारकम्। – शब्दा०–२।६।१

२१. सारस्वत व्या० पूर्वार्द्ध–१७।४ पर स्वोपज्ञवृत्ति।

२२. संज्ञाः कम्। – मु०बो०व्या०सू०–३१६

२३ सु०व्या० – २।१।१

२४. विवक्षात कारकाणि भवन्तीति व्यवस्थिते। प्र०र०मा० ५।३७ इत्यादि मे

२५ क्रियासम्बन्धविशेषि कारकम्।–ह०ना०सू० ६६१

२६. अष्टा०–१।४।२४

२७. सि०कौ०–१।४।२४

२८. अष्टा०– १।४।२३

२६. वाक्यपदीयम्-नागेशभट्ट द्वारा उद्धृत वाक्यपदीय कारिका, जो सम्प्रति वाक्यपदीय के सस्करणो में उपलब्ध नहीं है।

३०. निर्दिष्टविषयं किञ्चिदुपात्तविषय तथा।

अपेक्षितक्रियञ्चेति त्रिधापादानमुच्यते।।

३१. अपादाने पञ्चमी। अष्टा०–२।३।२८

३२. अष्टा०–१।४।२५

३३. सि०कौ० – १।४।२५

३४. अष्टा०– १।४।२६

३५. सि०कौ०– १।४।२६

३६. अष्टा० – १।४।२७

३७. सि०कौ० –१।४।२७

३८. अष्टा० –१।४।२८

३६. सि०कौ० –१।४।२८

४०. अष्टा० –१।४।२६

४१. सि०कौ० –१।४।२६

४२ अष्टा० –१।४।३०

४३. सि०कौ० –१।४।३०

४४. अष्टा० –१।४।३१

४५ सि०कौ०बा०म०– १।४।३१

४६. सि०कौ० –१।४।३१

४७. सि०कौ०बा०म० – १।४।३१

४८ वा०पदीयम् –३।७।१४७

४६ न्यास–१।४।२५

५०. वाक्यपदीयम् –३।७।१४७

५१. ना०शा०–१४।२३

५२ महाभाष्य व्याख्याप्रपञ्च, पृ०– १२६

५३. अ०पु०–३५१।२७, ३५४।११

५४. ना०पु०– २।१६।७,६

५५ यतोऽपैतिभयमादत्ते वा तदपादानम्, ईप्सित च रथार्थानां। –का०व्या० २।४।८, ६

५६. ध्यपाये ध्रुवमपादानम्। – जै०व्या० १।२।११०

५७ स०क०भ०–१।१।६५–७३

५८. अपायेऽवधि अपादानम्। –सि०हे०श० २।२।२६

५६ अपायेऽवधि अपादानम्। –शब्दा० २।६।२

६०. सारस्वत व्या० पूर्वार्द्ध स्वोपज्ञवृत्ति–१७।८ इत्यादि।

६१. मु०बो०व्या०–सूत्र–२६६

६२. सु०व्या० –२।१।२०

६३ प्र०र०मा० –५।१–३

६४ ह०ना०व्या०–सूत्र १०२६, १०२८–३८

६५. अष्टा० –१।४।३२

६६. सि०कौ०–१।४।३२

६७. म०भा० १।४।३२

६८. अनिराकरणात् कर्तुस्त्यागाङ्गम् कर्मणेप्सितम्।
प्रेरणानुमतिभ्याम् वा लभते सम्प्रदानताम्।। –वा०पदीय –३।७।१२६

६६ अष्टा० –१।४।३३

७० सि०कौ० –१।४।३३

७१ अष्टा० –१।४।३४

७२ सि०कौ० –१।४।३४

७३. अष्टा० –१।४।३५

७४. सि०कौ० –१।४।३५

७५ अष्टा० –१।४।३६

७६. सि०कौ० –१।४।३६

७७ अष्टा० –१।४।३७

७८ सि०कौ० –१।४।३७

७९. अष्टा० –१।४।३९

८०. सि०कौ० –१।४।३९

८१. अष्टा० –१।४।४०

८२ सि०कौ० –१।४।४०

८३. अष्टा० –१।४।४१

८४. सि०कौ० –१।४।४१

८५. अष्टा०–१।४।४४

८६. सि०कौ० –१।४।४४

८७. तुभ्यं एतावद् वेतन दीयते, तत् गृह्णन् एतावन्त कालं त्व मम कर्मकरो भव, इत्येव परिमितं काल भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणमित्यर्थ·।– सि०कौ०बा०म० १।४।४४

८८ निर्देश· सम्प्रदानापादानप्रभृतिसंज्ञाभि –ना०शा० १५।२३

८९ अ०पु० –३५१।१६, ३५४,९–१०

९०. ना०पु० –२।१६।६

९१. का०व्या०सू० –२१६

९२. जै०व्या० –१।२।१११-१३

९३. स०कं०भ० –१।१।५६–६४

९४. सि०हे०श० –२।२।२५-२७

९५. शब्दा० –२।६।३-४

९६ सारस्वत व्या० पूर्वार्द्ध–सू० १७।७

९७ सम्प्रदाने चतुर्थी–चा०व्या० २।१।७३

९८ मु०बो०व्या०–सू० २६४

९९. सु०व्या० –२।१।११-१६,१८, १९

१००. प्र०र०मा० –५।४, ६, ७, ९ - ११

१०१. ह०ना०व्या० सू०– १०३९, १०४१–४४, १०४६–४९, १०५३

१०२. अष्टा० –१।४।४२

१०३ सि०कौ० –१।४।४२

१०४. वाक्यपदीयम् –३।७।९०

१०५ वाक्यपदीयम् –३।७।९१

१०६. अष्टा० –१।४।४३

१०७. सि०कौ० –१।४।४३

१०८ ना०शा० –१४।२३

१०९. अ०पु० –३५०।२५

११०. ना०पु० –२।१६।५

१११. का०व्या०सू० –२१८

११२. जै०व्या० –१।२।११४

११३ स०क०भ०– १।१।५५

११४. सि०हे०श०– २।२।२४

११५. चा०व्या०– १।१।११३ इत्यादि।

११६. हेतुकर्तृकरणेत्थंभूतलक्षणे। –शा०व्या० १।३।१२८ इत्यादि।

११७ शब्दानुशासन – २।२।६

११८. सारस्वत-व्याकरण पूर्वार्द्ध स्वोपज्ञवृत्ति १७।६ इत्यादि।

११६. मु०बो०व्या०–सू २८८

१२०. साधकतमम् करणम्। –सु०व्या० २।१।६

१२१. करण साधकतमम्। –प्र०र०मा० ५।१३

१२२ कर्तुरधीनम् प्रकृष्ट सहाय करणम्। –ह०ना०व्या०सू० –१०५१

१२३. अज्ञानार्थस्य ज्ञ करण वा। –ह०ना०व्या०सू० –१०५६

१२४ अष्टाध्यायी– १।४।४५

१२५ सि०कौ– १।४।४५

१२६. वा०पदीयम्– ३।७।१४८

१२७. अधिकरणं नाम त्रिप्रकारक–व्यापकमौपश्लेषिकम्वैषयिकमिति।–महाभाष्य –६।१।७२

१२८. न्यास –१।४।४५

१२६. सिद्धान्तचन्द्रिका – पृष्ठ २४८

१३० महाभाष्य –प्रदीप– ६।१।७२

१३१ ना०शा० –१४।२३

१३२ अ०पु० –३५१।२८

१३३ ना०पु०–२।१६।८–६

१३४ य आधारस्तदधिकरणम्। –का०व्या०–सू० २१७

१३५. आधारोऽधिकरणम्। –जै०व्या०– १।२।११६

१३६. कर्तृकर्मान्तरितक्रियाधारोऽधिकरणम्। –स०कं०भ०– १।१।७४

१३७. क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम्। –सि०हे०श० –२।२।३०

१३८. क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम्। –शब्दा० २।६।५

१३९. सारस्वत–व्या०पूर्वार्द्ध–१७।१० स्वोपज्ञवृत्ति

१४०. मु०बो०व्या०–सू० ३१०

१४१. आधारोऽधिकरणम्। –सु०व्या० – २।१।२१

१४२. स्यादाधारोऽधिकरणम्। प्र०र०मा० –५।१२

१४३. कर्तृकर्मणोराधारोऽधिकरणम्।– ह०ना०व्या० –सू० १०२०

१४४. अष्टाध्यायी –१।४।४६

१४५. सि०कौ० –१।४।४६

१४६. अष्टाध्यायी –१।४।४६

१४७. सि०कौ० –१।४।४६

१४८. अष्टाध्यायी –१।४।४७

१४९. अष्टा० –१।४।४४

१५०. अष्टा० –१।४।४८

१५१. सि०कौ० –१।४।४८

१५२. अष्टा० –१।४।५२

१५३. सि०कौ० –१।४।५२

१५४. अष्टा० –१।४।५३

१५५. अष्टा० –१।४।३७

१५६. अष्टा० –१।४।३८

१५७. सि०कौ० –१।४।३८

१५८. अष्टाध्यायी –१।४।४३

१५६. अष्टाध्यायी –१।४।५०

१६०. सि०कौ० –१।४।५०

१६१. अष्टाध्यायी –१।४।५१

१६२. सि०कौ० –१।४।५१

१६३. महाभाष्य –१।४।५१

१६४. महाभाष्यप्रदीप –१।४।५१

१६५. अष्टाध्यायी –१।४।४६

१६६. अष्टा० –१।४।५१

१६७ निर्वर्त्यं च विकार्यञ्च प्राप्य चेति त्रिधामतम्–वा०प० ३।७।४५

१६८. महाभाष्य – प्रदीप–७।१।६५

१६६. वा०प० – ३।७।७८

१७०. भूते भव्ये वर्तमाने भावे कर्तरिकर्मणि। –का०कृ०व्या० – सू० ४५

१७१. ना०शा० –१४।२३

१७२. अ०पु० –३५१।२४

१७३. ना०पु० –२।१६।४

१७४. यत् क्रियते तत् कर्म। –का०व्या० –सू० –२१६

१७५. जै०व्या० –१।२।११५ आदि

१७६. कर्तुरीप्सिततमम् कर्म। –स०कं०भ० १।१।३८ से ५४ तक

१७७. कर्तुर्व्याप्यं कर्म। –सि०हे०श० २।२।३–१७, १६–२३

१७८. कर्तु· व्याप्यं कर्म। –शब्दा० २।६।७–२२, २४

१७६. कर्मणि घटते अठच्। –चा०व्या० ४।२।३६ इत्यादि।

१८०. कर्मणि। –शा०व्या० १।३।१०५ इत्यादि।

१८१. सारस्वत– व्या० पूर्वार्द्ध, १७।४ पर स्वोपज्ञवृत्ति।

१८२. मु०बो०व्या०–सू०स० २८१, २८२

१८३. क्रियाव्याप्य कर्म। –सु०व्या० २।१।३ इत्यादि।

१८४. यत् कर्तु क्रियया व्याप्य तत् कर्म परिकीर्तितम्। –प्र०र०मा० ५।१६ इत्यादि।

१८५. क्रिया यत् साधिका तत् कर्म।–ह०ना०व्या० – सू० ६६८ इत्यादि मे

१८६. अष्टाध्यायी १।४।५४

१८७ सि०कौ०– १।४।५४

१८८. अष्टाध्यायी– १।४।२३

१८९ महाभाष्य प्रदीप– १।४।४६

१९०. महाभाष्य –१।४।४६

१९१. अष्टा० –१।४।५५

१९२. वा०प० –३।७।१२५

१९३. भूते भव्ये वर्तमाने भावे कर्तरि कर्मणि। का०कृ०व्या०–सू० ४५

१९४. य करोति स कर्ता।– का०व्या० २।४।१४

१९५. जै०व्या० –१।२।१२५

१९६. सरस्वती –कं०भ० –१।१।३३, ३४

१९७ सि०हे०श० –२।२।२

१९८. श० –२।६।२५

१९९. चा०व्या० –१।१।६८ इत्यादि मे।

२००. शा०व्या० –१।३।११३ इत्यादि मे।

२०१. सारस्वत– व्या०पूर्वार्द्ध–स्वोपज्ञवृत्ति– १७।६

२०२. ....कर्ता घस्त्रि। मु०बो०सू० २८८

२०३. स्वतन्त्रतत्प्रयोजक· कर्ता।– सु०व्या० २।१।२

२०४. क्रियासिद्धौ य· स्वतन्त्रः स कर्ता।

कर्तृप्रयोजको हेतुः कर्ता चेत्युपदिश्यते। –प्र०र०मा० ५।३४-३५

२०५. स्वतन्त्र तत्प्रयोजकञ्च कर्तृ। –ह०ना०व्या० – सू० ६६४

२०६ कर्ता यश्च करोति सः। –अ०पु० –३५१।२५

२०७. कर्ता स्यात् करोति यः। –ना०पु०– २।१६।५

२०८. अष्टा० –१।४।५५

२०६. सि०कौ० –१।४।५५

२१०. वाक्यपदीय –३।७।१२५

२११. का०कृ०व्या० –सूत्र ४५

२१२. का०व्या०– सू० –२।४।१५

२१३ अष्टा०– १।४।८३

२१४. अष्टा०– १।४।६८

२१५. महाभाष्य– १।४।८३

२१६. क्रियायाः द्योतको नायं न सम्बन्धस्य च वाचकः।

नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः।। –वाक्यपदीय २।१०४

२१७. अष्टा० –१।४।८४

२१८. सि०कौ० –१।४।८४

२१६. अष्टा० –१।४।८५

२२०. सि०कौ० –१।४।८५

२२१. अष्टा० –१।४।८६

२२२. सि०कौ० –१।४।८६

२२३. अष्टा० –१।४।८७

२२४ सि०कौ० –१।४।८७

२२५ अष्टा० –१।४।६०

२२६. सि०कौ० –१।४।६०

२२७. अष्टा० –१।४।६१

२२८. सि०कौ० –१।४।६१

२२६. अष्टा० –१।४।६३

२३०. सि०कौ० –१।४।६३

२३१. अष्टा० –८।१।७०

२३२. अष्टा० –१।४।६४

२३३. सि०कौ० –१।४।६४

२३४ अष्टा० –१।४।६५

२३५. सि०कौ० –१।४।६५

२३६ अष्टा० –१।४।६६

२३७. सि०कौ० –१।४।६६

२३८. अष्टा०– १।४।८८

२३६. सि०कौ०– १।४।८८

२४०. अष्टा० –१।४।८६

२४१. सि०कौ० –१।४।८६

२४२ अष्टा० –२।३।१०

२४३. अष्टा० –१।४।८२

२४४. सि०कौ० –१।४।८२

२४५. अष्टा० –२।३।११

२४६. अष्टा० –१।४।८७

२४७. सि०कौ० –१।४।८७

२४८ अष्टा० –१।४।८८

२४९. सि०कौ० –१।४।८८

२५०. अष्टा० –८।१।७१

२५१. अष्टा० –१।४।८३

२५२. अष्टा० –१।४।५६

२५३. कृदन्ते व्युपसर्गे यत्र पूर्वेण विग्रहः।

अनर्थकः कर्मप्रवचनीयो व्यूढो वा विगृह्यते।। अथर्व०प्रा० १।१।१०

२५४. अग्निपुराण ३५३।१९

२५५. नारदपुराण ५२।१०

अष्टम अध्याय

प्रकीर्ण संज्ञासूत्र

१. विभाषा संज्ञा

अष्टाध्यायीकार आचार्य पाणिनि विभाषा सज्ञा का विधान करते हुए कहते है– ''न वेति विभाषा''।[१] सूत्र मे विभाषा संज्ञा है, और 'न' 'वा' सज्ञा। यहा सज्ञी 'न' तथा 'वा' शब्द का स्वरूप ग्राह्य नही है अपितु इन दोनो शब्दों का अर्थ–निषेध तथा विकल्प अपेक्षित है। इसका हेतु 'न' 'वा' शब्दो के अनन्तर 'इति' शब्द की विद्यमानता है। क्योकि सूत्र मे 'इति' शब्द का सम्बन्ध 'काकाक्षिगोलकन्याय' से 'न' तथा 'वा' दोनो के साथ है। अतः विभाषा स्थलों मे निषेध और विकल्प दोनों की उपस्थिति होती है। इसका तात्पर्य है कि पहले निषेध से विषय का समीकरण किया जाता है, पुनः विकल्प की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए काशिकाकार ने सूत्र का अभिप्राय व्यक्त किया है–'न इति' प्रतिषेध है, 'वा' इति विकल्प। प्रतिषेध और विकल्प दोनो की विभाषा सज्ञा होती है।[२] विभाषा के अर्थ मे 'वा', अन्यतरस्याम्, बहुलम्, एकेषाम् आदि शब्द भी प्रयुक्त होते है, जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है–''बहुलमन्यतरस्यामुभयथा वा एकेषाम् 'इति''।[३]

विभाषा के तीन प्रकार हैं–प्राप्त तिभाषा, अप्राप्त विभाषा और उभयत्र विभाषा। विभाषा सज्ञा का उपयोग प्राप्ताप्राप्त विभाषा के लिए ही है। प्राप्त विभाषा मे उत्सर्गशास्त्र की एकबार निवृत्ति की जाती है। अतः दूसरे पक्ष मे उसकी प्रवृत्ति स्वतः हो जाने से इसकी उपयोगिता नहीं है। अप्राप्त विभाषा में भी एक बार कार्य की निवृत्ति होने पर दूसरे पक्ष मे स्वतः उसकी प्रवृत्ति होने से विभाषा सज्ञा का फल नहीं है।[४] उभयत्र विभाषा के लिए ही आचार्य पाणिनि ने विभाषा सज्ञा का विधान किया है। उनके अनुसार ''विभाषा श्वे·''[५] इत्यादि सूत्रों मे 'न वेति विभाषा' सूत्र के अभाव में केवल विधि रूप में प्रवृत्ति होने से लिट्लकार के पकारेत्संज्ञक तिङ् प्रत्ययों मे ही 'सम्प्रसारण' विकल्प से होगा। 'कित्' प्रत्ययों में 'श्वि' धातु यजादि में परिगणित होने के कारण 'वाचि-स्वपि-यजादीनाम्किति''[६] से नित्यसम्प्रसारण हो जाएगा। यदि निषेध रूप मे

प्रवृत्ति मानी जाए तो कित् प्रत्ययो मे ही सम्प्रसारण की प्रवृत्ति होगी, न कि 'पित्' प्रत्ययो के स्थलो मे। पित् स्थल है, तिप्-शिप् और मिप्। इन तीनो के अतिरिक्त शेष प्रत्यय 'असयोगाल्लिट्कित्'[७] सूत्र से कित् है। अतएव समानता न होने से उभयथा प्रवृत्ति नही हो सकती। इसलिए निषेध और विकल्प की विभाषा सज्ञा होने के कारण क्रमश पहले कित् स्थलो मे सम्प्रसारण निषेध प्रवृत्त होने पर तदनन्तर 'कित्' तथा किद्भिन्न पूरे लिट् लकार मे एकरूपता प्राप्त होने पर विकल्प का विधान किया जाता है। जिसके फलस्वरूप 'श्वि' धातु के लिट्लकार मे 'पित्' और कित् स्थलो पर विकल्प से सम्प्रसारण होता है। इसीलिए 'श्वि' के लिट्लकार मे सम्प्रसारण की अप्राप्ति मे विकल्प होने के कारण 'शुशाव' तथा 'शिश्वाय' रूप सिद्ध होते है।

'वि' उपसर्ग के विरुद्ध, विकल्प आदि अर्थ होने के कारण विकल्पेन भाष्यते अथवा विरुद्धा भाषा अर्थ मे वि√भाष धातु से 'गुरोश्च हल·'[८] सूत्र से 'अ' प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग मे 'विभाषा' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'वि' उपसर्ग के निषेधविकल्पार्थक होने से ही निषेध, विकल्प की 'विभाषा' सज्ञा की गयी है। इस प्रकार इस संज्ञा अन्वर्थक भी है।

विभाषा सज्ञा के लिए निरुक्त में 'विभाषित'[९] और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[१०] मे 'वैभाषिक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कैय्यट के वचनानुसार आचार्य आपिशलि द्वारा भी यह सज्ञा प्रयुक्त थी।[११] आधुनिक व्याकरण ग्रन्थों मे स्वरूप प्रतिपादन के विना ही कातन्त्र व्याकरण[१२] जैनेन्द्र व्याकरण[१३] सारस्वत व्याकरण[१४] सुपद्म व्याकरण[१५] प्रयोगरत्नमाला[१६] और हरिनामामृत व्याकरण[१७] मे भी विभाषा पद का प्रयोग किया गया है। नारदपुराण मे भी 'विभाषा' शब्द प्रयुक्त है।[१८]

अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त विभाषा संज्ञा के प्रयोगस्थल निम्नलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सू०सं०	कार्य	उदाहरण
१.	विभाषोपयमने	१।२।२६	सिच् का किद्भाव	राम· सीतामुपायत
२.	विभाषा कृवृषोः	३।१।२०	क्यप् प्रत्यय	कृत्यम्, वृष्यम्
३.	विभाषा ग्रह·	३।१।१४३	ण प्रत्यय	ग्राह·।

४	विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य	६।१।२६	सम्प्रसारण	अभिशीन घृतम्।
५	विभाषाश्वे·	६।१।३०	सम्प्रसारण	शुशाव, शोशूयते।
६.	विभाषापृष्ट प्रतिवचने हे	८।२।६३	प्लुत	अकार्षी कट देवदत्त। अकार्ष हि ३।

टिप्पणी–इनके अतिरिक्त ७२ अन्य सूत्रों में भी विभाषा सज्ञा का साक्षात् प्रयोग हुआ है।

२. लोप संज्ञा

अष्टाध्यायी मे लोप सज्ञा का विधान सूत्रकार ने 'अदर्शन लोप·''[१९] सूत्र द्वारा किया है। सूत्र मे 'लोप' सज्ञा है और 'अदर्शन' संज्ञी। 'अदर्शनम्' पद मे अभाव अर्थ में अव्ययी भाव समास है–दर्शनस्य अभाव· इति अदशन। सूत्र में 'न वेति विभाषा'' सूत्र से 'इति' पद की अनुवृत्ति 'मण्डूकप्लुतिन्याय' से की जाती है। सूत्र मे 'अदर्शन' शब्द का अभिप्राय अनुपलब्धि है, जो श्रवण तथा उच्चारण न होने के रूप में अपेक्षित है। इस प्रकार सूत्र का अभिप्राय होगा– शास्त्रत· प्राप्त के श्रवणाभाव की लोप सज्ञा होती है।[२०] यह लोप सज्ञा 'अदर्शन' के अर्थ की होती है, न कि आनुपूर्वी शब्द के रूप मे। यह अभिप्राय 'इति' शब्द के अनुवर्तन से निश्चित होता है। इसीलिए काशिकाकार ने इसे अर्थ की संज्ञा माना है।[२१] न्यासकार भी ''तस्मादन्वर्थ सज्ञा विज्ञानादर्थस्यैवैषा सज्ञा''[२२] कहकर काशिकाकार के अभिमत का समर्थन करते है। प्रदीपकार कैय्यट भी लोप को अन्वर्थक सज्ञा तथा अर्थ की संज्ञा स्वीकार करते है।''[२३] लोपनम् इति लोप·, अनुपलब्धिः अनुच्चारण वा'' व्युत्पत्ति के आधार पर लोपसज्ञा को सभी वैय्याकरण अन्वर्थक मानते है।

यह पूर्वाचार्यों द्वारा परिभाषित संज्ञा रही है, जिसे आचार्य पाणिनि ने भी स्वीकार कर लिया है। पारिभाषिक सज्ञा के रूप में 'लोप' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम निरुक्त[२४] में प्राप्त होता है, किन्तु वहाँ इसकी कोई परिभाषा नहीं दी गयी है। गोपथ ब्राह्मण में लोप के बजाय अदर्शन शब्द व्यवहृत हुआ है।[२५] ऋग्वेद प्रातिशाख्य[२६] एवं बृहद्देवता[२७] मे भी लोप शब्द प्रयुक्त हुआ है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य[२८] मे वर्ण के विनाश को तथा वाजसनेयि प्रातिशाख्य[२९] मे वर्ण के अदर्शन को लोप कहा गया है। शौनकीय चतुराध्यायिका[३०] एव अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे लोप और लुप्त दोनो शब्द उपलब्ध होते है। काशकृत्स्न व्याकरण[३२] और नाट्यशास्त्र[३३] मे भी लोप शब्द का प्रयोग देखा जाता है। आचार्य भागुरि[३४] और 'आपिशक्ति[३५] के मत मे भी लोप सज्ञा का उल्लेख उपलब्ध होता है। अग्निपुराण[३६] और नारदपुराण[३७] मे बिना स्वरूप विवेचन के ही लोप सज्ञा का प्रयोग किया गया है।

अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे कातन्त्र व्याकरण[३८], चान्द्र व्याकरण[३९] सरस्वती कण्ठाभरण[४०] मे लोप सज्ञा का प्रयोग उपलब्ध होता है। आचार्य देवनन्दी[४१] ने लोप के स्थान पर 'ख' सज्ञा का विधान किया है। सारस्वत व्याकरण[४२] मुग्धबोध[४३] व्याकरण, सुपद्म[४४] व्याकरण और प्रयोग रत्नमाला[४५] मे 'लोप' यह सज्ञा शब्द प्रयुक्त हुआ है। हरिनामामृत व्याकरण[४६] में लोप की 'हर सज्ञा' बतायी गयी है।

अष्टाध्यायी में लोप संज्ञा के प्रयोग-प्रदेश निम्नलिखित हैं–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	लोपोव्योर्वलि	६।१।६६	वकार और यकार का लोप	युवजानिः, भवेत्, जीरदानु·।
२	राल्लोप·	६।४।२१	छकार, वकार का लोप	मूर्ति·, धूर्ति ।
३	लोपो यि	६।४।११८	हा धातु के आकार का लोप	जह्यात्
४.	लोपस्त आत्मनेपदेषु	७।१।४१	तकार का लोप	शये।
५	हलि लोपः	७।२।११३	ह्रस्वइकार का लोप	आभ्याम्
६.	लोप· पिबतेरीच्चा-भ्यासस्य	७।४।४	उपधा का लोप	अपीप्यत्।
७	लोपः शाकल्यस्य	८।३।१९	य्, व् का लोप	हर एहि, विष्ण इहि।

३. 'श्लु' संज्ञा

सूत्रकार महर्षि पाणिनि ने 'अदर्शन' के लिए 'श्लु' सज्ञा का विधान 'प्रत्ययस्य' लुकश्लुलुप '[४७] सूत्र द्वारा किया है। सूत्र का अभिप्राय है कि 'लुक्', 'श्लु' और 'लुप्' शब्दो द्वारा किया जाने वाला प्रत्यय का अदर्शन क्रम से 'लुक्' श्लु और लुप् सज्ञक होता है।[४८] यह सज्ञा 'टि' 'घु' प्रभृति सज्ञाओं के समान निरर्थक है। इस सज्ञा का प्रयोग न तो पूर्वाचार्यो ने किया है और न ही अर्वाचीनवैय्याकरणो ने। यह पाणिनि की अपनी कल्पना है। आचार्य ने 'लुक्' और 'लुप्' से इसका भेद प्रदर्शित करने के लिए तथा सार्वधातुकत्त्व के लिए सज्ञा के आदि मे शकार अनुबन्ध जोड़ दिया है।

अष्टाध्यायी मे 'श्लु' सज्ञा के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	जुहोत्यादिभ्यः श्लु	२।४।७५	शप् का श्लु	जुहोति, विभर्ति
२	श्लौ	६।१।१०	धातु को द्वित्व	विभर्मि
३	निजा त्रयाणां गुण श्लौ	७।४।७५	अभ्यास को गुण	नेनेक्ति, वेवेक्ति वेवेष्टि

४. लुप् संज्ञा

अष्टाध्यायीकार आचार्य पाणिनि अदर्शन के लिए लुप् सज्ञा का भी विधान किया है। लुप् सज्ञा विधायक सूत्र है 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप.[४९] सूत्र का अभिप्राय है–कि लुक्, श्लु और लुप् शब्दो द्वारा किया जाने वाला प्रत्यय का अदर्शन क्रम से लुक्, श्लु और लुप् सज्ञक होता है।[५०] अष्टाध्यायी मे लुक्, श्लु और लुप् सज्ञा विधायक सूत्र एक ही है। तीनो सज्ञाओं में 'लु' की विद्यमानता के कारण इन्हे 'लुमत्' कहा जाता है। लुमत् अर्थात् लुप् श्लु और लुप् से अदर्शन होने पर तन्निमित्तक अङ्गकार्य नहीं होता।[५१] 'लुप्लृ छेदने' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर 'लुप्' शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसके कारण इसे भी लोप सज्ञा के समान अन्वर्थक कहा जा सकता है।

सस्कृतवाड्मय मे सर्वप्रथम ऋक्तन्त्र मे 'लुप्' शब्द का प्रयोग अदर्शन के लिए हुआ है।[५२] सामतन्त्र मे भी लुप् शब्द प्रयुक्त है।[५३] अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थो मे सिद्धहेमशब्दानुशासन[५४] और मुग्धबोध व्याकरण[५५] मे लुप् सज्ञा का प्रयोग किया गया है।

अष्टाध्यायी मे लुप् सज्ञा के प्रयोगस्थल अधोलिखित है–

क्र०सं० सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१. जनपदे लुप्	४।२।८१	चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप्	अड्गा·, वड्गा ।
२. वरणादिभ्यश्च	४।२।८२	चातुर्थिक प्रत्यय का लुप्	वरणा·।
३. शर्कराया वा	४।२।८३	चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप्	शर्करा।
४ लुप् च	४।३।६६	फलप्रत्यय का लुप्	जम्बूः।
५. हरीतक्यादिभ्यश्च	४।३।१६७	फल से होने वाले प्रत्यय का लुप्	हरीतक्य·, द्राक्षा ।
६. लुपि युक्तवद् व्यक्ति वचने	१।२।५१	प्रकृति के समान लिङ्ग एवं वचन का विधान	पञ्चालाः कुखः।
७ लुबविशेष	४।२।४	प्रत्यय का लुप्	अद्य पुष्य ।
८ लुम्मनुष्ये	५।३।६८	कन् का लुप्	चञ्चा।
६ लुब्योगाप्रख्यानात्	१।२।५४	लुप् का निषेध	अङ्गा·, वङ्गा·।

५. लुक् संज्ञा

महर्षि पाणिनि ने 'अदर्शन' की 'लोप' के अतिरिक्त 'लुक्' सज्ञा का भी विधान 'प्रत्ययस्यलुक्श्लुलुप'[५६] सूत्र द्वारा किया है। सूत्र का तात्पर्य है 'लुक्' 'श्लु' और 'लुप्' शब्दों द्वारा किया गया प्रत्यय का अदर्शन क्रमशः लुक्, श्लु और लुप् संज्ञक होता है।[५७] भाव यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गये प्रत्ययों का अदर्शन भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से जाना जाता है। √'लुद्' अपनयने धातु से 'सम्पदादिभ्यः क्विप्'[५८] वार्तिक से 'क्विप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न

'लुक्' सञ्ज्ञा अन्वर्थक है। पूर्वाचार्यों ने लुक् के स्थान पर 'ल' सञ्ज्ञा का प्रयोग किया है। जैसा कि पदमञ्जरी कार हरदत्त के वचन से स्पष्ट होता है–''ल इति लुक् एषा पूर्वाचार्य सञ्ज्ञा''[५९] प्राचीन ग्रन्थो मे काशकृत्स्न व्याकरण[६०] में लुक् सञ्ज्ञा का प्रयोग हुआ है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य[६१] मे भी लुक्सञ्ज्ञा का प्रयोग अदर्शन के अर्थ मे प्राप्त होता है। कातन्त्र[६२] और चान्द्रव्याकरण[६३] मे बिना परिभाषा के ही प्रत्ययो का लुक् करते हुए इस सञ्ज्ञा को व्यवहृत किया है। शाकटायन व्याकरण[६४] मे भी 'लुक्' शब्द का व्यवहार प्रत्यय के अदर्शन के लिए किया गया है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने लुक् के स्थान पर 'श्लुक्' संज्ञा का विधान किया है।[६५] सिद्धहेमशब्दानुशासन[६६] और सारस्वत व्याकरण मे स्वरूप प्रतिपादन के बिना ही लुक् सञ्ज्ञा व्यवहृत् हुई है।[६७] आचार्य बोपदेव[६८] और आचार्य पद्मनाभ[६९] ने भी लुक् सञ्ज्ञा का उपयोग किया है। हरिनामामृतव्याकरण[७०] मे प्रत्यय के अदर्शन के लिए लुक् सञ्ज्ञा दी गई है। अग्निपुराण[७१] मे भी प्रत्यय के अदर्शन के लिए लुक् सञ्ज्ञा का प्रयोग किया गया है।

अष्टाध्यायी मे 'लुक्' सञ्ज्ञा के प्रयोग-स्थल निम्नलिखित हैं–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	लुक्तद्धित लुकि	१।२।४९	उपसर्जन स्त्री प्रत्यय का लुक्	श्रविष्ठः फल्गुनः।
२.	यूनिलुक्	४।१।९०	युवप्रत्यय का लुक्	ग्लुचुकायनिः।
३	लुक् स्त्रियाम्	४।१।१०९	यञ् प्रत्यय का लुक्	वतण्डी
४.	कठचर काल्लुक्	४।३।१०७	प्रोक्त प्रत्यय का लोप	कठाः चरकाः
५.	लवणाल्लुक्	४।४।२४	ठक् का लुक्	लवणः सूप , लवण शाकम्।
६.	श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वाति तिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक्	४।३।३४	जातार्थ प्रत्यय का लुक्	अनुराधः स्वाति·, बहुल·।

६. स्वरूप संज्ञा

महर्षि पाणिनि शब्द की स्वरूप- संज्ञा का विधान 'स्वं रूप शब्दस्याशब्दसज्ञा''[७२] सूत्र द्वारा करते है। सूत्र का अभिप्राय है कि व्याकरण शास्त्र की सज्ञा को छोडकर अन्यत्र शब्द का अपना स्वरूप लिया जाता है।[७३] वस्तुतः व्याकरणशास्त्र मे निरूपित सज्ञाओं को छोडकर शब्द अपने स्वरूप को ग्रहण करता है, न उस शब्द के अर्थ को और न उसके पर्यायवाची शब्द को ही। शब्द तथा अर्थ दो पृथक् वस्तु है। लोक में सामान्यतया 'अग्निम् आनय' कहने से अग्नि से बोध्य अर्थ लिया जाता है अर्थात् अर्थ से काम लिया जाता है। किन्तु व्याकरण शास्त्र मे यह सिद्धान्त नहीं है। तदनुसार 'अग्नेर्ढक्[७४] से 'ढक्' प्रत्यय अग्नि शब्द से होता है न कि अग्नि के अर्थ अङ्गारे अथवा कोयले से। सूत्र मे 'स्व रूप' अंश रहने के कारण अग्नि के पर्यायवाची वह्नि प्रभृति शब्दो का भी ग्रहण नहीं होता। इसके साथ ही व्याकरणशास्त्र मे सङ्केतित वृद्धि, गुण आदि सज्ञाओं मे यह नियम न लगने के कारण उन शब्दो से सज्ञी के रूप मे अर्थ का ग्रहण होता है, अन्यथा वृद्धि पद से 'आ' ऐ, औ का ग्रहण नहीं होता। ऐसा क्यों होता है? इसे जानने के लिए सूत्रस्थ पदों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शब्द का उच्चारण किसी अर्थ के तात्पर्य से किया जाता है। जिस अर्थ के तात्पर्य से जो शब्द उच्चरित होता है, वह उसका अपना अर्थ होता है। अत यहाँ ''स्व'' शब्द अर्थ का परिचायक है। 'रूप' शब्द शब्द के स्वरूप का बोधक है। इस तरह 'शब्दस्य' शब्द का 'स्वं' अर्थ एवं 'रूपम्' शब्दस्वरूप को सज्ञी जानना चाहिए। सूत्र मे 'शब्द' सज्ञा है। अशब्द संज्ञा पद मे 'शब्द' पद का अर्थ 'शब्दशास्त्र' है। विग्रह भी 'शब्दे' (शब्दशास्त्रे) सज्ञा इति शब्दसंज्ञा (सप्तमी तत्पुरुष) है। 'न शब्दसज्ञा इति अशब्दसंज्ञा' (नञ् तत्पुरुष)। इस प्रकार व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ विशिष्ट शब्द (शब्द और अर्थ दोनों) सज्ञी सिद्ध होते हैं। सूत्र में 'रूपम्' पद का ग्रहण, 'शब्द' पद से स्वरूप के समान अर्थ भी विवक्षित है, इसे ज्ञापित करने के लिए किया गया है। जिसके फलस्वरूप ''अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य''[७५] परिभाषा ज्ञापित होती है। इस प्रकार ज्ञापन होने के कारण ही अर्थवान् शब्द का ग्रहण होता है। इसीलिए 'काशे' शब्द के अवयव 'शे' अंश के अर्थवान् न होने के कारण प्रगृह्य सज्ञा नहीं होती। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार तो शब्द में अर्थ

की स्वाभाविक योग्यता होने के कारण शब्द स्वय अर्थ का बोध कराता है। 'अग्नेर्ढक' आदि सूत्रो से विहित प्रत्ययो के स्थलो पर अग्नि के अर्थ के साथ प्रत्यय का पौर्वापर्य सम्भव न होने से वहाँ शब्द का ही स्वतः ग्रहण हो जाता है, क्योकि प्रातिपादिक शब्दो से ही प्रत्ययो की स्थिति पर होती है। व्याकरण शास्त्र की सज्ञाओं के सङ्केतित अर्थ का बोध कराने मे प्रमाण ''दा धाघ्वदाप्' से होने वाली 'घु' सज्ञा है। घु को संज्ञा मानने के कारण उपर्युक्त सूत्र मे 'घु' धातु का ग्रहण नही होता, इसी प्रकार 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'' परिभाषा भी स्वत· न्याय-सिद्ध है। क्योकि शब्द विशिष्ट अर्थ की उपस्थिति स्वाभाविक है। इस प्रकार पतञ्जलि के अनुसार परिभाषा के ज्ञापनार्थ सूत्र की उपयोगिता अपेक्षित नहीं है।

वैय्याकरणो मे इस सूत्र की कोटि को लेकर पर्याप्त विप्रतिपत्ति है। कुछ लोग इसे परिभाषा सूत्र भी मानते है किन्तु महाभाष्यकार का स्पष्टमत है कि यह सज्ञा सूत्र है। इस स्वरूप सज्ञा का प्रतिपादन सम्भवत· लोकप्रसिद्ध होने के कारण ही प्रातिशाख्यादि ग्रन्थो मे उपलब्ध नही होता, किन्तु अर्वाचीन वैय्याकरणो ने प्राय· पाणिनि के अभिमत को ही स्वीकार किया है। अष्टाध्यायी मे स्वरूप संज्ञा का प्रयोग व्यापक रूप से किया गया है। जिनमें से दिड्मात्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	क्षत्राद् घ·	४।१।१३८	घ प्रत्यय	क्षत्रिय·
२.	उदश्वितोऽन्यतरस्याम्	४।२।१९	ठक् प्रत्यय	औदश्वित्कम्
३	शुकाद् घन्	४।२।२६	घन् प्रत्यय	शुक्रियम्
४	अग्नेर्ढक्	४।२।३३	ढक् प्रत्यय	आग्नेयः
५.	मुद्गादण्	४।४।२५	अण् प्रत्यय	मौद्ग ओदनः।

७. तपर संज्ञा

आचार्य पाणिनि उच्चरित वर्णों के द्वारा उससे अधिक का ग्रहण न हो, इस अपूर्व विधि के प्रतिपादनार्थ तपर संज्ञा का विधान ''तपरस्तत्कालस्य''[७६] सूत्र द्वारा करते हैं। प्रकृत सूत्र के

'तपर' शब्द में दो प्रकार से विग्रह किया जाता है। (१) त परो यस्मात् म तपरः (बहुव्रीहि) (२) तात्पर इति तपर (पञ्चमी तत्पुरुष)। ''स्वं रूप शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' सूत्र से 'स्वं रूप' तथा ''अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्यय·'' सूत्र से 'सवर्णस्य' का अनुवर्तन होता है। सूत्रस्थ 'तत्काल' पद भी विशिष्टार्थ का बोधक है। उसका विग्रह होगा–तस्यकाल इति तत्काल· (षष्ठी तत्पुरुष)। तत्काल इव कालो यस्य स इति तत्कालः (उत्तर पद लोपी बहुव्रीहि)। तदनुसार इन सब पदो को समाविष्ट करने पर सूत्रार्थ होता है कि तकार है पर जिससे, अथवा तकार से परे जो (स्वर) वर्ण, वह उच्चार्यमाण समानकाल (मात्रा) का ही बोधक होता है,[७७] अर्थात् ह्रस्व के साथ 'त्' हो तो केवल छह प्रकार के ह्रस्व एवं दीर्घ के साथ 'त्' हो तो केवल छह प्रकार के दीर्घ तथा प्लुत के साथ 'त्' हो तो केवल छह प्रकार के प्लुत का ही बोधक होगा। अत अपने उच्चारण काल वाले तपर चाहे भिन्न गुणवाला (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक, निरनुनासिक) हो तो भी वह उन सवर्णियो का ग्रहण करा देगा, किन्तु भिन्न उच्चारण काल वाले सवर्णी का नही। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि तपर शब्द वाच्य अपने स्वरूप तक ही सीमित रह जाते है। जैसे–''अदेङ्गुण·'' में 'अत्' पद में उच्चार्यमाण अकार केवल ह्रस्व अकार (एकमात्रिक) का बोधक होगा, क्योंकि 'अ' के बाद तकार है (त· परो यस्मात्) इसी प्रकार 'एङ्' (ए तथा ओ) केवल द्विमात्रिक एकार एव ओकार के बोधक होंगे, क्योकि सूत्र में 'एङ्' पद तकार के पश्चात् (पर) है (तात् पर इति तपर)।

तपर समकाल की संज्ञा होने से प्रकृत सूत्र को संज्ञा सूत्रों के क्रम मे रखा गया है। किन्तु विद्वानो के मध्य में इसकी कोटि के विषय में पर्याप्त विप्रतिपत्ति है, कुछ विद्वान् इसे परिभाषा सूत्र कहते है, तो अन्य विद्वान् इसे विधि अथवा नियम सूत्र भी मानते हैं। विधि सूत्र के सम्बन्ध मे काशिकाकार की यह युक्ति द्रष्टव्य है कि 'प्रकृत' सूत्र मे 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्यय·[७८]'' सूत्र से 'अण्' की अनुवृत्ति नहीं आती। अच् तथा अन्य तपरो का यही ग्रहणक शास्त्र है। 'अतो भिस ऐस्' इत्यादि स्थलों में ''अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्यय·'[७८] सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती क्योकि ये इसके उदाहरण है। काशिकाकार के ही शब्दों मे–

'विध्यर्थमिदम्। अणिति नानुर्वतते। अणामन्येषाम् च तपराणामिदमेव ग्रहणकशास्त्रम्।

अतोभिसऐस् इत्येवमादिषु पूर्वग्रहणकशास्त्रं न प्रवर्तत एव। अतपरा अणस्तस्यावकाश.।[७९]

आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती व्याकरणग्रन्थों में भी तपर निर्देश उपलब्ध होता है। ऋक्तन्त्र मे "निष्ठायामित्तादौ"[८०] और काशकृत्स्न व्याकरण मे "आतो यु " "ईदात. अनुबन्धे" इत्यादि सूत्रो मे तपर का प्रयोग मिलता है।[८१] अर्वाचीन वैय्याकरणो मे केवल शाकटायन (अभिनव) को छोडकर प्राय सभी ने बिना सज्ञा निर्देश किये 'तपर सज्ञा' का प्रयोग किया है। आचार्य शाकटायन ने दो सूत्रो द्वारा तपर सज्ञा का विधान किया है।[८२]

अष्टाध्यायी मे तपर सज्ञा के प्रयोग-प्रदेश अत्यधिक है, किन्तु यहाँ उनका दिङ्मात्र निर्देश किया जा रहा है।

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	अत इञ्	४।१।९५	इञ् प्रत्यय	दाक्षि., पाणिनि.
२.	अति इनिठनौ	५।२।११५	इनिठन् प्रत्यय	दण्डी, दण्डिक.।।
३.	दिव उत्	६।१।१३१	उकार अन्तादेश	सुद्युभ्याम्, सुद्युभि.।
४.	उद ईत्	६।४।१३९	ईत्व	उदीचः, उदीचा
५.	अतोभिस् ऐस्	७।१।९	ऐस्भाव	रामै., बालै.।

८. तदन्त संज्ञा

व्याकरण शास्त्र मे सर्वत्र केवल स्वरूपज्ञान से ही कार्य की पूर्ति सम्भव नहीं है, इसके लिए अन्य शब्द या शब्द समुदाय के भी सहयोग की आवश्यकता होती है। इसी तथ्य के प्रतिपादनार्थ आचार्य पाणिनि 'तदन्त' सज्ञा का विधान "येन विधिस्तदन्तस्य"[८३] सूत्र द्वारा करते है। सूत्र का अभिप्राय है-विशेषण तदन्त का बोधक होता है तथा अपने स्वरूप का भी।[८४] यह तदन्त-सज्ञा समास और प्रत्यय विधि को छोड़कर है, किन्तु यह निषेध 'उक्' इत्संज्ञक शब्द तथा वर्णग्रहण को छोड़कर माना जाय, अर्थात् इन स्थलों पर तदन्तविधि होती है। संज्ञा विधायक सूत्र मे 'येन' में करण-कारक में तृतीया है। करण को कर्ता के अधीन होने से परतन्त्र माना

जाता है। 'विधि·' से तात्पर्य विधान किया जाना है। (विधीयते इति विधि·) 'तदन्तस्य' में बहुव्रीहि समास है–स अन्ते यस्य सः, तस्य। ''स्व रूपम् शब्दस्याशब्दसज्ञा''[८५] सूत्र से 'स्व रूपं' की अनुवृत्ति आती है और दोनो पदो का षष्ठी विभक्ति मे विपरिणाम होकर 'स्वस्य रूपस्य– इस तरह का बोध होता है। इस प्रकार जिस (विशेषण) से विधि की जाय, वह विशेषण जिसके अन्त मे हो, वह विशेषणान्त समुदाय का बोधक होता है और अपने स्वरूप का भी। जैसे– 'एरच्'[८६] सूत्र से विहित अच् प्रत्यय न केवल 'इ' वर्ण से होता है, अपितु इवर्णान्त धातुओं से भी होता है, इसीलिए चय जय रूप सिद्ध होते है। इसी प्रकार ''ओरावश्यके''[८७] सूत्र द्वारा विहित 'ण्यत्' प्रत्यय न केवल उवर्ण अपितु उवर्णान्त धातुओं से भी होता है। इसीलिए 'अवश्यलाव्य' और 'अवश्यपाव्यम्' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते है, किन्तु यह तदन्त विधि समास और प्रत्ययविधि मे नहीं होती। इसीलिए 'कृष्णम् उपश्रितः' इत्यादि में द्वितीया समास और 'सौत्रनाडि·' इत्यादि स्थलो पर ''नडादिभ्य· फक्''[८८] से फक् प्रत्यय नहीं होता, अतिभवती इत्यादि स्थलो पर डीप्[८९] और दाक्षि· इत्यादि स्थलो पर 'इञ्'[९०] प्रत्यय 'उगित् सज्ञक शब्द और वर्ण ग्रहण के कारण हो जाता है।

कुछ वैय्याकरण इसे परिभाषासूत्र मानते हैं, किन्तु यह तदन्तरूप अपूर्व का विधायक होने के कारण सज्ञा सूत्र है। यह तदन्त संज्ञा आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती व्याकरणों मे भी समादृत थी। अथर्वप्रातिशाख्य में ''आकारान्ताच्च प्रत्ययलोपिनः''[९१], 'आख्यातंगकारान्तादेव'[९२] और 'अवर्णान्ताच्च'[९३] इत्यादि सूत्रो में तदन्तविधि का स्पष्ट प्रयोग उपलब्ध होता है। इसी प्रकार काशकृत्स्नव्याकरण मे ''ह्रस्वस्य तोऽन्तः पानुबन्धे''[९४] और 'नादन्तात्सेन''[९५] 'आतोय·''[९६] 'आत पुरिनि'[९७] इत्यादि सूत्रों में भी तदन्त विधि का प्रयोग समुपलब्ध होता है।

अर्वाचीन वैय्याकरणो में अधिकाश ने तदन्तविधि का विधान तो नहीं किया है किन्तु प्रयोग अवश्य किया है।

अष्टाध्यायी में तदन्तसज्ञा के प्रयोग प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	ओरावश्यके	३।१।१२५	ण्यत् प्रत्यय	लाव्यम्, अवश्यलाव्यम्
२.	एरच्	३।३।५६	अच् प्रत्यय	चय , जय , अय
३.	ऋदोरप्	३।३।५७	अप् प्रत्यय	कर., शर., यवः, लव.
४.	आदेऽच उपदेशेऽशिति	६।१।४५	आत्व	दधौ, ददौ, जग्लौ
५.	ऋत इद्वातोः	७।१।१००	इकारादेश	किरति, गिरति

६. अवसान संज्ञा

सूत्रकार शालातुरीय महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में "विरामोऽवसानम्"[६८] सूत्र से अवसान संज्ञा का विधान किया है। प्रकृत सूत्र मे 'अवसान' संज्ञा है और संज्ञी है 'विरामः'। काशिकाकार ने 'विराम' शब्द को दो रूपों में लिया है[६६]–(१) विरतिः विरमणम् वा विरामः"। अर्थात् रुक जाना (उच्चारण न होना) अर्थात् किसी वर्ण के बाद उच्चारण न होना)–वि √रम् + घञ् (भावे)। (२) विरम्यतेऽनेनति विरामः, जिससे उच्चारण ठहरे अर्थात् वह वर्ण जिस पर उच्चारण रुक जाय–वि √रम् + घञ् (करणे)। 'भाव' और 'करण' में 'घञ्' प्रत्यय करने पर दोनो अर्थों में थोडा अन्तर है। (१) भाव अर्थ मे घञ् करने पर उच्चार्यमाण अन्तिम अक्षर से आगे कोई वर्ण नहीं होता (२) करण अर्थ मे घञ् करने पर उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण ही अवसान संज्ञक हो जाता है। इस प्रकार उभय व्युत्पत्तियों के आधार पर सूत्रार्थ होगा–"उच्चार्यमाण अन्तिम अक्षर से आगे वर्णों का अभाव अथवा अन्तिम वर्ण अवसान संज्ञक होता है।[१००] जैसे– 'रामर्' की स्थिति मे रेफ अथवा रेफ के आगे वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होने के कारण "खरवसानयोर्विसर्जनीय·"[१०१] सूत्र से रेफ के स्थान पर विसर्ग होता है।

लोक मे अवसान शब्द के 'विराम' अर्थ में प्रसिद्ध होने के कारण वार्तिककार कात्यायन ने सूत्रकार द्वारा प्रतिपादित अवसान संज्ञा को व्यर्थ माना है।[१०२] भाष्यकार आचार्य पतञ्जलि[१०३] और प्रदीपकार आचार्य कैय्यट[१०४] भी वार्तिककार के मत का ही अनुमोदन करते है, किन्तु

न्यासकार ने युक्तयुक्तिपूर्वक सूत्रकार द्वारा प्रतिपादित अवसान संज्ञा की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्हीं के शब्दों मे ''नन्वत्र लोके प्रसिद्धरेवान्त्ये वर्णेऽवसानशब्दस्य सम्प्रत्ययो भविष्यति। प्रसिद्धो हि लोके अन्त्ये वर्णेऽवस्यतेः प्रयोग·। तथा हि-केनावस्यसीत्युक्ते वक्तारो वदन्ति। इकारेणोकारेण वेति। इकारादिवर्णेनावसान करोतीत्यर्थ·। तत· प्रदेश एवावसानग्रहणं कर्तव्यमिति नार्थ सञ्ज्ञासञ्ज्ञि प्रणयनेन। नैतदस्ति–अवपूर्वो हि स्यतिः परिसमाप्तावपि वर्तते। अवसितोवाद इति। अवगमेऽपि वर्तते... अवसितोऽर्थ इति। पराभवेऽपि वर्तते–''द्वयोर्विवादेऽवासितो देवदत्त '' इति। तत्र यदाय नारभ्यते तदावसानग्रहणे सन्देह· स्यात्, किमभिधानावसानशब्दस्य ग्रहणमिति? ''विरामोऽवसानम्'' इति तु सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धे क्रियमाणे परिसमाप्त्यादिरर्थो निवर्तितो भवति। एवमपि नार्थ· सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धेन। प्रदेश एव हि अन्तग्रहणं कर्तव्यम्....खरन्त्ययोरिति। एतदपि नास्ति। एवं हि सन्देहः स्यात्–किमन्त्यस्य वर्णस्य? उतपदस्य? आहोस्विद् वाक्यस्येति? तत्रान्त्यस्य विशेषणार्थ हि वर्णग्रहण कर्तव्य स्यात्। तस्मात् संज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धः कर्तव्य· स्यात्।''[१०५]

अवसानसंज्ञा 'अवस्यतेऽनेनेति अथवा अवस्यतेऽस्मिन्निति' व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है। अष्टाध्यायी से पूर्ववर्ती सस्कृतवाङ्मय में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य[१०६] और तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य[१०७] मे विना परिभाषा के ही अनेक स्थलों पर अवसान और अवसित शब्द प्रयुक्त हुआ है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य[१०८] और शौनकीय चतुराध्यायिका[१०९] में भी विना परिभाषा के अवसान शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों मे कातन्त्र व्याकरण[११०] चान्द्रव्याकरण[१११] जैनेन्द्र व्याकरण[११२] शाकटायन व्याकरण[११३] सिद्धहेमशब्दानुशासन[११४] एवं शब्दानुशासन[११५] में अवसान के स्थान पर विराम शब्द का प्रयोग किया गया है। सारस्वत व्याकरण[११६] में अवसान संज्ञा तथा बोपदेव ने 'फ' संज्ञा का प्रयोग किया है।[११७] सुपद्म व्याकरण[११८], प्रयोगरत्नमाला[११९] और हरिनामामृत[१२०] मे बिना किसी परिभाषा के 'विराम' अथवा अवसान संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

अष्टाध्यायी में प्रयुक्त अवसान संज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्नलिखित हैं–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	खखसानयोर्विसर्जनीय	८।३।१५	विसर्गकरना	राम विष्णु सस्कर्ता
२	वाऽवसाने	८।४।५६	झल् को चर् आदेश	रामात्, रामाद्
३.	अणोऽप्रगृहस्याऽनुनासिकः	८।४।५७	अनुनासिक	दधिं मधुं

१०. उपपद संज्ञा

अष्टाध्यायी में महर्षि पाणिनि ने "तत्रोपपद सप्तमीस्थम्"[१२१] सूत्र द्वारा उपपद सज्ञा का विधान किया है। सूत्र में "धातो "[१२२] इस अधिकार सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ती है। सूत्र का अभिप्राय होगा–'धातु के अधिकार मे जो सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पद हैं, उनकी उपपद संज्ञा होती है।[१२३] जैसे–"कर्मण्यण्"[१२४] सूत्र में "कर्मणि' यह सप्तम्यन्त पद है। 'कर्मणि' के वाच्य रूप मे स्थित 'कुम्भ' आदि के वाचक पद की उपपद संज्ञा होती है।

सूत्र मे सज्ञा है 'उपपदम्' और संज्ञी है "तत्र सप्तमीस्थम्'। 'उपपद' शब्द का अर्थ है–"समीपोच्चारितं पदम्" अर्थात् वह शब्द जो किसी से पूर्व उच्चरित किया गया हो। इस प्रकार यह अन्वर्थ संज्ञा है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी अधोलिखित शब्दो में उसकी अन्वर्थता का समर्थन किया है–

"उपपदमिति महती सज्ञा क्रियते। सज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्या संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम्–अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत। उपोच्चारिपदमुपपदमिति। यच्चात्रोपोच्चारि न तत् पदम्, यच्च पदं नतदुपोच्चारि। यावता चेदानीम् पदगन्धोऽस्ति पदविधिरयम् भवति। पदविधिश्च समर्थानाम् भवति। तत्रासामर्थ्यान्न भविष्यति"।[१२५]

यह आचार्य पाणिनि की स्वकल्पित संज्ञा है। एतदर्थ अष्टाध्यायी के पूर्णवर्ती प्रातिशाख्यादि ग्रन्थो मे यह संज्ञा उपलब्ध नहीं होती। अर्वाचीन वैय्याकरणों ने भी इस संज्ञा का प्रयोग प्राय· नहीं किया है। कातन्त्रव्याकरण में उपपद संज्ञा का प्रयोग 'सप्तम्युक्तपपदम्'[१२६] सूत्र में हुआ है।

अष्टाध्यायी मे उपपद सज्ञा का प्रयोग-प्रदेश अधोलिखित है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१	उपपदमतिङ्	२।२।१६	उपपदसमास	कुम्भकार ।
२.	कर्मण्यण्	३।२।१	अण् प्रत्यय	नगरकार ।
३	सुपिस्थ	३।२।४	कप् प्रत्यय	द्विप ।
४	करणेयज	३।२।८५	णिनि प्रत्यय	सोमयाजी
५.	कर्मण्यधिकरणे च	३।३।९३	कि प्रत्यय	जलधि ।

११. गोत्र संज्ञा

महर्षि पाणिनि अष्टाध्यायी में तद्धित प्रत्ययों के सौकर्य के लिए गोत्र संज्ञा का विधान 'अपत्यपौत्रप्रभृतिगोत्रम्'[१२७] सूत्र द्वारा किया है। इसका अभिप्राय है कि अपत्य (सन्तान) के रूप में विवक्षित पौत्रप्रभृति गोत्र सज्ञक होते है।[१२८] सूत्र में 'गोत्र' संज्ञा है और 'अपत्यंपौत्रप्रभृति' सज्ञी। सूत्र मे 'अपत्य' शब्द विशिष्ट अर्थ का बोधक है। कोशादि ग्रन्थों मे अपत्य शब्द साक्षात् अपने पुत्र और पुत्रियो के लिए व्यवहृत है, किन्तु· यहाँ अपत्य शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही पाणिनि को अभिप्रेत है। 'नपतन्ति पितरः अनेन' व्युत्पत्ति के आधार पर जो पितृगण का उद्धारक हो, उनके लिए भी अपत्य शब्द का व्यवहार किया जाता है। श्राद्धादि में तीन पुरुष पर्यन्त पूर्वजो को पिण्डदानादि के द्वारा तृप्त करने वाली पीढ़ी को भी अपत्य सज्ञक आचार्य पाणिनि ने माना है। महाभाष्यकार का भी यही मत है। इस विषय में बालमनोरमाकार ने विस्तृत रूप से पर्यालोचना की है। तदनुसार–

''सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयो'' इति कोशतः गोत्रशब्दस्य सन्ततिवाचकत्वात् पुत्रस्यापि गोत्रत्वे प्राप्ते पौत्रादिग्रहणादि· शास्त्रे पुत्रस्य न गोत्रत्वम्। ननु ''आत्मजस्तनयः सूनु· सुतः पुत्रः स्त्रियाम् त्वमी। आहुर्दुहितर सर्वेऽपत्यं तोकम् तयोः समे।।'' इत्यादि कोशात् अपत्यशब्दस्य पुत्र एव रूढत्वात् कथम् ''अपत्यं पौत्रप्रभृति' इति समानाधिकरण्यमिति चेत्' मैवम्–अपत्यशब्दो हि नात्मजपर्यायः, किन्तु पुत्रपौत्रादिसन्ततिपर्यायः, न पतन्ति नरके पितरो येन तदपत्यमिति ''पङ्क्तिविंशति'' इति सूत्रे व्युत्पादितत्वात्। तथा च पौत्रादयोऽपि पितामहादीनाम् नरकादुद्धर्तारः इति

तेषामप्यपत्यत्वमस्त्येवेति 'एकोगोत्रे' इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम्। एतच्च महाभारतादौ जरत्कार्वाद्युपाख्यानेषु प्रसिद्धमेव। कोशस्तु सूत्रभाष्यादिविरुद्धत्वात् उपेक्ष्य एव।''[129] गोत्र संज्ञा अन्वर्थक है। इसकी व्युत्पत्ति होगी–गूयते शब्द्यते पूर्वपुरुषादिरनेनेति गोत्रम् (√गुङ् धातु से करण अर्थ मे 'ष्ट्रन' प्रत्यय) अथवा गवति शब्दयति पूर्वपुरुषान् यत् तद् गोत्रम् (गु-धृ-पचि[130] इत्यादि सूत्र से √गुङ् धातु 'त्र' प्रत्यय)। गोत्र सज्ञा पाणिनि की स्वकल्पना प्रसूत सज्ञा है। न तो पूर्वाचार्यों ने और न ही पश्चवर्ती आचार्यो ने गोत्र सज्ञा का प्रयोग किया है। किन्तु पाणिनि द्वारा अभिप्रेत अर्थ को प्रकट करने के लिए पूर्वाचार्यो ने और पश्चवर्ती वैय्याकरणो ने वृद्ध सज्ञा का विधान किया है। पूर्वाचार्याभिमत वृद्ध सज्ञा को गोत्र अर्थ में आचार्य पाणिनि ने भी ''वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेष.''[131] सूत्र मे किया है। वैसे महर्षि पाणिनि ने वृद्ध संज्ञा का विधान गोत्र भिन्न अर्थ मे ही किया है[132]।

अष्टाध्यायी मे गोत्र सज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्न है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	गोत्रे कुंजादिभ्यश्च्फलञ्	४।१।६८	फञ् प्रत्यय	कौञ्जायन·।
२	नडादिभ्य· फक्	४।१।६६	फक् प्रत्यय	नाडायनः
३	गर्गादिभ्यो यञ्	४।१।१०५	यञ् प्रत्यय	गार्ग्यः वात्स्य·।
४.	अश्वादिभ्य फञ्	४।१।११०	फञ् प्रत्यय	आश्वायनः
५.	गोत्रचरणाद्वुञ्	४।३।१२६	वुञ् प्रत्यय	ग्लौचुकायनकम्।
६	कण्वादिभ्यो गोत्रे	४।२।१११	अण् प्रत्यय	काण्वाः।

१२. युवसंज्ञा

सूत्रकार ने पौत्रप्रभृति अपत्य की गोत्र सज्ञा करने के अनन्तर उन्हीं की 'युव' संज्ञा करने का विधान तीन सूत्रों द्वारा करते हैं। जिनमें प्रमुख सूत्र है–'जीवति तु वशे युवा'[133] सूत्र का अभिप्रायः 'वश्य' अर्थात् वश मे पिता आदि के जीवित रहते पौत्र प्रभृति की सन्तान अर्थात्

चतुर्थादि सतति की युव सज्ञा होती है।[१३४] सूत्र में 'युव' सज्ञा है, 'जीवति तु वंशे' पौत्रप्रभृति अपत्य सज्ञी है। वश्य शब्द सन्तति के नैरन्तर्य का सूचक है। युव सज्ञा विधायक दूसरा सूत्र है–''भ्रातरि च ज्यायसि''।[१३५] इस सूत्र मे 'जीवति' युवा, अपत्यम्, पौत्रप्रभृति का अनुवर्तन होगा। इसके बाद सूत्रार्थ होगा– बड़े भाई के जीवित रहने पर चतुर्थादि कनिष्ठ (कनिष्ठ पौत्रादि की सन्तति) की 'युव' सज्ञा होती है।[१३६] यह सज्ञा विधान पूर्व सूत्र से अप्राप्त अवस्था विशेष मे किया गया है। इसका अभिप्राय है कि बड़े भाई के जीवित रहते (पित्रादिकों के मर जाने पर भी) पौत्र-प्रभृति का जो अपत्य छोटा भाई–उसकी भी युव सज्ञा हो। इस सज्ञा के सन्दर्भ मे तीसरा सूत्र ''वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति''[१३७] विकल्प से युव सज्ञा का विधान करता है। सूत्र का अभिप्राय है कि भ्राता से भिन्न अन्य कोई वृद्ध सपिण्ड जीवित हो तो पौत्रादि के जीवित सन्तति की विकल्प से युव सज्ञा होती है।[१३८] सूत्र मे एक 'जीवति' पद अध्याहृत अपत्य का विशेषण है और दूसरा सपिण्ड का। दोनो के उत्कर्ष का बोधक 'स्थविरतरे' पद का 'तरप्' प्रत्यय है। भाव यह है कि स्थान एव वय. क्रम से उत्कृष्ट पितृव्य, मातामह, एव भ्राता जीवित रहें तो पौत्रादि के अपत्य की पाक्षिक युव सज्ञा हो। सूत्र मे आये हुए सपिण्ड से अभिप्राय सात पीढ़ियो से है। ये सात पीढ़ी है–स्वय, पिता, पितामह, प्रपितामह, प्रपितामह के पिता, पितामह, प्रपितामह। युवसज्ञा विधायक चौथा सूत्र है, ''वृद्धस्य च पूजायाम्''[१३९]। अर्थात् पूजार्थक गोत्र की ही युव सज्ञा होती है।[१४०] सूत्र मे आये हुए बृद्ध पद का अभिप्राय गोत्र है। जैसे–तत्र भवान् गार्ग्यायण.। सूत्र मे पूजा पद के सन्निवेश के कारण ''गार्ग्यः'' की युव संज्ञा नहीं हुई। वस्तुत युव सज्ञको को अल्पवयस्क होने एवं वृद्धों के अधीन होने से सुखी रहने के कारण उनमे आदर की भावना सूत्र मे प्रदर्शित की गयी है। इस सूत्र को भट्टोर्जा दीक्षित ने वार्तिक माना है।

यह संज्ञा ''यौति पित्रादिभिः संसर्गं करोति इति युवा (मिश्रणार्थक 'यु' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय) व्युत्पत्ति के आधार पर अन्वर्थक है। प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों मे इस सज्ञा का उल्लेख न होने के कारण ज्ञात होता है कि यह पाणिनि द्वारा कल्पित सज्ञा है। पाणिनि के पश्चवर्ती जैनेन्द्र व्याकरण,[१४१] शाकटायन व्याकरण[१४२] और सिद्धहेमशब्दानुशासन[१४३] में 'युव' सज्ञा का विधान प्राप्त होता है।

अष्टाध्यायी मे युवसञ्ज्ञा के प्रयोग प्रदेश निम्न है–

क्र०सं०	सूत्र	सूत्र सं०	कार्य	उदाहरण
१.	पैलादिभ्यश्च	२।४।५६	युव प्रत्यय का लुक्	पैलः।
२.	यूनि लुक्	४।१।९०	युव प्रत्यय का लुक्	ग्लौचुकायन ।
३	हरितादिभ्योऽञ·	४।१।१००	फक् प्रत्यय	हारितायन ।
४.	व्य-क्षत्रियार्षञितोयूनि लुगणिञो	२।४।५८	युवप्रत्यय का लुक्	कौरव्यः पिता। वाशिष्ठ पिता।

उद्धरणानुक्रमणिका

६०

१ अष्टा०—१।१।४४

२. काशिकावृत्ति— १।१।४४

३. महाभाष्य— १।१।४४

४. प्राप्तविभाषायां तु नास्योपयोग:, तत्र भवनाशस्य प्राप्तत्वेन विघ्यनर्हत्वात्। अप्राप्तविभाषायामपि न तस्योपयोग:, तत्र अभवनाशस्य सिद्धत्वेन विघ्यनर्हत्वात्।— सि०कौ०बा०मनो०— १।१।४४

५. अष्टा०— ६।१।३०

६ अष्टा०— ६।१।१६

७. अष्टा०— १।२।५

८. अष्टा०— ३।३।१०३

९. निरुक्त— १०।२।१७

१० वेति वैभाषिक:। तै०प्रा०— २।१०।७

११. म०भा०प्रदीप— २।३।१७

१२. विभाषाग्रे प्रथमपूर्वेषु। का०व्या०— ४।६।४३६

१३. विभाषाऽन्यत्र। जैनेन्द्रव्या०— ४।३।१०२

१४ पयसस्तु विभाषया। सारस्वतव्या०, उत्तरार्द्ध— ३१।१७

१५ स्वार्थशब्दयोगे विभाषा। सु०व्या०– ३।१।१२०

१६ प्र०र०मा०– १।८४

१७ ह०ना०व्या०-सूत्र ६४४

१८. विभाषयान्यथाभावात् सर्वं सिद्धेच्च वैदिकम्। ना०पु०– २।१७।१६

१६ अष्टा०– १।१।६०

२० सि०कौ०– १।१।६०

२१. काशिकावृत्ति– १।१।६०

२२ न्यास– १।१।६०

२३. म०भा०प्रदीप– १।१।६०

२४. निरुक्त– २।२।६ इत्यादि

२५. अदर्शन प्रत्ययस्य नाम सम्पद्यते। गो०ब्रा०– १।१।२६

२६. नकारस्य लोपरेफोष्मभावे। ऋ०प्रा०– ४।८० इत्यादि मे

२७. वृहद्देवता– २।११६

२८. विनाशो लोपः। तै०प्रा०– १।१।५८

२६. वर्णस्यादर्शन लोप.। वा०प्रा० १।१४१

३०. लोप उदः स्थास्तम्भो. सकारस्य। शौ०च०आ०– २।१८ इत्यादि

३१. सवर्णलोपोऽन्तोदात्तं भवति। अ०प्रा०– १।२।१५ इत्यादि

लुप्तकारणान्यकारणानि वा। अ०प्रा०– १।१।२४

३२. अनुसङ्गस्य लोप । का०क-व्या०– सूत्र ८ इत्यादि में

३३ ना०शा०– १५।२६

३४ वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।

आप चैव हलन्ताना यथा वाचा निशा दिशा।। सि०कौ० अव्यय प्रकरण

३५ तथापिशालीयश्लोक ।

आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।

आदेशस्तु प्रसङ्गेन लोप सर्वाकर्षणात्।।'' का०व्या०पृ०– ४७६ पर उद्धृत।

३६. अ०पु०– ३५५।१

३७. ना०पु०– २।१७।८७

३८. का०व्या०– १।२।८४

३९. अनोलोप । चा०व्या०– २।२।७६ इत्यादि में।

४० अदर्शन लोपः। स०क०भ०– १।१।८८

४१. नाश खम्। जै०व्या०– १।१।६१

४२. वर्णादर्शनं लोप । सा०व्या०– १।१०

४३. मु०बो०व्या० – सूत्र– २६ इत्यादि में

४४. एडोतो लोप.। सु०व्या०– १।२।२०

४५. प्राग्लोप शकन्ध्वादेर्व्यवस्थया। प्र०र०मा०– १।४१ इत्यादि में

४६. लोपो हर । ह०ना०व्या०– सूत्र– ४१

४७ अष्टा०– १।१।६१

४८. सि०कौ०– १।१।६१

४९. अष्टा०– १।१।६१

५०. सि०कौ०– १।१।६१

५१. नु लुमताङ्गस्य। अष्टा० १।१।६३

५२ लुबन्यः। ऋ०त०– ३।३।३

५३. द्विद्वितीयो लुप्। सामतन्त्र– ४।१०।६ इत्यादि मे

५४. अनतो लुप्। सि०हे०श०– ३।२।६

५५ अत्रां य्वोर्लुब्वा, वो लुप्फेऽधौ। मु०बो०व्या०– सूत्र– ३७, ११८

५६ अष्टा– १।१।६१

५७ सि०कौ०– १।१।६१

५८ अष्टा०– ३।३।६४ वार्तिक

५९. पदमञ्जरी– ५।२।३७

६०. अदादीनाम्नो लुक्। का०कृ०व्या० सू०– ६७ इत्यादि।

६१. एदोद्भ्याम् अकारो लुगभिनिहित.। वा०प्रा०– १।११४ आदि।

६२ कतेश्च जश्शसोर्लुक्। का०त०व्या०– २।१।७६

६३. दाधागाति स्थाभूपो तडि लुक्। चा०व्या०– १।१।६२

६४. हृवदादेः श्लुब् लुक्। शा०व्या०– ४।३।२१

६५. प्रत्ययस्य श्लुक्श्लुलुपः। स०कं०भ०– १।१।८६

६६ कृत्येऽवश्यमो लुक्। सि०हे०श०– ३।२।१३८

६७. नपुसकात् स्यमोर्लुक्। सारस्वतव्या०पूर्वार्द्ध– ६।७

६८ डति सख्याष्णो जश्शसोर्लुक् स्यमोलुक्। मु०बो०–सू०– १३१

६९. न लुब्लुकालुप्तेप्रत्ययेतल्लक्षण कार्यमसङ्गत्य। सु०व्या०– १।१।३३ इत्यादि मे

७०. भुवो न गोविन्दः सिलुकि। ह०ना०व्या०– सू०– ४२० इत्यादि

७१. ....लुग्लोपेन च द्विधा। अ०पु० ३५५।१

७२. अष्टा०– १।१।६८

७३. सि०कौ०– १।१।६८

७४. अष्टा०– ४।२।३३

७५. परिभाषेन्दुशेखर– १।१४

७६. अष्टा०– १।१।७०

७७ सि०कौ०– १।१।७०

७८. अष्टा०– १।१।६६

७९. का०वृ०– १।१।७०

८०. ऋक्तन्त्र– ५।२।१०

८१ काश०व्याक०– २७, २८, ५४, ५५, ६४, ६७, १०१, १०४ एव १०५।

८२. शाकटा व्या०– १।१।३-४

८३. अष्टा०– १।१।७२

८४. सि०कौ०– १।१।७२

८५. अष्टा०– १।१।६८

८६. अष्टा०– ३।३।५६

८७. अष्टा०– ३।१।१२५

८८. अष्टा०– ४।१।९६

८९. उगितश्च। अष्टा०– ४।१।६

९० अत इञ्। अष्टा०– ४।१।९५

९१. अ०प्रा०– २।२।४

९२ अ०प्रा०– २।२।५

९३. अ०प्रा०– १।१।७

९४. का०कृ०व्या०– सू०– ३६

९५ का०कृ०व्या०– सू०– १२२

९६ का०कृ०व्या०– सू०– २७

९७. का०कृ०व्या०– सू० ५५

९८. अष्टा०– १।४।११०

९९ विरतिर्विराम॰, विरम्यतेऽनेनेति वा विरामः, सोऽवसानसञ्ज्ञो भवति। का०वृ०- १।४।११०

१००. सि०कौ०–१।४।११०

१०१. अष्टा०–८।३।१५

१०२ सहितावसानयो लोकविदितत्वात् सिद्धम्। मा०भा०–१।४।११० वा०-८

१०३. म०भा०– १।४।११०

१०४. म०भा०प्रदीप– १।४।११०

१०५. न्यास– १।४।११०

१०६. तस्मादन्यमवसाने तृतीयं गार्ग्य स्पर्शम्। ऋ०प्रा०– १।१५ आदि नावसितम्। ऋ०प्रा०– ६।७ आदि मे।

१०७. अवसाने र विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः। तै०प्रा०– २।२।१५ अवसित पूर्वस्य। तै०प्रा०– २।६।३

१०८. परावसाने। वा०प्रा०– ३।३१ इत्यादि में

१०९ शौ०च०आ०– १।७०

११०. वा विरामे। का०व्या०– ३।२०४

१११ विरामे विसर्जनीय॰। चा०व्या०– ६।४।२० इत्यादि

११२. विरामे विसर्जनीयः। जै०व्या०– ३।४।१६ इत्यादि

११३ शा०व्या०– १।१६८

११४ विरामे वा। सि०हे०श०– १।३।५१

११५ विरामे वा। प्रथम तृतीयस्य। शब्दा– १।२।२०

११६ वाऽवसाने। सा०व्या०पू०– १०।७

११७ मु०बो०व्या०– सू०– ८५

११८ वाऽवसाने द्वित्वञ्च। सु०व्या०– १।२।५७ इत्यादि मे

११९. प्र०र०मा०– २।२०

१२०. विष्णुजनस्य द्वित्वं वा विरामे। ह०ना०व्या०– सू०– २४५

१२१. अष्टा०– ३।१।९२

१२२ अष्टा०– ३।१।९१

१२३. सि०कौ०– ३।१।९२

१२४. अष्टा०– ३।२।१

१२५. महाभाष्य– ३।१।९२

१२६. का०व्या०– ४।२।२

१२७ अष्टा०– ४।१।१६२

१२८. सि०कौ०– ४।१।१६२

१२९. बा०म०– ४।१।१६२

१३०. उणादिसूत्र– ४।१६६

१३१. अष्टा०– १।२।६५

१३२. अष्टा०– १।१।७३–७५

१३३. अष्टाध्यायी– ४।१।१६३

१३४ सिद्धा०कौ०– ४।१।१६३

१३५. अष्टाध्यायी– ४।१।१६४

१३६ सि०कौ०– ४।१।१६४

१३७ अष्टा०– ४।१।१६५

१३८ सि०कौ०– ४।१।१६५

१३९ अष्टा०– ४।१।१६६

१४०. सि०कौ०– ४।१।१६६

१४१ जैनेन्द्र व्या०– ३।१।११५–११८

१४२. शाक०व्या०– १।३।१४–१६

१४३ सि०हे०श०– ६।१।३–५
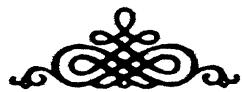
नवम अध्याय

उपसंहार

आचार्य पाणिनि क्रान्तदर्शी महर्षि थे। उन्होने अपने समय तक प्रचलित सस्कृत-व्याकरण का गहन आलोडन करके व्याकरण का जो भव्यराजप्रासाद खड़ा किया, उसकी चकाचौध से आज भी विद्वज्जनो की आँखे विस्फारित ही रह जाती है। पाणिनि की गति केवल शब्दशास्त्र मे ही नही अपितु अन्य शास्त्रों मे भी निर्बाध रूप से थी। पाणिनि की विलक्षण प्रतिभा के अतिशयित प्रशंसक है–महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि। उन्होने महर्षि पाणिनि की प्रशसा करते हुए कहा–

''प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्य वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।[१]

आचार्य पतञ्जलि एक अन्य प्रसङ्ग मे पाणिनि की श्लाघा करते हुए कहते है– ''सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थक स्यात्।''[२] यही नहीं, काशिकाकार जयादित्य ने भी ''महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य''[३] कहकर महर्षि पाणिनि की सूक्ष्मदृष्टि की प्रशसा की है। वस्तुत. अशेषशेमुषीसम्पन्न महर्षि पाणिनि ने वैदिक और लौकिक संस्कृतभाषा का जो सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बनाया, वह आज भी प्रकाशस्तम्भ के रूप मे उनकी अक्षय कीर्ति को दिग्दिगन्त मे फैला रहा है।

महर्षि पाणिनि ने व्याकरण शास्त्र का प्रणयन करते हुए कुछ तथ्य पूर्वाचार्यों से परिगृहीत किये तो कुछ उन्होने स्वत उद्भावित किया। शास्त्रीय कार्य सम्पादन के निमित्त संज्ञा सूत्रो के प्रणयन के सन्दर्भ में भी उन्होने इसी सरणि का अवलम्बन किया। आचार्य पाणिनि ने समस्त अष्टाध्यायी मे एक सौ सत्तानवे (१९७) सूत्रो द्वारा इक्यानवे (९१) संज्ञाओं का प्रतिपादन किया है, जिसमे उन्होंने ८७ सज्ञाओं को नाम्ना परिकीर्तित किया है और स्वप्रतिपादित चार सज्ञाओं को कोई नाम नही दिया, किन्तु इनसे संज्ञियों का बोध होता है। ये सूत्र है–'स्वरूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' 'तपरस्तत्कालस्य' 'आदिरन्त्येनसहेता' और 'येनविधिस्तदन्तस्य'। संज्ञाओं का द्विधा विभाजन कर्तृत्त्व की दृष्टि से किया जा सकता है। जो संज्ञाएँ आचार्य पाणिनि के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध

बीस-सूत्रो से किया गया है। शेष अन्य सञ्ज्ञाए पृथक्-पृथक् एक-एक सूत्रो द्वारा प्रतिपादित की गयी है।

पञ्चम भाग मे कारक/विभक्तियो से सम्बन्धित सञ्ज्ञा सूत्रो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के सूत्रो की सङ्ख्या इक्यावन तथा इनके द्वारा प्रतिपादित सञ्ज्ञाओं की सङ्ख्या नव है। इन सञ्ज्ञाओं मे कर्ता-दो, कर्म-दश, करण-दो, सम्प्रदान-दश, अपादान-आठ, तथा कर्मप्रवचनीय सञ्ज्ञा का प्रतिपादन सोलह सूत्रो द्वारा किया गया है। इनमे कारक हेतु और अधिकरण सञ्ज्ञाएँ केवल एक-एक सूत्रो द्वारा प्रतिपादित है।

इन सञ्ज्ञा सूत्रो के अतिरिक्त कुछ सञ्ज्ञा सूत्र ऐसे भी है, जिनके द्वारा प्रतिपादित सञ्ज्ञाओं का शास्त्रीय कार्य सम्पादन मे अत्यधिक महत्त्व है, किन्तु वे उपर्युक्त कोटियो मे नहीं आती। उनके विषय भिन्न-भिन्न है, ऐसे समस्त सञ्ज्ञा सूत्रो का सङ्ग्रहण प्रकीर्ण-खण्ड के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार के सूत्रो की सङ्ख्या चतुर्दश एव सञ्ज्ञाओं की सङ्ख्याद्वादश है। इनमे केवल 'युव सञ्ज्ञा' का विधान पाँच-सूत्रो से किया गया है, तथा लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञाओं को एक ही सूत्र मे कर दिया गया है।

व्याकरण शास्त्र मे लाघव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ''अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैय्याकरणा·'' की प्रख्या इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। महिर्षि पाणिनि समस्त वैय्याकरण निकाय के शिरोभूषण है। अतः लाघव का पक्षधर होना उनके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। सञ्ज्ञा सूत्रो की समीक्षा से ज्ञात होता है कि महर्षि पाणिनि ने अधिकाश महासञ्ज्ञाएँ पूर्वाचार्य परम्परा से ग्रहण की है। जो वैय्याकरण सम्प्रदाय में सर्वमान्य-सी थीं। उनके द्वारा कल्पित सञ्ज्ञाएँ तो घु, घ जैसी है, जो अत्यन्त लाघव प्रदर्शित करती है। वस्तुतः शास्त्रकार विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिए अल्पीयसी सज्ञा का विधान कर देता है, और फिर शास्त्र मे जहा-जहा उस विपुल अर्थ की आवश्यकता होती है, वहाँ-वहाँ उस छोटे शब्द से शास्त्रकार सरलता से कार्य सम्पादित कर लेता है। महर्षि पाणिनि की घि, भ, प्रभृति सञ्ज्ञाए इसी कोटि की है। किस अर्थ को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार किस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग करता है, इसके लिए कोई नियम नही है, यह शास्त्रकार का अपना विशेषाधिकार है। महर्षि पाणिनि भी इस तथ्य के अपवाद नहीं है।

प्रकृत शोध-प्रबन्ध मे यह जानने का प्रयास किया गया है कि महर्षि पाणिनि द्वारा विभिन्न सञ्ज्ञा सूत्रो से प्रतिपादित सञ्ज्ञाओं का मूल उत्स क्या है? उनकी परम्परा क्या है? उनका स्वरूप क्या है? और उनका शास्त्रीय प्रयोजन क्या है। पाणिनि के पश्चवर्ती वैय्याकरणो ने पाणिनि की सञ्ज्ञाओं को किस रूप मे ग्रहण किया है? यह भी प्रस्तुत करने का प्रयास मेरे द्वारा किया गया है। इस सन्दर्भ मे मेरा प्रयास कितना सफल है? यह तो सुधी जनों के विचार का विषय तो होगा ही, किन्तु मेरा भी विश्वास है कि यह व्याकरण शास्त्र के जिज्ञासुओं को कुछ सन्तुष्ट अवश्य करेगा।

उद्धरणानुक्रमणिका

१. महाभाष्य– १।१।१

२. महाभाष्य– ६।१।७७

३. का०वृ०– ४।२।७४

अधीतग्रन्थमाला

क्रमाङ्क	ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशक	वर्ष
१	अग्निपुराण	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा स०सीरी आफिस, वाराणसी	१६६६
२	अथर्ववेद प्रातिशाख्य	डॉ० सूर्यकान्त	मेहर चन्द लक्ष्मण दास लाहौर	१६३४
३	अष्टाध्यायीसूत्रपाठ	प्रो० गोपाल दत्त पाण्डेय	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी	१६६७
४	ऋक्तन्त्र	डॉ० सूर्यकान्त	मेहरचन्द लक्ष्मणदास दिल्ली	१६७०
५	ऋग्वेद प्रातिशाख्य	डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी	१६६२
६	ईशावास्योपनिषद्	रामचन्द्र शर्मा	सनातन धर्म प्रेस मुरादाबाद	१६२६
७	ऐतरेय आरण्यक	बालशास्त्री फड़के	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली	स० १६८८
८	ऐतरेय ब्राह्मण	काशीनाथ शास्त्री	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली	सं० १६३०
६.	कविकल्पद्रुम	बोपदेव	डक्कन कालेज, पूना	१६५४

१० कातन्त्रव्याकरण (दुर्ग सिह वृत्ति सहित)	श्रीशर्ववर्मदेव	भारतीय विद्याप्रकाशन वाराणसी	१९८७
११. काशकृत्स्न धातु व्याख्यान	युधिष्ठिर मीमासक	भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर	स० २०२२
१२ काशकृत्स्न व्याकरण	युधिष्ठिर मीमांसक	,,	सं० २०२२
१३. काशिका (वृत्ति)	ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	चौ०सं०सी०आ० वाराणसी	१९५२
१४ गोपथ ब्राह्मण	प्रज्ञादेवी/मेधादेवी	अथर्ववेद कार्यालय इलाहाबाद	१९७७
१५ चान्द्र व्याकरण	चन्द्रगोमी	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर	१९६७
१६. चित्र निबन्धावलिः	रघुनाथ शर्मा	मोतीलाल बनारसी दास वाराणसी	१९६४
१७ छान्दोग्योपनिषद्		गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० २०२३
१८. जैनेन्द्र व्याकरण	देवनन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी	१९५६
१९ तत्त्वबोधिनी	ज्ञानेन्द्र सरस्वती	खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई	सं० २०३१
२०. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य	वे० वेङ्कटरामन शर्मा	पाणिनि, दरियागंज दिल्ली	१९८२
२१ तैत्तिरीय प्रातिशाख्य त्रिभाष्यरत्न	,,	गणेश प्रेस कलकत्ता	१८७२
२२ नाट्यशास्त्र	भरतमुनि	चौ०स०सी०आ०, वाराणसी	सं० २०३७

२३ नारदपुराण	श्रीराम शर्मा	सस्कृति संस्थान, बरेली	
२४ निरुक्त	यास्कमुनि	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	१९३०
२५ न्यास	जिनेन्द्र बुद्धि	प्राच्य भारती प्रकाशन,	
	वाराणसी	१९६५	
२६ पदमञ्जरी	हरदत्त	''	१९५५
२७ परमलघुमञ्जूषा	नागेश भट्ट	चौ०सं०सी०आ०, वाराणसी	१९७४
२८. परिभाषेन्दुशेखर	नागेश भट्ट	''	२०००
२९. पाणिनीय शिक्षा	महर्षि पाणिनि	''	२००१
३० पिङ्गलसूत्र	अध्योध्यानाथ शर्मा	''	१९३९
३१ प्रयोगरत्नमाला	पुरुषोत्तम विद्यावागीश	असम सस्कृत बोर्ड	१९७३
		गोहाटी	
३२ प्रौढ़ मनोरमा	भट्टोजिदीक्षित	चौखम्भा प्रकाशन	
३३. बालमनोरमा	वासुदेव दीक्षित	चौखम्भा सस्कृत सीरीज	
३४. बृहद्देवता	रामकुमार राय	चौखम्भा सस्कृत सीरीज,	१९६३
३५ महाभाष्य (नवाह्निक)	महर्षि पतञ्जलि	चौखम्भा	
३६ महाभाष्य (प्रदीप-उद्योत)	महर्षि पतञ्जलि	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई,	१९३५
३७ मनुस्मृति	हरगोविन्द शास्त्री	चौखम्भा संस्कृत भवन,	१९७१
३८ मुग्धबोधव्याकरण	आचार्य बोपदेव	चौखम्भा विद्याभवन,	१९६४
३९ लघुशब्देन्दुशेखर	नागेश भट्ट	चौखम्भा संस्कृत संस्थान	
४०. वाक्यपदीय	भर्तृहरि	सम्पूर्णानन्द संस्कृत	
		विश्वविद्यालय	१९८०
४१ वाजसनेयि प्रातिशाख्य	डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा	ज्ञान प्रकाश प्रतिष्ठान,	

	(उव्वट भाष्य)		वाराणसी,	१९५०
४२	वैय्याकरणभूषणसार	कौण्डभट्ट	चौखम्भा विद्याभवन	
४३	वैय्याकरण सिद्धान्त मञ्जूषा	नागेश भट्ट	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,	१९७७
४४	शब्दशक्तिप्रकाशिका	जगदीश तर्कालङ्कार	चौखम्भा विद्याभवन	
४५	शब्दानुशासन	मलयगिरि	ल०भ०द०भ० भारतीय सस्कृत विद्यामन्दिर, अहमदाबाद,	१९६७
४६.	शाकटायन व्याकरण	शाकटायन अभिनव	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी,	१९७१
४७.	शिक्षासूत्राणि	युधिष्ठिर मीमांसक	भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर,	सम्वत् २०२४
४८	शौनकीयाचतुराध्यायिका	विलियम डी० ह्विटनी	चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी,	१९६२
४९	श्रीमत्भगवद्गीता	वेदव्यास	गीताप्रेस, गोरखपुर,	सं० २०४०
५०.	सिद्धहेमशब्दानुशासन	हेमचन्द्रसूरि	श्री वि० ला० सू० ज्ञानमन्दिर, सौराष्ट्र,	सं०-२००८
५१	सरस्वती कण्ठाभरण	भोजदेव	मद्रास विश्वविद्यालय,	१९३७ ई०
५२	सक्षिप्तसार व्याकरण	क्रनदीश्वर	न्यू आर्य मिशन, कलकत्ता,	१९०१ ई०
५३	सस्कृतव्याकरण शास्त्र का इतिहास	युधिष्ठिर मीमासक	रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत,	सं०-२०४१
५४	सामतन्त्र	ए०एम० रामनाथ दीक्षित	का०हि०वि०, वाराणसी	१९९१

५५	सारस्वत व्याकरण	अनुभूतिस्वरूप	खेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई	सं०-१६६८
५६	सारस्वतव्याकरण	अनुभूतिस्वरूप	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	१६०५ ई०
५७	सारस्वतव्याकरण	अनुभूतिस्वरूप	चौखम्भा सस्कृत सस्थान	२०२८
५८	सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजिदीक्षित	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन,	१६६६ ई०
५६	सुपद्मव्याकरण	पद्मनाभदत्त	भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी,	१६८६ ई०
६०	सुबोधिनी	जयकृष्ण	खेमराज श्रीकृष्णदास,	स०-२०३१
६१	हरिनामामृतव्याकरण	जीवगोस्वामी	श्री चैतन्य रिसर्च इन्स्टीच्यूट, कलकत्ता,	१६७२ ई०